[illegible]

—:लेखक:—

श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ
महाविद्यालय, ज्वालापुर

प्रथम बार प्रकाशित : वि० सं० 1942
ई० सं० 1935

—: प्रमुख वितरक :—
तुलसी साहित्य सदन
[illegible]
[illegible]

❀ ॐ तत्सत् ❀

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—भारत सावित्री	... ...	१—२
२—सम्पादक और लोकसेवा	... ...	३—४
३—स्वस्तिपन्थाः अथवा कल्याणमार्ग	...	५—८
४—वेद-विमर्श	... ...	९—१४
५—प्रथम वेदसम्मेलन वृन्दावन में भाषण	...	१५—१८
६—द्वितीय वेदसम्मेलन वृन्दावन में भाषण	...	१९—३२
७—ज्वा० म० जयन्ती के वेदसम्मेलन में भाषण		३३—४५
८—वि० सा० आ० जयन्ती-वेदसम्मेलन में भाषण		४६—६०
९—वेदान्त-विमर्श	... ...	६१—७९
१०—चलो अनन्त की ओर	... ...	८०—८३
११—गान्धी-गीता [समालोचना]	... ...	८४—१०४
१२—वर्ण-व्यवस्था	... ...	१०५—१२९
१३—वदोद्यान की सैर	... ...	१३०—१३४
१४—गुरुकुल पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि व सन्धान		१३५—१३९
१५—नवसस्येष्टि	... ...	१४०—१४२
१६—हिमालय ...	... ...	१४३—१४५
१७—हिमालय के उच्च शिखर से ❀	...	१४६—१५८
१८—भक्ति की टटोल में ❀	... ...	१५९—१६७
१९—प्राचीन व नवीन सभ्यता	... ...	१६८—१७१
२०—लोक-परलोक	... ...	१७२—१७४
२१—विश्व-दर्शन	... ...	१७५—१७६
२२—वेदनिधि दयानन्द	... ...	१७७—१७९
२३—दयानन्द निर्वाण	... ...	१८०—१८२

विषय			पृष्ठ
२४—स्वर्गीय श्री० १०८ स्वा० शुद्धबोधतीर्थ	...		१८३-१८७
२५—दयानन्द-युग	...	...	१८८-१९२
२६—समाज का सङ्गठन पूर्ण कब होगा ?	...		१९३-१९६
२७—अजमेर की स्मृतियाँ	...	...	१९७-१९९
२८—जागरण	...	...	२००-२०३
२९—नवयुवकों की नासमझी	...	...	२०४-२०७
३०—श्री द्विवेदीजी के साथ डेढ़ मास	...		२०८-२११
३१—आर्यसमाज और प्राचीन संस्कृत-शिक्षा	...		२१२-२१९
३२—साम्यवाद	...	...	२२०-२२२
३३—क्या आर्यसमाज में विवेक है ?			२२३-२२५
३४—क्या आर्यसमाज में सत्याग्रह की शक्ति है ?			२२६-२२९
३५—भाग्यनगर का चक्र	...	...	२३०-२३४
३६—आर्यसमाज और सत्याग्रह	...	...	२३५-२३६
३७—यदि सत्याग्रह हो— ❀	..	...	२३७-२३८
३८—आर्यसमाज की मनोवृत्ति	...	...	२३९-२४२
३९—ग्राम-सङ्गठन	...	...	२४३-२४८
४०—कांग्रेस या नौकरशाही ?	...	...	२४९-२५१
४१—मसूरी का पाप-पुण्य	...	...	२५२-२५५
४२—हरिजन-मीमांसा	...	...	२५६-२५८
४३—स्वामी श्रद्धानन्द के संस्मरण	...	...	२५९-२६२
४४—सार्वजनिक जीवन	...	...	२६३-२७१
४५—पुनश्च हरिःओ३म्	...	...	२७२-२७३
४६—सर सप्रू और ह्वाइटपेपर	...	...	२७४-२७५
४७—महात्माजी का उपवास	...	...	२७६-२७७
४८—हृषीकेश के दो टुकड़े	...	...	२७८-२७९
४९—भ्रम का भूत	...	...	२८०-२८२

विषय			पृष्ठ
५०—मेरी फुलवाड़ी	...	...	२८३–२९६
५१—विद्या और ब्राह्मण	...	...	२९७–२९९
५२—मृत्युञ्जय दयानन्द	...	...	३००–३०२
५३—समय का फेर	...	...	३०३–३०७
५४—शिक्षित युवकों की होली	...	...	३०८–३११
५५—सीमोल्लंघन	...	...	३१२–३१४
५६—मामेकं शरणं व्रज	...	...	३१५–३१७
५७—भगवान् कृष्ण के समय का भारत	...		३१८–३२३
५८—दो लहरें ...	...	...	३२४–३२८
५९—घोर कलियुग आगया !	...	...	३२९–३३४
६०—बस, बूढ़े भारत की होली	...	..	३३५–३३७
६१—राष्ट्र के उत्थान में देवियों का स्थान		...	३३८–३४१
६२—मैं ज़िन्दा हूँ पर कोई शनाख्त करनेवाला चाहिए			३४२–३४५
६३—बलिदान-प्रधान आर्य जाति		...	३४६–३४९
६४—भारतवर्ष की हीनता का मुख्य कारण		...	३५०–३५२
६५—नवयुग क्या है ?	...	...	३५३–३५३
६६—सौम्य मूर्ति सहृदय पण्डित रामजीलाल शर्मा			३५४–३५५
६७—फिर हैदराबाद में क्या हुआ ?		...	३५६–३५८
६८—वर्धा में महात्मा जी के दर्शन		...	३५९–३६१
६९—सफल पत्रकार कौन है ? ...		...	३६२–३६८
७०—संसार के इतिहास क्या कहते हैं ?		...	३६९–३७२
७१—देशभक्तों की जाति	...	...	३७३–३७५
७२—हेल हिलटर	...	...	३७६–३८२
७३—देवासुर-संग्राम	...	...	३८३–३९५
७४—सभ्यता का आदि केन्द्र	...	...	३९६–३९९
७५—आर्यसमाज की प्रगति	...	...	४००–४०२

विषय	पृष्ठ
७६—आर्यसमाज की शक्ति बढ़ाने का उपाय...	४०३-४०६
७७—उपाकर्म की महत्ता	४०७-४०९
७८—मेधा की अरथी	४१०-४१६
७९—सञ्जय	४१७-४१८
८०—स्वामी श्रद्धानन्द का सन्देश... ...	४१९-४२०
८१—'पशु बलिदान' [समालोचना] ...	४२१-४२४
८२—आर्यसमाज और उसके कृपालु ❀ ...	४२५-४३२
८३—बिखरे विचार ❀	४३३-४३४
८४—धुन ❀	४३५-४३९
८५—बकायन के नीचे— ❀	४४०-४४२
८६—नायक नगला से— ❀	४४३-४४५
८७—'श्रुतं मे गोपाय'	४४६-४४८
८८—"मैं"	४४९-४५४
८९—वेद किनसे प्रसन्न रहते हैं ?	४५५-४७३
९०—व्यास पर्वत के उच्च शिखर से— ...	४७४-४७७
९१—वेद	४७८-४७८
९२—वैदिक पहेली	४७९-४७९
९३—विद्वान् लोग बूझें	४८०-४८०
९४—ऋग्वेदियों के लिए विचारणीय सूक्त ...	४८१-४८१
९५—वेदों का मुख्य तत्त्व	४८२-४८७
९६—प्रेम-तन्त्र	४८८-४८९
९७—असली लक्ष्मी-पूजन कब होगा ? ...	४९०-४९३
९८—अस्पर्शयोग	४९४-४९६
९९—पहले स्वराज्य या समाज-सुधार ...	४९७-५०१
१००—हमारी राष्ट्रीय महासभा	५०२-५०६

❀ ये लेख अभी तक किसी पत्र में प्रकाशित नहीं हुए हैं।

पृष्ठ
०६
०९
१६
१८
२०
२४
३२
३४
३९
४२
४५
४८
५४
७३
७७
७८
७९
८१
८७
८९
९३
९६
१०१
१०६

ॐ तत्सत्

पत्र-पुष्प

प्रथम गुच्छक

१—भारत सावित्री

वेदों में गायत्री का जितना माहात्म्य है उतना ही माहात्म्य भारत सावित्री का है। वह भारत सावित्री इस प्रकार है और सारे महाभारत का सार है—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि 'यान्ति यास्यन्ति' चापरे ॥१॥

शोकस्थान सहस्राणि दुःखस्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ़मावि शन्ति न पण्डितम् ॥२॥

न' जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः जीवो नित्यो सुख दुःखे त्वनित्ये॥३॥

उर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ॥४॥

इस भारत सावित्री का यह अभिप्राय है:—

१—न जाने जन्म-जन्मान्तरों में कितने माता-पिता देखे,

कितने पुत्रों को देखा, कितनी स्त्रियों को देखा। संयोग-वियोग संसार का धर्म है। इस संसार में भी अब जो सम्बन्ध है वह एक दिन नहीं रहेगा।

२—संसार में आकर पदे-पदे सहस्रों वार शोक व सैकड़ों वार दुःख-प्रसङ्ग आते हैं। मूढ़जन ही इन शोकों व दुःखों में लिप्त रहते हैं। पण्डित तत्त्व की बात जानता है और वह इन शोकों व दुःखों से ऊपर उठा रहता है।

३—किसी कामना से, किसी प्रकार के भय से, किसी प्रकार के लालच से मनुष्य को अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए—अपने कर्त्तव्य से कभी च्युत नहीं होना चाहिए। क्योंकि धर्म तो नित्य रहने को वस्तु है, साथ जाने की वस्तु है और उस धर्म की प्राप्ति के सब साधन अनित्य हैं। यह जीव नित्य है और उसके साथ प्रतिदिन लिपटे रहनेवाले सुख-दुःख अनित्य हैं इसलिए स्वधर्म-स्वकर्त्तव्य पर अड़े रहना चाहिए।

४—सौति ऋषि कहते हैं कि मैं दोनों हाथ ऊपर उठा-उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि तुम जिन-जिन वस्तुओं की कामना करते रहते हो वह सब धर्म से ही मिल सकती हैं। फिर तुम धर्म को क्यों नहीं मानते? धर्म में इतनी अनास्था क्यों दिखला रहे हो?

यह है सार समस्त महाभारत का। सार्वजनिक सेवा करनेवालों को सदैव इस तत्त्व को ध्यान में रखकर काम करते रहना चाहिए। फिर उनको सुख-दुःख के बन्धन, आशा-निराशाओं के झोंके, शीत-उष्ण की बाधाएँ, मानापमान की ज्वालाएँ, जीवन-मरण की समस्याएँ, नित्यानित्य की विवेचनाएँ नहीं सतायेंगी। फिर उनका ध्यान केवल कर्त्तव्य की ओर संलग्न रहेगा और कर्त्तव्य-मार्ग की कठिनाइयों से वे कभी नहीं घबरायेंगे।

२—सम्पादक और लोकसेवा

'सम्पादक' शब्द का उच्चारण होते ही एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो 'समुदाय' का सेवक है। सम्पादक जितने ही बड़े समुदाय का सेवक होगा, उतना ही उसके लिए अच्छा। अङ्गरेज़ी व्याकरण के नियमानुसार सम्पादक अपने लिए 'हम' (कई) शब्द का प्रयोग कर सकता है। यह 'हम' शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। जो सम्पादक अपनी 'मैं' को भुलाकर सच्चे और व्यापक अर्थ में 'हम' हो जाता है, वह उस अंश में सबसे बड़ा लोक-सेवक बन जाता है। जो सम्पादक 'हम' बनने से डरता है, जिसके साथ 'मैं' लगी हुई है, वह यथार्थ लोकसेवा नहीं कर सकता। लोकसेवा का कार्य जितना ही अधिक करेगा, सम्पादक उतना ही बड़ा होता जायगा। लोकसेवा का कार्य सम्पादक के लिए बाधक नहीं, अपितु साधक है। अथवा यों कहिए कि सम्पादन-कार्य भी लोकसेवा का प्रमुख अङ्ग है। वर्तमान युग में तो सम्पादक नामक प्राणी न हो, तो न तो राज्यशकट चल सकता है, न ही प्रजा-हित सध सकता है। इस काग़ज़ी युग की महत्ता को समस्त जगत समान रूप से अनुभव कर रहा है। इसलिए सम्पादक शब्द एक आदरवाचक शब्द है। सम्पादनकला गौरव की वस्तु है, और समाचारपत्र यदि वह ठीक ढङ्ग से चलाया जाय तो सब-से बड़ा अहिंसात्मक अस्त्र है। यह सम्पादनकला पाश्चात्य सभ्यता का एक मुख्य अङ्ग है। भारतवर्ष में भी इसने अच्छा स्थान पाया है। हिन्दी-जगत् में हिन्दी पत्रों ने राष्ट्र-सेवा के

कार्य में जितना भाग लिया है उतना अन्य किसी भाषा के पत्रों ने नहीं लिया! राष्ट्र-कार्य के साथ राष्ट्र-भाषा का उद्धार और उसके साथ ही सम्पादनकला की उन्नति हो रही है—यह शुभ लक्षण है। यद्यपि सम्पादन-कला पाश्चात्य वस्तु है, तथापि देशकालानुरूप उसमें अपेक्षित परिवर्त्तन-परिवर्द्धन करके उसको स्वदेश के अनुरूप बना लेना चाहिए—बस सम्पादक की इसी बात में परीक्षा है। केवल अनुकरण से लाभ न होगा—इस बात को राष्ट्रीय पत्रों के सम्पादक अनुभव करने लगे हैं। इस समय तो हिन्दी समाचार-पत्र घाटे का सौदा बन रहे हैं, तथापि भविष्य आशामय और उज्ज्वल है।

३—स्वस्ति पन्थाः अथवा कल्याण-मार्ग

:o:

"स्वस्ति 'पन्थामनुचरेम' सूर्या-चन्द्रमसाविव 'पुनर्ददताघ्नता जानता' संगमेमहि।"

वेदों ने हमको स्वस्ति पन्थाः अथवा कल्याण-मार्ग पर चलने-चलाने का उपदेश किया है।

"अग्ने नय सुपथा"

इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमको 'सुपथा' =अच्छे मार्ग से ले जावे। जिस स्वस्तिवाचन का पाठ हम नित्य-प्रति करते रहते हैं, वह सबका सब स्वस्ति पन्थाः पर ले जानेवाला है। जिस शान्ति-पाठ को हम पढ़ते रहते हैं वह सबका सब स्वस्ति पन्थाः अथवा कल्याण-मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं को दूर करनेवाला है। आर्य जगत् में हज़ारों-लाखों वार स्वस्ति-वाचन व शान्ति-पाठ हुआ होगा किन्तु क्या कारण कि हम अभी तक अभीष्ट-प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं? इसके कारण को ढूँढ़-निकालना हमारा परम कर्त्तव्य है। जहाँ तक हमने आर्य जगत् पर दृष्टि डालकर अनुभव किया है हम कह सकते हैं—अधिकारयुक्त वाणी से कह सकते हैं कि आर्यजगत् में रजोगुण की अधिक मात्रा बढ़ती जा रही है। जिसको हम उन्नति समझकर उछलते-फिरते हैं, परिणाम में वह उन्नति-प्रद नहीं होगा। इसी रजोगुण के कारण 'सत्' उभरने नहीं पाता, इसी रजोगुण के कारण 'असत्' से 'सत्' दबा रहता है, इसी रजोगुण के कारण हमारी भाव--शुद्धि

में अन्तर पड़ गया है, इसी के कारण हम अभीष्ट की ओर वेग से नहीं बढ़ रहे हैं, यही कारण है कि हम जितना भी आगे बढ़ते हैं फिर उससे दुगुने पीछे हटे चले आते हैं। आर्य-जगत् में सात्त्विक पुरुषों की वृद्धि अपेक्षित है—जहाँ सात्विक गुण की प्रधानता होगी वहाँ प्रकाश होगा, व्यक्ति व समाज उठता हुआ दिखलाई पड़ेगा, आत्मा ऊपर को उठता हुआ दीखेगा। जहाँ रजोगुण होगा वहाँ कुछ प्रकाश व कुछ अन्धकार, फिर प्रकाश फिर अन्धकार यह दशा रहेगी। टटोलते-टटोलते चलना पड़ेगा, ठिठकते-ठिठकते चलना पड़ेगा। तमोगुण जहाँ होगा वहाँ कोरा अन्धकार रहेगा, न कुछ सूझेगा न कुछ किया-कराया जा सकेगा। सतोगुण का फल सुख है, रजोगुण का फल दुःख-मिश्रित सुख है, तमोगुण का फल नितान्त दुःख है। इस गुणत्रयी की मीमांसा करना हमारा उद्देश्य नहीं है किन्तु इस गुणत्रयी का ही सब खेल है—यह दिखलाने के लिए ही हमने उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना की है। हम क्यों अभीष्ट स्थल की ओर वेग से नहीं जा रहे हैं—इसका उत्तर ऊपर आ गया है।

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्ट भावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

वेद, त्याग, यज्ञ, नियम, तप ये सब दूषित भाव वाले पुरुषों में सफल नहीं होते।

हम लोगों के सब कार्य कर्त्तव्य-बुद्धि से नहीं हो रहे, सात्विक प्रवृत्ति से नहीं हो रहे, इसीलिए भाव-शुद्धि नहीं, इसीलिए सिद्धि नहीं, इसीलिए ऋद्धि नहीं। जैसे बाज़ार-भाव बिगड़ जाय तो जनता में कोलाहल मच जाता है, इसी प्रकार हृदय के भाव बिगड़े रहें तो समाज में व्यष्टि व समष्टि दोनों की दशा दयनीय हो जाती है। साधारण पुरुषों के मानसिक भावों के बिगड़ जाने

से इतनी हानि नहीं जितनी कि समाजाग्रणी नेताओं के भावों के बिगड़ने से हानि होती है।

आर्यसमाज में प्रतिदिन जो कलह की मात्रा बढ़ती दिखलाई पड़ती है, पद-लोलुपता, अधिकार-प्रियता बढ़ रही है, धर्म का स्थान धन ले रहा है, इसका मुख्य कारण भावों की अशुद्धि ही है। यदि आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने इसका उद्देश्य "संसार का उपकार" जैसा महान् उद्देश्य रखा था तो वह उस प्रवर्त्तक के अनुरूप ही था—उसमें त्याग था, तप था, सब कुछ था, उसका हृदय इतना विशाल था कि उसमें यह जगत् तो क्या ऐसे कितने ही जगत् समा सकते थे। वह सब जगतों को आर्य जगत् में लाना चाहता था। यदि वह जीता रहता तो वह क्या करके दिखाता—यह एक देखने की बात होती। हम अनुयायियों में न वह त्याग है न तपस्या, न वह कर्त्तव्य-बुद्धि है न भाव-शुद्धि। तब कोरी बकवाद के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते थे अथवा कर ही क्या रहे हैं? आर्य-समाज का मिशन यदि आगे बढ़ेगा तो वह शुद्ध भाव वाले त्यागी, तपस्वी-जनों के आश्रय से बढ़ेगा; नहीं तो इन ईर्ष्यालु, रागद्वेष-परिपूर्ण, संसार के पीछे दौड़नेवाले रजोगुणी प्रवृत्तिवालों से कुछ होगा—ऐसा समझना कोरी मूर्खता होगी। कल्याण-मार्ग पर चलने-वाले लोगों में कभी भी इतनी अशान्ति, इतना कलह, इतना वैमनस्य, इतनी ईर्ष्या, इतना राग-द्वेष-मोह नहीं होता। हम स्वस्ति पन्थाः को रटते व पढ़ते तो हैं पर उसका मर्म नहीं समझते। हम दिन में कई वार "ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" तो कह लेते हैं पर शान्ति के पीछे ही अशान्ति का दफ़्तर खोल बैठते हैं। इसका कारण यही है कि हम स्वस्ति पन्थाः को नहीं समझे हैं। शुद्ध भाव से स्वस्ति-वाचन व शान्ति-पाठ नहीं करते हैं। इसका फल स्पष्ट है—हमारे पास सब कुछ होते हुए भी हम निस्तेज हो रहे

हैं। कुबेर का ख़ज़ाना पास है तो भी कौड़ी-कौड़ी के लिए हाथ पसार रहे हैं। पानी में रहकर प्यासे मर रहे हैं।

पानी बिच मीन पियासी; यह देखत मोहे आवे हाँसी (कबीर)

मेरे प्रिय आर्य-भाइयो, आप अपनी हीनावस्था के कारणों को कब अनुभव करेंगे? चन्दन की लकड़ियों से लहसुन पकाने में तुमको क्या आनन्द आ रहा है? आर्यसमाज की सृष्टि संसार के उपकार के लिए थी, तुमने उसको इस तरह अपना खिलौना क्यों बना रखा है? इस प्रकार संसार के उपहासास्पद होने में क्या आनन्द है? क्या इन प्रश्नों के गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिये जा सकते हैं? कदाचित् अभी नहीं।

द्वितीय गुच्छक

१—वेद-विमर्श

वैदिक मनोरञ्जक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥
(यजु० २३—४५)

१—अकेला अपनी कक्षा में कौन घूमता रहता है? २—अदृश्य होकर फिर कौन दिखलाई पड़ता है? ३—जाड़े की औषधि क्या है? ४—सबसे बड़ी भारी बोरी (जिसमें अन्न भरा जाता है अथवा भरा रहता है) कौनसी है?

उत्तर—सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥
(यजु० २३—४६)

१—सूर्य अकेला अपनी कक्षा में घूमता रहता है। २—चन्द्रमा कृष्ण पक्ष में अदृश्य होकर शुक्ल पक्ष में फिर आता है। ३—जाड़े की सबसे उत्तम औषधि है अग्नि। ४—पृथिवी ही सबसे बड़ी बोरी है जिसमें अनन्त अन्न-राशि भरी रहती है।

[उस परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से अन्न उत्पन्न होता है।]

प्रश्न—किꣳ स्वित्सूर्य्यसमं ज्योतिः किꣳ समुद्रसमꣳ सरः।
किꣳ स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते॥
(यजु० २३—४७)

१—सूर्य के समान ज्योति किसकी है ? २—समुद्र के समान बड़ा तालाब (सरोवर) कौनसा है ? ३—पृथिवी से बड़ी कौनसी वस्तु है ? ४—तुलना किसकी नहीं हो सकती ?
उत्तर—ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳ सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥
(यजु० २३—४८)

१—ब्रह्म सूर्य समान ज्योतिवाला है। २—द्यौ (अन्तरिक्ष) समुद्र के समान बड़ा सरोवर है (निरुक्त ने दो समुद्र माने हैं एक नीचे का दूसरा ऊपर का अन्तरिक्ष, ऊपर के समुद्र से ही नीचे का पार्थिव समुद्र बनता है।) ३—इन्द्र है पृथिवी से बड़ा। (इन्द्र सूर्य का भी नाम है, इन्द्र मेघदारक मेघप्रेरक वायु का भी नाम है। यदि इन्द्र न बरसे-बरसावे तो पृथिवी नष्ट हो जाय। यदि सूर्य प्रकाश न भेजे तो पृथिवी नरक का आसा हो जाय।) ४—गो अर्थात् वाणी की तुलना में कोई नहीं। इस वाणी का विषय इतना विस्तृत है "वाग् वै ब्रह्म"कि इसको दूसरा ब्रह्म कहा गया है। एक परब्रह्म दूसरा शब्द ब्रह्म।
प्रश्न—पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ ३८॥
(यजु० २३—४९)

हे देवमित्र, मैं तुझसे पूछता हूँ कि जहाँ जहाँ विष्णु के पद पड़ते हैं, सूर्य का प्रकाश पहुँचता है—सूर्य की किरणें जा पड़ती हैं, क्या तुमने कभी मन से भी उन-उन स्थानों की सैर की है ? क्योंकि स्थूल शरीर से वहाँ वहाँ पहुँचना कठिन है। तुमने विश्व भर का साक्षात्कार भी किया है जिस विश्व में द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीनों का समावेश है ?

उत्तर—अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।
सद्यः पर्य्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ॥
(यजु० २३—५०)

ओ, उसमें क्या बात है केवल अभिध्यान के बल पर, यहाँ बैठा भी मैं समस्त पृथिवी, समस्त अन्तरिक्ष, समस्त द्युलोक=सूर्य लोक की सैर करके आता हूँ। यह कौनसी कठिन बात तुमने पूछी ! मैं देखते-देखते अभी पृथिवी, अभी अन्तरिक्ष, अभी सूर्यलोक घूम आता हूँ। यह तो क्षणार्द्ध की बात है। केवल अभिध्यान द्वारा ही मुझे यह सिद्धि है।

प्रश्न—केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुप वक्तुमसि त्वा किꣳस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥
(यजु० २३—५१)

पुरुष (परमात्मा) किन-किनमें प्रविष्ट हुआ है? इस पुरुष में कौन-कौन हैं? हे ब्रह्मन् इसका तत्त्व जानने के लिए ही हम तुमसे पूछते हैं। कृपया इसका ठीक-ठीक पता दीजिए क्योंकि इतने गहन तत्त्व को समझने में हम असमर्थ हैं। इसी लिए तो हम आपकी सेवा में आये हैं।

उत्तर—पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥
(यजु० २३—५२)

हे जिज्ञासु, वह पुरुष पाँचप्राणों में व्याप्त है और यही सकल ब्रह्माण्ड उस पुरुष में समाया हुआ है। मैंने इस बात की साक्षात् कर लिया है इसीलिए कहता हूँ। यदि तू सचमुच जिज्ञासु होकर पूछ रहा है, छल-कपट से मेरे पास नहीं आया है, तो इन प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर मुझसे अन्यत्र किसीसे तुम्हें न मिल सकेगा।

प्रश्न—का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥
(यजु० २३—५३)

१—पूर्वचित्ति क्या थी, जब यह सृष्टि बनने लगी थी तब पहले-पहल फ़र्श क्या था ? २—सबसे बड़ी वस्तु क्या बनी थी ? ३—ऐसी कौनसी पिलपिली वस्तु थी जिससे अन्य वस्तुएँ बनीं ? ४—और सबको निगल जानेवाली वस्तु कौन थी ?

उत्तर—द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥

(यजु० २३—५४)

१—सबसे पूर्व सर्वत्र आकाश ही आकाश था जिसके आश्रय से ही सब पदार्थ बने । २—गतिशील सूर्य ही सबसे बड़ा पदार्थ बना था । ३—प्रकृति ही एक ऐसी पिलपिली वस्तु थी जिससे यह महती विकृति उत्पन्न हुई । ४—सबको निगल जानेवाली महा प्रलय की रात्रि थी ।

प्रश्न—का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ॥

(यजु० २३–५५)

१—सबको निगल जानेवाली रूपादि नाशिनी (पिशङ्गिला) कौन है ? २—खेती-बाड़ी को नाश करनेवाली कौन है ? ३—उछल-उछलकर कौन चलता है ? ४—पेट के बल सरपट कौन भागता है ?

उत्तर—अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥

(यजु० २३–५६)

१—अजा = मूलप्रकृति ही सब विकृति को, नाम-रूपवाले पदार्थ को निगलनेवाली है इसीलिए पिशङ्गिला कहलाती है । २—सेही (श्वावित्) खेती-बाड़ी को नष्ट करती है । ३—सहा उछल-उछलकर चलता है । ४—साँप पेट के बल सरपट दौड़ता है ।

[स्वा० दयानन्द ने तृतीय प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि वायु ही सर्वत्र उछल-कूदकर चलता है, सर्वत्र पहुँचता है। आपने चतुर्थ प्रश्न के उत्तर में 'अहि' के अर्थ 'मेघ' किये हैं जो रींगता हुआ आकाश में घूमता है।]

प्रश्न—कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति॥
(यजु० २३-५७)

१—इस संवत्सर रूपी यज्ञ के विशेष स्थान कितने हैं? २—इनमें किन वेद-मन्त्रों का पाठ होता है? ३—इसमें दानादानादि क्या होता है? और ४—ऋतु-ऋतु के अनुसार कितने होता यज्ञ करने बैठते हैं?

उत्तर—षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति॥
(यजु० २३-५८)

१—छः ऋतु ही इस यज्ञ के विशेष स्थान हैं। २—सहस्रों-लक्षों झरनों व नदी-नालों के शब्द ही वेद मन्त्रों का पाठ है। ३—इस संवत्सर यज्ञ में प्रत्येक ऋतु का आदान-प्रतिदान अस्सी दिन अर्थात् ढाई मास तक होता रहता है। ४—आदित्य की सात रश्मियें ही (आदित्याश्व) इस यज्ञ के होता हैं जो ऋतु-ऋतु में यज्ञ कराते रहते हैं।

प्रश्न—को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥
(यजु० २३-५९)

१—क्यों जी, इस भुवन की नाभि को भी कोई जानता है? २—द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को जानता है? ३—इस बड़े भारी सूर्य के उत्पादक को भी कोई जानता है? ४—और उसको भी जिससे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ?

उत्तर–वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्य्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥
(यजु० २३–६०)

१—मैं भुवन की नाभि (मध्यभाग), २—सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, ३—इस बड़े भारी सूर्य के जनक, ४—और चन्द्रमा जिससे हुआ उसको खूब जानता हूँ।

प्रश्न–पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
(यजु० २३–६१)

१—अच्छा बतलाओ पृथिवी का ओर-छोर कहाँ है? २—भुवन की नाभि (मध्यभाग) कहाँ है? ३—और वर्षणशील व गतिशील सूर्य का पराक्रम क्या है? ४—और वाणी का उत्तम स्थान कौनसा है?

उत्तर—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥
(यजु० २३–६२)

१—यह जो वेदी है यही पृथिवी का अन्तस्थान है। २—यह यज्ञ (सूर्य) ही पृथिवी की नाभि है, वही आकर्षण-विकर्षण द्वारा पृथिवी को ठीक रखता है। ३—सूर्य का बल-पराक्रम वायु है (सोम) क्योंकि वायु को गति देने, बदलनेवाला सूर्य है। ४—ब्रह्मा ही, वेदज्ञ होने से, वाणी के निवास का उत्तम स्थान है।

२-गुरुकुल वृन्दावन के प्रथम वेदसम्मेलन में सभापति श्रीशास्त्रीजी का भाषण

विभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥
(मनुस्मृति १२-९९)

वेद आर्य जाति के प्राण हैं। यदि वेद हैं तो आर्य जाति भी है और वेद नहीं तो आर्य जाति भी नहीं। वेद और आर्य-जाति का ऐसा समवाय सम्बन्ध है।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
(मनुस्मृति १२-९४)

वेद ईश्वरीय ज्ञान है, वेद सनातन चक्षु है। ऋषियों ने ही सब से प्रथम इस चक्षु द्वारा देखा। सबसे पूर्व ऋषियों द्वारा ही वेद प्रकट हुए।

ऋषिदर्शनात् (औपमन्यव)

तदेनाँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत्तदृषीणामृषित्व-मिति विज्ञायते॥ (निरुक्त)

इसीलिए वेदों को स्वतः प्रामाण्य माना गया। इसीलिए वेदों को इतना पवित्र माना गया। इसीलिए वेदों का नाम लेते ही ब्राह्मणकार, अनुब्राह्मणकार, स्मृतिकार, उपनिषत्कार, शास्त्र-

कार, महाभाष्यकार, निरुक्तकार सबके सब समान रूप से वेदों को ज्ञान का आदि पवित्र स्रोत मानते चले आये हैं।

जब शुद्ध पवित्र गुरु-शिष्य-परम्परा विद्यमान थी तब ऋषि-मुनि-महर्षि पारोवर्य्यवित् वेदितृजन वेदों को वेदों से ही देखा करते थे, वेदों का मर्म जानने के लिए वे अन्य परतः प्रमाण माने जानेवाले ग्रन्थों,भाष्यों का आश्रय नहीं लेते थे। किन्तु काल-परम्परा से जब बुद्धि का ह्रास होने लगा तब परतः प्रमाण ग्रन्थों से स्वतः प्रमाण वेदों का तत्व जानने की प्रथा चल गई। फलस्वरूप वेदों के स्पष्टीकरणार्थ समय-समय पर अनन्त ग्रन्थराशि की सृष्टि हुई और अभी तक वह सृष्टि बढ़ ही रही है। इतना होने पर भी आश्चर्य यह है कि वेदों को मीमांसा अज्ञेय रूप में चली जा रही है। कोई भी अर्वाचीन पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् वेदों के स्वरूप का "इदमित्थम्" ऐसा अधिकारात्मक निर्णय न कर सका, न दे सका।

वेदस्वरूप के ज्ञानार्थ वेदाङ्गों की सृष्टि किस प्रकार हुई—इसका सुन्दर विवेचन निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है:—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षीकृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च नदांगानि च ॥"

यह बिल्मग्रहण, भेदग्रहण, वेदस्वरूप-प्रकाशन का कार्य तब से अब तक बराबर अव्याहत गति से चला आ रहा है। अर्वाचीन पौरस्त्य व पाश्चात्य विद्वान् भी इस दिशा में प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं तो भी वेदों की समस्या एक निगूढ़ समस्या ही चली जा रही है। इसका प्रधान कारण यह है कि वैदिक परम्परा में वेदों से ही वेदों को देखने की प्रथा नहीं रही है। वेदों से ही वेदों

यह साधारण विद्या-बुद्धि का काम नहीं, असीम ईश्वरीय शक्ति का काम है। यही तो आगवार्य का ज्ञानमिश्रण

"हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजते सखायः"

देवों की आवश्यकता है, सत्यानृत-ज्ञान-मिश्रित मनुष्यों की नहीं।

आर्यसमाज की सृष्टि भी वेदों के विघ्नमग्रहण के लिए, वेद के प्रकाश के लिए ही की गई थी। इसके पूज्य प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द ने इसी विघ्नमग्रहण के पवित्र कार्य के लिए तप तपा था, उन्होंने वेदों को वेदों से ही समझने का प्रयत्न किया था। इसलिए उन्होंने वेद-भवन में जाने के मार्ग को जो अब तक अवरुद्ध पड़ा था, पुनः स्वच्छ कर दिया। यही स्वामीजी की विशेषता है। इसीलिए आर्य जगत् स्वामीजी के लिए कृतज्ञता के भाव प्रकट कर रही है। स्वामीजी के पश्चात् स्वामीजी के अनुगामी कतिपय विद्वानों ने उनके मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया, किन्तु अनुगामी कहाँ तक सफल हो सकते थे? स्वामीजी के पश्चात् [illegible] व्यक्तिगत रूप में अब तक कोई ऐसा [illegible] करने अथवा दिखलाने वाला विघ्नमग्रहण [illegible] के लिए मुकदमे [illegible]

साध्य नहीं हुई। यह तभी हो सकता है जब ब्रह्मचारी-गण केवल विल्मग्रहण के लिए ही गुरुकुलों में प्रविष्ट हों, विल्मग्रहण के लिए ही उग्र तप तपें और गुरुकुलों से निकलकर विल्मग्रहण में ही जीवन व्यतीत करें। तभी हम मनु के शब्दों में संसार को कह सकेंगे कि:—

"बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्"

तभी हमारा यह दावा सिद्ध होगा कि:—

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणा कर्मतः॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

ऐसे ही वशिष्ठादि-सदृश वेदज्ञों के लिए मनु ने कहा है:—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
सविज्ञेयः परोधर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

अव्रतानामऽमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

यं वदन्ति समोभूता मूर्खा धर्मऽतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति॥

ईश्वर करे आर्यजगत् में तपोवृद्धि द्वारा आर्य बालक विल्म-ग्रहण का पवित्र कार्य कर सकें। तपस्वी और ब्रह्मचारियों के सम्मुख यही महान् कार्य है कि अपनी साधना द्वारा वेदों का विल्मग्रहण करें।

३—गुरुकुल वृन्दावन के द्वितीय वेदसम्मेलन में सभापति श्रीशास्त्रीजी का भाषण

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥

(ऋ० ८-२-२४-३)

नमः सदसे,

जब बुद्धि प्रसन्न हो जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व समझने के योग्य बन जाती है, सात्विक बुद्धि का उदय होने लगता है, तब वेदमित्र ब्राह्मण सात्विक मन की सूक्ष्म गति का आश्रय लेकर, मिलकर बैठते हैं और अपनी सात्विक प्रवृत्तियों से वेदों के तत्वों को जानते हैं। उस समय वे अपने में एक ही प्रकार के लोगों को सम्मिलित नहीं होने देते, उनको छोड़ देते हैं, दूर रखते हैं। वे कौन हैं जिनको सम्मिलित नहीं करते, दूर रखते हैं, छोड़ देते हैं? वे हैं अविद्वान् पुरुष। क्यों छोड़ बैठते हैं? इसलिए कि ओहब्रह्मा ब्राह्मणों के ऊहापोह को समझने की शक्ति उनमें नहीं रहती।

प्राचीन समय में इसी उच्च कोटि के ओहब्रह्मा ब्राह्मण मिलकर वेदविषयक, धर्मविषयक, अध्यात्मज्ञान-विषयक संदिग्ध सूक्ष्म तत्वों का निर्णय करते थे। एक प्रकार से ये ही वेदसम्मेलन थे। ऐसे वेदसम्मेलन का स्थान हमारे इस प्रान्त में नैमिषारण्य था।

आर्यसमाज की स्थिति ही वेदों पर निर्भर है। आर्यों का परम धर्म ही वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना है। अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति वेदों पर ही निर्भर रहनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक आर्य के लिए वेद-ज्ञान परम आवश्यक है। तभी वह शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नति कर सकता है। तभी वह संसार का उपकार करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिए आर्यों का परम धर्म वेद है। आइए, आज इस वेदसम्मेलन में इसी वेद पर विचार करें, जिससे पता तो चले कि उसके विषय में आज तक हम क्या-कुछ कर सके हैं और क्या-कुछ करना शेष है।

जब वेदों का पढ़ना-पढ़ाना परम धर्म है तो हमारी अधीति का मुख्य विषय वेद ही है। अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् विषय, प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध—इन चार अनुबन्धों को जाने विना हमारी किसी विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए जिज्ञासु आर्य का कर्त्तव्य है कि वह इन चार बातों को जाने। वह इस प्रकार हैं—

(१) विषय है वेद।

(२) प्रयोजन है वेद-ज्ञान।

(३) अधिकारी हैं वेदजिज्ञासु पुरुष।

(४) सम्बन्ध है प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध। अर्थात् वेदका प्रतिपाद्य विषय है मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान। इस ज्ञान के प्रतिपादक हैं स्वयं वेद। इसलिए प्रतिपाद्य ज्ञान व प्रतिपादक वेदों का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध स्पष्ट हो है।

वेद क्या हैं ?

उत्तर सरल है कि वेद स्वयं वेद हैं। वेद अन्वर्थ संज्ञा है इसलिए वेद वेद हैं। इसका अर्थ हुआ कि वेद ज्ञानस्वरूप

हैं, वेद ज्ञानमय हैं। संसार में ज्ञान की कोई इयत्ता नहीं। इतना ही है—ऐसा कोई नहीं कह सकता। इसीलिए "अनन्ता वै वेदाः" इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों का रहस्य यह है कि वेद अनन्त हैं अर्थात् ज्ञान अनन्त है और भगवान् करुणानिधान ने जब "ततो मनुष्या अजायन्त" (पुरुषसूक्त) मनुष्यों की सृष्टि की, तभी साथ-साथ मनुष्योपयोगी ज्ञान, वेदों की सृष्टि की।

क्यों? "पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे" (निरुक्त)। मनुष्य अल्पज्ञ है, उसकी विद्या, उसका ज्ञान अनित्य है, इसलिए कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधक, तत्फलद्योतक विधि-निषेधरूप वेद-ज्ञान की अवश्यकता थी ही।

आर्य लोग साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन की विधि भूल गये थे, आर्य लोग विषय, प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध की बात भूल गये थे; इसीलिए गुरुकुलों की सृष्टि की गई थी कि साङ्गोपाङ्ग वेदपुरुष की यथार्थ पूजा हो। आर्य लोग स्वर, वर्ण, मात्रा, विनियोगों को भूल चले थे; ऋषि, छन्द, दैवत का ध्यान नहीं रखते थे; कोरे*मन्त्रकण्टक बन रहे थे; इन्हींके उद्धारार्थ स्वामी-जी महाराज ने प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का उपदेश किया था। इस विषय में हम कहाँ तक प्रगति कर सके, कितने अंशों में सफल रहे, अभी कितना कर्त्तव्य शेष रहा है, अब तक कार्य अपूर्ण क्यों रहा है, हमारा अधिष्ठान ठीक नहीं है कि कर्तृगण में दोष

---

*अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥
स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥

है; हमारे पास पर्याप्त उपकरण नहीं है अथवा हमारे प्रयत्नों में त्रुटि रही है इत्यादि बातें गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं।

मनुस्मृति के शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि

"अग्निवायुरविभ्यस्तु...ऋग्यजुःसामलक्षणम्"

अग्नि-विज्ञान के लिए ऋग्वेद, वायु-विज्ञान के लिए यजुर्वेद, सूर्य-विज्ञान के लिए सामवेद की सृष्टि हुई।

इस श्लोक की इस प्रकार की व्याख्या के लिए स्वर्गीय गुरुवर आचार्य श्री पं० सत्यव्रतसामश्रमीजी महाराज ही प्रमाणभूत हैं। मुख्य तीन ही देवता हैं, इन्हीं के अन्तर्गत आठ वसु, ग्यारह रुद्र, द्वादश आदित्य आ गये। इन सबके नियन्ता परमेश्वर और अभिज्ञान करनेवाले प्रजापतिरूप परमेश्वर को मानकर तेतीस देवता होते हैं। इन्हींका ज्ञान वेदों से होता है और इस प्रकार जिज्ञासु व्यक्ति अपरा विद्या से परा में और परा से मुक्ति को प्राप्त होता है। इसीलिए वेदज्ञान का प्रयोजन है। वेदज्ञान के लिए, अति गम्भीर वेदार्थ के ज्ञान के लिए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इनका ज्ञान आवश्यक है—यह तो लिखने की अथवा कहने की आवश्यकता नहीं है।

हम लोग वेदों की वेदनविधि और याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित वेदोपबृंहणविधि को भूल गये थे। इस वेदनविधि और वेदोपबृंहणविधि का पुनरुज्जीवन हो जाय तो वेद हमारी रक्षा करेंगे। अभी तो वेद आर्यसमाज से प्रेम भी कर रहे हैं और डर भी रहे हैं।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

वेद प्रेम इसलिए करते हैं कि आर्य समाज ने उनके विषय में लाउड-स्पीकर का सुन्दर कार्य किया है और ध्वनिवर्धक

यन्त्र के सदृश संसार का ध्यान आकर्षित कर रहा है। वेद डरते इसलिए हैं कि मन्त्रकण्टकों ने कई जगह उसको बुरी तरह ज़खमी कर दिया है। इसलिए कि ये वेदनविधि व वेदोपबृंहण विधि को नहीं जानते। मुझे जात-पात-तोड़क के एक प्रमुख व्यक्ति के उपव्याख्यान में यह सुनकर परम आश्चर्य हुआ कि—

"सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु" इस मन्त्र से उसने वर्त्तमान जात-पात-तोड़क का अर्थ निकाला और अज्ञ श्रोतृवृन्द 'साधुवाद' दे रहे थे। व्याख्यान-समाप्ति के पश्चात् मैंने उपदेशक महोदय से कहा कि महाशय, यह तो गुरुकुलों में अध्ययन-काल के प्रारम्भ में गुरु-शिष्य-द्वारा बोलने का शान्तिपाठ है। तब वह एकदम बोले—देखिए इस मन्त्र में "सह वीर्यं करवावहै" यह पाठ है, इसका दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। ऐसे मन्त्रकण्टकों से वेद न डरें तो क्या हो? इन्हें यह भी ज्ञात न था कि "तेजस्वि नावधीतमस्तु" का क्या अर्थ है। उपक्रमोपसंहाराभ्यासोऽपूर्वताफलम्—इत्यादि बातों को तो क्या जानते।

स्वामीजी महाराज ने वेदनविधि व वेदोपबृंहणविधि दोनों के तत्व को जान लिया था और उन्होंने स्वतंत्र बुद्धि से जो मार्ग दिखलाया है वह एक अनुकरणीय बात है। भारत के दुर्भाग्य से वह अधिक काल जीवित नहीं रह सके नहीं तो उनकी अनोखी सर्वाङ्ग-परिपूर्ण उपबृंहणविधि देखने को मिलती, अब तो हम उनकी उस उपबृंहणविधि का केवल उपक्रम ही पाते हैं।

स्वामीजी के पश्चात् अनेक आर्य विद्वानों द्वारा वेदनविधि और उपबृंहणविधि के प्रयत्न हुए सही, परन्तु उन प्रयत्नों में दो-एक प्रशंसनीय अपवादों को छोड़कर अधिकतर मन्त्रकण्टकों के ही प्रयत्न थे। "तस्यास्तथसा पारम्पीप्सितव्यम्" (निरुक्त)। उनके प्रयत्न इस उच्च कोटि के नहीं थे, इसलिए प्रकाश नहीं हुआ।

सच्चे वेदसम्मेलन हों, सच्चे वेदसखा हों, सच्चे संयजन हों और सच्चे ओहब्रह्मा हों, तब आर्यों को वेदनविधि और उपबृंहणविधि सफल हो। वेद स्वयं ज्ञानमय तप हैं, तप से ही सिद्ध होंगे। पौरस्त्यों के ज्ञाननिधि वेद और पाश्चात्यों की वेदनविधि अथवा उपबृंहणविधि ऐसी भी गड़बड़ नहीं होनी चाहिए। वेदनविधि और उपबृंहणविधि दोनों पौरस्त्य रीति-नीति-संस्कृति के ढङ्ग पर होनी चाहिए।

वेदसम्मेलन में वैदिक विद्वान् मिलकर विचार करें, मन के सन्देहों को मिटाने का प्रयत्न करें, निःशङ्क होकर "हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु" का आश्रय लेवें। छल-कपट-दम्भ छोड़कर "यदि विज्ञास्यामस्तर्हि प्रातर्वो वक्ष्यामः" इस औपनिषदी ऋजु नीति का आश्रय लेवें, तो हमारा मार्ग सुकर हो सकता है।

अब आर्यसामाजिक लोग हृदय की बात बोलने नहीं देते हैं और जिनके मन में सन्देह हैं वे भी

"न जातु कामान् न भयान्न लोभाद्"

इस तत्त्व को भूल गये हैं, इसीलिए स्पष्ट नहीं बोल रहे हैं। एक ओर जिज्ञासुओं के मनों में उठनेवाले सन्देहों को दूर करने की शक्ति नहीं रखते, दूसरी ओर ज़रा भी कोई अपने सन्देह कहे तो "बहिष्कार" का बिगुल बजाते हैं। इस नीति से लोग मक्कार बनते जाते हैं। इनमें साहस ही नहीं कि स्पष्ट बात कह सकें। इस भीरुता के वातावरण में सत्यान्वेषण का मार्ग बन्द-सा है। आर्यसमाज में ऐसे अनेक पुरुष हैं जो ऐसा मानते हैं कि 'केवल चार ऋषियों पर ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ।' यह बात सत्य नहीं; वहीं वेदों का दरवाज़ा बन्द हो गया—यह बात नहीं, आगे भी इसी कल्प में ऋषि हो सकते हैं जिनपर ईश्वरीय ज्ञान प्रकट हो सकता है इत्यादि। कई इस मत के हैं कि यह क्या आवश्यक है कि ऋषियों के हृदयों में उन्हीं मन्त्रों का, उन्हीं शब्दों का, उसी

आनुपूर्वी क्रम का प्रादुर्भाव हुआ हो। यह भी हो सकता है कि ईश्वर द्वारा ऋषियों के हृदयों में ज्ञान-प्रकाश हुआ और उन ऋषियों ने अपने शब्दों में उस ज्ञान को प्रकट किया। वेदसम्मेलन में इन जैसी बातों पर चर्चा होकर धर्म-संशय-निर्णय होना चाहिए, तभी वेदसम्मेलन का नाम व काम सफल समझिए।

फिर वही प्रश्न सम्मुख है, अर्थात् वेदों में क्या है? इसका उत्तर उलटकर यही दिया जा सकता है कि,

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्।

जो यहाँ है उसीका आभास अन्यत्र है, जो बात इसमें अथवा इनमें नहीं वह कहीं भी नहीं मिलेगी। यदि...? भूलता हूँ, 'यदि' शब्द का प्रयोग मुझे भूलकरके भी नहीं करना चाहिए। वेद सब प्रकार के ज्ञान का भण्डार है जो कि आर्यजाति को अक्षय्य निधि है, तो फिर यह क्या पूछने बैठे हो कि वेदों में क्या है? मनु महाराज से पूछो कि वे—

"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"

ऐसा क्यों कहते?

उन्हीं से पूछो कि

अशक्यं चाप्रमेयं च

ऐसा क्यों कहते हैं?

संग्रहकार से पूछो कि 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' क्यों कहते हैं? 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' कहकर महाभाष्यकार वेदों को माथा क्यों टेकते हैं? भगवान् व्यास 'शास्त्रयोनित्वात्' कहकर वेदों के कारण ही भगवान् की महत्ता को क्यों प्रसिद्ध करते हैं?

इन सब बातों का उल्लेख चर्वितचर्वण अथवा पिष्टपेषण तुल्य है और आर्यसमाज के व्यासपीठों से गत पचास वर्षों में

असंख्य बार हो चुका है। यह अवसर उन सबको दुहराने का नहीं।

आर्यसमाज का एक-एक विद्वान् 'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि' (यजुर्वेद) बनकर शक्ति सम्पादन करेगा, तब देखिए वेद कैसे प्रसन्न होते हैं?

हममें यह बड़ी भारी त्रुटि है कि केवल वेदोपबृंहण और धर्म-संशय-निर्णय के लिए कम अधिवेशन करते हैं। इन अधिवेशनों का धूम-धड़ाकों के साथ कोई सम्बन्ध न होना चाहिए। बच्चा रो ही रहा है, कर्णवेध संस्कार भी कर डालो, बच्चे को दूसरी बार न रुलाना पड़े—ऐसी गति तो नहीं होनी चाहिए। विद्वान् आवें, मिलें, बैठें, एक-एक दो-दो मास ठहरें, खूब विचार-विनिमय हो, खूब गम्भीर विचार हो, तब कुछ फल निकलता है।

यह बड़ी भारी त्रुटि हममें है कि हम ऐसे सम्मेलनों को अज्ञ-तज्ज्ञ-विज्ञों का एक विचित्र झमेला बना देते हैं। हम एक आवश्यक तत्व को भुला बैठते हैं, वह यह है कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

अव्रतानामऽमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

यं वदन्ति समीभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥

जब हम प्रबन्ध-सम्बन्धी बातों में ही अज्ञसमुदाय की कसरत राय अथवा अज्ञ-विज्ञ-तज्ज्ञों के मिश्रित बहुमत का कटु फल चाखते रहते हैं, तब धर्ममीमांसा के दुर्गम कार्य में सबको हाथ उठाकर अनुमति देने की प्रथा डालना अपना ही नाश करना

है। इस प्रथा से तज्ज्ञ और विज्ञ अज्ञ जनसमुदाय की प्रसन्नता के आकांक्षी रहते हैं, वे पदे-पदे आत्महनन और कभी अनर्थ भी कर डालते हैं, जिसका परिणाम जनसमुदाय अथवा समाज के लिए हानिकारक हो जाता है।

मैं ये सब बातें इसलिए स्पष्ट लिख रहा हूँ कि

'अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी' (मनु)

यदि मैं यथार्थ न कहूँ तो जिस पद से यह भाषण दे रहा हूँ उसके लिए अपने आपको अयोग्य सिद्ध करूँगा।

इतनी विवेचना के पश्चात् हम यह कहना चाहते हैं कि हम कुलपरम्परा से ऋग्वेदी ब्राह्मण हैं। हमारी शाखा है आश्वलायन, हमारा ब्राह्मण है ऐतरेय। इससे यह न समझिए कि अन्य वेद, शाखा अथवा ब्राह्मण हमारे नहीं हैं।

इसीलिए आज हम इस वेदसम्मेलन के अवसर पर ऋग्वेद के ही कतिपय गम्भीर प्रकरण सुनाकर इस भाषण को समाप्त करते हैं। किन्तु मैं इस विवेचना में पड़ा हूँ कि साढ़े दश सहस्र मन्त्रयुक्त ऋग्वेद का कौनसा प्रकरण सुनाऊँ, यजुर्वेद का स्वराज्य-सूक्त सुनाऊँ, सामवेद का कोई सूक्त सुनाऊँ, अथवा अथर्व-वेद का पृथिवी अथवा लक्ष्मीसूक्त सुनाऊँ, अथवा वर्तमान समय में साम्यवाद की छीछालेदर का ध्यान रखकर अनन्तकाल पूर्व की एक सुन्दर ऋचा सुनाऊँ। देहरादून में एक महाशय मूल चारों वेद हमारे पास ले आये और कहने लगे कि इनमें से पचास-साठ अच्छे-अच्छे मन्त्र छाँट दीजिए। हमने कहा—महाशय, वेदों के सभी मन्त्र अच्छे हैं। उनमें उत्तम, मध्यम, निकृष्ट की कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, हम अपनी ही बुद्धि से उनमें भेद भले ही कर डालें, पर वह होगी हमारी कोरी अज्ञता। हाँ, तो कौनसा सुनाने को आप कहा रहा था। अब मैं जो कुछ सुना

ऊँगा उसपर यदि आचरण हो तो आज हमारी पेट की समस्या हल हो सकती है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥
(ऋ० ८-६-२३-१)

इस मन्त्र का ऋषि है भिक्षुनामा आङ्गिरस ऋषि, इसमें अकेले-अकेले खानेवाले की, केवल अपने लिए चूल्हा चढ़ाने-वाले की घोर निन्दा की गई है।

उस मनुष्य का अन्न पाना व्यर्थ है। किसका ? (अप्रचेताः) मूढ़ पुरुष का, जिसको अन्न के यथार्थ उपयोग का ध्यान नहीं। (सत्यं ब्रवीमि) मैं सत्य कहता हूँ, वह अन्न (वध इत्स तस्य) तो उस मूढ़ पुरुष की मौत है।

उसके पास वह अन्न न पहुँचकर किसी अधिकारी के पास पहुँचता तो अच्छा रहता, अथवा वह पुरुष अन्न के विना ही तरस-तरस के मर जाता तो अच्छा होता। क्यों ? इसलिए कि न तो उससे "अर्यमणं पुष्यति" सूर्यादि देवताओं की पुष्टि होती है अर्थात् यज्ञ-यागादि होकर संसार का कल्याण होता है और "नो सखायं" न ही अपने अड़ोसी-पड़ोसी ग़रीबों को, अपेक्षितों को लाभ पहुँचता है। मैं सच कहता हूँ, जो केवल अपने लिए पकाता है अथवा अपने आप ही खा जाता है, देवता, मनुष्य अथवा पशुओं का भाग नहीं निकालता, उस पाप का भागी अकेला वही होता है।

कहिए, इस सुन्दर वैदिक आदेश पर जो व्यक्ति, जाति, समुदाय, देश, राष्ट्र चलेगा वह दुःखी क्यों होगा। उनकी रीति-नीति क्यों बिगड़ेगी ? यजुर्वेद का एक और मन्त्र सुनिए:—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा॥ (यजु० ३-५०)

यह है विश्वबन्धुत्व का नमूना। इस मन्त्र का देवता है "बन्धु"। 'बन्धु' उसको कहते हैं जिनका समान बन्धन हो। बन्धुओं में सबका 'नाभिबन्धन' समान होता है, क्योंकि "नाभ्या संनद्धाः गर्भा जायन्ते"। इसीलिए सगोत्रों को, सजातीयों को 'सनाभि' कहा जाता है। (निरुक्त)

हे बन्धो! मेरे पास जो वस्तु नहीं और तेरे पास विशेष रूप से है, कृपया मुझे दे दे और मेरे पास जिस वस्तु की अधिक मात्रा है मैं तुझे प्रसन्नतापूर्वक दे दूँगा। यदि तू हमारे यहाँ पहुँचायेगा तो हम भी तेरे यहाँ पहुँचाते रहेंगे। क्यों भाई, मेरे भाग में से तू कुछ लेना चाहता है तो ध्यान रख कि तेरे भाग में से भी, जब आवश्यकता पड़ेगी मैं कुछ ले सकूँगा।

आदान-प्रदान की कैसी सुन्दर व्याख्या है। इसपर आचरण रहे तो किसको किस वस्तु की कमी रह सकती है?

उपस्थित सभ्यों से मेरा अनुनय है कि वे आज ही से इन तत्त्वों को समझकर आचरण प्रारम्भ करें। फिर देखिए कैसा आनन्द आता है। उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, अन्य अनेक व्यवहार करते, बोलते-बतलाते समय इन सुन्दर तत्त्वों का ध्यान रखिए।

मैं प्रत्येक विद्वान् से अनुरोध करूँगा कि वह प्रतिदिन दशम मण्डल, अध्याय ६, सूक्त ७१ का मनन करे। इसके ऋषि हैं बृहस्पति, इस सूक्त के देवता हैं 'ज्ञान' इसीलिए इसका नाम ज्ञानसूक्त है। इस सूक्त में क्या ही भावपूर्ण मंत्र है:—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदी शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

प्रियबन्धुओ! वेदसम्मेलन में मण्डल १०, अध्याय ११, सूक्त १२९ जैसे सूक्तों पर विचार होना चाहिए, देखिए कैसे कैसे गूढ़ प्रश्न हैं।

विद्वानों द्वारा परस्पर जिज्ञासापूर्वक प्रश्न होकर समाधान होना चाहिए। प्रत्येक विद्वान् दूसरे विद्वान् को "सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" कहकर वेद-विनोद करे, फिर देखिए वेद किस प्रकार प्रसन्न होते हैं। वह सूक्त यह है:—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी[3] दुपरि स्विदासी[3]त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

आओ विद्वानो, हम पवित्र वेदों के दर्शन करें। पवित्र वेदों से पवित्र ज्ञान सीखें। इस कार्य में जितनी भी श्रद्धा, तप कर सकें, करें। यह तभी हो सकेगा जब हम प्रातःकाल उठकर श्रद्धा-सूक्त से प्रातरनुवाक कहें, व्यक्तिगत रूप में भी और समष्टिरूप में भी। आओ, हम सब मिलकर सच्चे हृदय से कहें—

समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति, यथा वः सुसहासति ॥
(ऋ० १०-१२-१९१-४)

यहाँ द्विरुक्ति बल देने के लिए कही गई है।

इस पाठ के पश्चात "वः" के स्थान में "नः" को रखकर भी पाठ करें, इसीमें हमारा कल्याण है।

"वः" के स्थान में "नः" को सुनकर घबराइए नहीं। कल्प-शास्त्र हमको ऐसा करने की अनुमति देते हैं, इसीलिए जो ब्राह्मण ऊहना को नहीं जानते वे वेदों को समझ भी नहीं सकते। इसीलिए प्रारम्भ में कहे गये मन्त्र में ब्राह्मणाः का विशेषण "ओहब्रह्माणः" है। स्मरण रखिए—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋग्वेद ५-४-४४-१४)

जो जागता है उसी को ऋक् चाहता है, यजुः चाहते हैं, साम चाहते हैं, अथर्व चाहते हैं। जो जागता है, उसी को सोम कहता है कि लो भाई मैं तेरा मित्र हूँ, मैं तेरे साथ ही रहूँगा।

खेद है कि हम लोग वेद-विषय में इतने नहीं जाग रहे हैं, खेद है कि आर्य-जगत् के पुरोहित जिनको तारस्वर से यह कहना चाहिए था कि—

राष्ट्रे वयं जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा। (अथर्व०)

'हे संसार के लोगो, हम राष्ट्र-पुरोहित जाग रहे हैं, घबराओ मत।' वही सो रहे हैं।

प्रिय बन्धुओ! आपमें से अनेक कहेंगे कि हम इतना तो काम कर रहे हैं, आप हमको सोया हुआ क्यों बतलाते हैं। मैं कहता हूँ कि आपका काम करना ऐसा ही है, जैसा निद्रा-रोगी पुरुष के सदृश है जो रात्रि को निद्रा की तन्द्रा में हो

मीलों चल लेता है और प्रातःकाल होते ही चौंक जाता है कि मैं कहाँ आ गया।

इसलिए अनुबन्ध-चतुष्टय को—विषय, प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध इनको—अच्छी तरह समझकर अति गम्भीर वेदार्थ को समझने का प्रयत्न कीजिए। इस बात का भी ध्यान रखिए कि वेदार्थज्ञान के प्रयत्नों में भावशुद्धि भी एक प्रबल कारण है, जैसा कि मनु ने कहा है—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

गुरुकुलों की सृष्टि ही नियमोपनियमों के पालन, तपस्तपन, त्याग, यज्ञ, वेदों की वेदनविधि और वेदोपबृंहण के लिए है। यह सब भावशुद्धि पर निर्भर है। गुरुकुलों के ब्रह्मचारी यदि यह न कर सके तो "सर्वंभस्मनि हुतम्" समझना चाहिए।

ब्रह्मचारियों को निरुक्त के शब्दों में शेवधि, निधि बनना चाहिए तभी कुछ होगा। शुचि, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्योपपन्न गुरुभक्त होना चाहिए तभी वे शेवधि कहला सकेंगे, तभी विद्या सफल होगी। उनको स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे। तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे॥
स जातो वभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते।

ऐसे ही शुचि, यति-व्रती ब्रह्मचारी संसार में कुछ कर सकेंगे, नहीं तो अन्य साधारण ब्रह्मचारी आर्यजगत् के लिए

शाकाय वा स्यात्, लवणाय वा स्यात्।

सिद्ध होंगे। अन्त में सब विद्वानों से यही प्रार्थना है कि आइए, कर्म-कर्तृ-साधन-वैगुण्य से हममें क्या-क्या दोष उत्पन्न हो गये हैं—इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। वेदन-विधि के पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि व सन्धान को ठीक करें।

४—ज्वालापुर-महाविद्यालय-जयन्ती के वेदसम्मेलन में सभापति श्रीशास्त्रीजी का भाषण

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
(ऋ० अ० २ अ० ३ व० २१)

जिसने ऋग्-यजुः-साम-अथर्व, इस वेदचतुष्टयी का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन तो किया, 'अपरा' विद्या में पारङ्गत तो हुआ, किन्तु जिसमें उपवर्णित 'परा' विद्या द्वारा उस अक्षर=परमात्म-देव=ॐ को नहीं जाना, उसने किया ही क्या? केवल 'अक्षर' विद्या आई किन्तु उसके द्वारा 'नक्षर' तत्व का बोध न हुआ तो फिर क्या हुआ? जो विद्वान् ऋगादि के अक्षरों द्वारा उस "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" को जानते हैं जिसमें कि समस्त ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है, वे ही ऋगादि के तत्व को जानते हैं अन्य तो शब्दब्रह्म में उलझे रहते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा है—

तमेव धीरो विज्ञाय, प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्, वाचो विग्लापनं हि तदिति॥

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि उसी परमात्मतत्व को जानकर जन्म को सार्थक करे, केवल शब्दब्रह्म की उलझन में ही न पड़ा रहे। केवल शब्दों में उलझे रहने से वाग्देवी का अपमान होता है। वह ॐ तत्व ही है, जिसकी प्राप्ति से जन्म अर्थवत् हो सकता है।

जो आदित्यदेव दिन के बारह घण्टों में भिन्न बारह रूप धारण करते रहते हैं, जो बारह महीनों में बारह रूप धारण कर-के वैदिक शब्द में "अनूप" कहलाते हैं, मुख्य तीन देवताओं में जिनका प्रथम नम्बर है, ऐसे आदित्यदेव को नहीं जाना तो फिर क्या जाना ?

वेद मनुष्यमात्र को कर्त्तव्य-पथ का प्रबोधन कराने के लिए हैं, उनमें प्रदर्शित विधि-निषेध-रूप कर्त्तव्य ही मनुष्य का कल्याण कर सकते हैं। वेदों द्वारा ही ऐहिक और आमुष्मिक सुख मिल सकता है। वही अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन है। इसीलिए

"उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति" (निरुक्त)

वेदमन्त्रों के कई-कई अर्थ हो जाते हैं। जिन पवित्र वेदों में बीजरूप में समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान विद्यमान है उन वेदों के मन्त्रों के कई-कई अर्थ हों तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक इन तीन प्रकार के अर्थों में ही सब प्रकार के अर्थों का निवेश-सन्निवेश समझिए, ऐतिहासिक अर्थ तो अर्वाचीन समय के हैं।

ऐतिहासिकों में भी दो पक्ष हैं। एक तो पुराकल्प के इतिहास को माननेवाले, दूसरे इसी कल्प के इतिहास को माननेवाले। आश्चर्य यह है कि श्रीसायणाचार्यजी ने अपनी भूमिका में ऐतिहासिक अर्थ का खण्डन करके भी भाष्य करते समय पुराकल्प के आधार पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक अर्थ किये हैं। इस विषय में महर्षि स्वा० दयानन्द जी की पोज़ीशन (स्थिति) स्पष्ट है। यदि श्री सायणाचार्य और स्वा० दयानन्द की भाष्य-भूमिकाओं की तुलना की जाय तो दोनों भाष्यभूमिकाओं में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। सायण कहीं-कहीं ऐतिहासिक अर्थ करते हुए अधियज्ञ अर्थों की ओर झुके हैं और स्पष्ट है

कि वे आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक अर्थों को भी मानते हैं और स्थान-स्थान पर ऐसे अर्थ करते हैं। श्री स्वा० दयानन्द जी मनूक्त रीति का अनुसरण करते हैं। मनु कहते हैं कि "अशक्यं चाप्रमेयं च" अर्थात् वेदों को मनुष्य बना नहीं सकता। ऐतिहासिक पक्ष मान लेने पर वेदों को वह महत्ता ही नहीं रहती। आश्चर्य यह है कि सायणाचार्य "यस्य निःश्वसितं वेदाः" इस तत्व को मानते हुए भी वेदों में पुराकल्प के आधार पर इतिहास मानते हैं। इस कल्प के आधार पर इतिहास माननेवालों का पक्ष तो नितान्त निर्बल है। वेद-निर्वचनकार यास्क तो अपनी अपूर्व निर्वचन-पद्धति से स्पष्ट बतला रहे हैं कि वे ऐतिहासिकों के अर्थों से असहमत हैं, आन्तरिक प्रमाणों से यह बात स्पष्ट रूप में सिद्ध की जा सकती है।

सायणाचार्य

(१) वेदों को ईश्वर-निःश्वसित मानते हैं। (२) तीनों प्रकार के अर्थों को मानते हैं पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक अर्थ, विशेषरूप से अधियज्ञ अर्थ करते हैं। कहीं-कहीं पौराणिक अर्थ करते हैं जैसे "दाधर्थ पृथ्वीमभितः मयूखैः" का अर्थ "वराहादिदशावतारैः" ऐसा किया है। सायणभाष्य में कहीं-कहीं ऐसी विसङ्गतता है। इस मन्त्र का सीधा अर्थ यह है कि सूर्य "मयूखैः" किरणों द्वारा पृथ्वी का धारण, पोषण, पालन करता है। (३) ऋषियों का मन्त्रद्रष्टत्व मानते हैं।

निरुक्तकार

(१) वेदों का ऋषियों के हृदय में स्वयं प्रकट होना मानते हैं। (२) तीनों प्रकार के अर्थ मानते हैं। ये भी इतिहास नहीं मानते केवल ऐतिहासिक पक्ष का दिग्दर्शन करा देते हैं। (३) ऋषियों का मन्त्रद्रष्टत्व स्वीकार करते हैं।

स्वामी दयानन्द

(१) अग्निवायुरविभ्यस्तु (मनु) को मानते हैं। (२) तीनों प्रकार के अर्थ मानते हैं किन्तु ऐतिहासिक अर्थ नहीं मानते। इनका सिद्धान्त अटल है। यही मन्वादिकों का स्पष्ट सिद्धान्त है। (३) ऋषियों का मन्त्रदृष्टत्व मानते हैं।

इस विषय में हम यहाँ अधिक न लिखकर मुख्य विषय पर आते हैं।

प्रत्येक मन्त्र के कई-कई अर्थ करना और उनकी सङ्गति बैठाना साधारण व्यक्ति अथवा साधारण विद्यावाले पुरुष का काम नहीं।

"पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति" (निरुक्त) निरुक्त के शब्दों में 'पारोवर्य्यविद्' ही समर्थ है।

ऊपर जो "ऋचो अक्षरे" यह मन्त्र उद्धृत किया गया है, निरुक्तकार ने इसके कई अर्थ जतलाये हैं। निरुक्तकार की यह प्रसिद्ध शैली है कि वह जितने भी अर्थ हो सकते हैं उन सबका सङ्ग्रह कर देता है—"इत्याधिभौतिकम्"—यह आधिभौतिक अर्थ हुआ, "इत्याधिदैविकम्"—यह आधिदैविक अर्थ हुआ, "इत्यध्यात्मम्"—यह अध्यात्म अर्थ हुआ, "इत्यधियज्ञम्"—यह अधियज्ञ अर्थ हुआ। कभी-कभी अपने से भिन्न मत रखनेवाले सहयोगियों का उल्लेख कर देते हैं और उनका सम्मान रखते हैं—इति "शाकपूणिः"—"इति स्थौलाष्ठीविः"—इति "चर्मशिराः"—इत्यादि। कहीं-कहीं "पूर्वे याज्ञिकाः" कहकर अपने से पूर्व पुरुषों के मतों का भी दिग्दर्शन करा डालते हैं। कई स्थलों में सम्प्रदाय-भेद से भी अर्थ-भेद चल पड़ा है। सम्प्रदाय से अभिप्राय है शाखा-सम्प्रदाय का, गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय का।

अब वेदमूल का उपबृंहण किस प्रकार हुआ करता था, इसका छोटा-सा दिग्दर्शन कराते हैं।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
(निरुक्त)

इस शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठवाँ मन, सातवाँ बुद्धि—ये सात ऋषि हैं जो बिना किसी प्रमाद के शरीर की रक्षा करते रहते हैं। किन्तु जब शरीर सो जाता है तब दो देव जागते रहते हैं—यह इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ हुआ।

इस मन्त्र में "देवौ" शब्द है, जिसके दो विशेषण हैं "अस्वप्नजौ" "सत्रसदौ"। बस इतना मूल मिलना चाहिए था कि ऋषियों ने उसका उपबृंहण किया। वह इस प्रकार—

जागृत अवस्था का जीव 'विश्व' कहलाता है, स्वप्नावस्था का जीव 'तैजस' और सुषुप्ति अवस्था का जीव है 'प्राज्ञ'।

माण्डूक्योपनिषद् में इसी को विशद किया है—

"जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः"।

"स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः"

"यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।"

गौडपादीय कारिका में इसी विषय में सरल शब्दों में कहा है:—

बहिः प्रज्ञो विभुर्विश्वः, अन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञः, एक एव त्रिधा स्मृतः॥

दक्षिणाक्षि मुखे विश्वः, मनस्यन्तश्च तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञः, त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥

इसी उपर्युक्त सप्त ऋषियों के विषय में यह एक और वेदमन्त्र है:—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥(निरुक्त)

इस वेदमन्त्र में "विश्वरूप यश" का उल्लेख आया है। यह विश्वरूप "यश" क्या है? वही नित्य आत्मतत्व जो कि स्थान और अवस्था भेद से 'विश्व' 'तैजस' 'प्राज्ञ' रूपवाला हो जाता है। इस नश्वर शरीर में आकर "विश्वरूप यश"की प्राप्ति न हुई तो फिर डूबे रहो शोक-मोह के दुस्तर सागर में।

इस मन्त्र में एक और महत्वयुक्त शब्द है, वह है 'ऊर्ध्वबुध्न'। इसी मूल को लेकर गीता और कठोपनिषद् ने उपबृंहण किया है—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठवल्ली ६)
"ऊर्ध्वमूलमधः शाखः।" (गीता)

महाभारत ने इससे भी अधिक सुन्दर शब्दों में उपबृंहण किया है। तभी से,

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'

यह बात चल पड़ी। अधिकारी-भेद से वेदोपबृंहण भी कई प्रकार का होता है। सामान्य जनता तो वेदतत्वों को तभी समझ पाती है जब कि उन तत्वों का इतिहास पुराणों से उपबृंहण किया जाय।

यदि वेद 'सत्यं' का प्रतिपादन करता है तो "सत्येन पन्था विततो देवयानः" को समझने के लिए उपबृंहण की आवश्यकता है। लौकिक सत्य की बात को समझने के लिए भी महाभारत से जानकारी रखनी पड़ती है, पारमार्थिक सत्य को समझने के लिए उपनिषद् जैसे रहस्य शास्त्रों की।

हम लोग वेदोपबृंहण की विधि भूल गये। जो कुछ पूँजी है वह पुरातन पूर्वजों की है। उसीपर हम उछल-कूद रहे हैं। इस विज्ञान-युग में वेदोपबृंहणविधि को विशदरूप में विस्तृत करने की आवश्यकता है।

मैं यदि एक-एक वेद-मन्त्र को लूँ और किस प्रकार उपबृंहण-विधि हुई यह बतलाऊँ तो एक महाकाय ग्रन्थ बन जायगा।

वेद आर्यजाति के प्राण हैं, वेद आर्यसंस्कृति के मूलाधार हैं, वेद आर्यजाति का अक्षय्य भण्डार है, वेद हमारी अनन्त काल से क्रमागत सम्पत्ति है, इस सम्पत्ति की रक्षा करना और उसको सुरक्षित रूप में भावी पीढ़ी तक पहुँचाना हमारा कर्त्तव्य है। इसीलिए महर्षि स्वा० दयानन्द ने वेदों के विषय में इतना बल दिया। इसीलिए आर्यजाति की शिक्षाप्रणाली में वेदों का अग्र-स्थान रहा है। इसीलिए

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्म के इस साक्षात् लक्षण में वेद का प्रथम स्थान है। जिसने इस तत्त्व को नहीं जाना उसके विषय में यही कहना सार्थक होगा कि—

"यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति"

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' की बात इसीलिए तो कही गई है।

इसीलिए तो ब्राह्मणकार, अनुब्राह्मणकार, उपनिषत्कार, शास्त्रकार, स्मृतिकार वेद का नाम लेतेही 'ॐ' कहकर नतमस्तक होते रहे हैं।

सृष्टि की आदि से ही वेद आर्यजाति के प्राण और संसार के मार्गदर्शक रहे हैं। बीच में परचक्र के कारण जब आर्यजाति का साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया तब वेदप्राण आर्यजाति के अग्रजन्माओं ने स्वरसहित वेदों को कण्ठस्थ करके वेदपरम्परा चलाई। केवल वेदों को ही कण्ठस्थ नहीं किया अपितु वेदों के साथ ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्रग्रन्थ, गृह्यसूत्रग्रन्थ आदि सभी वेदोपयोगी साहित्य को कण्ठाग्र कर डाला। इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से वेदों की रक्षा होती रही। किन्तु जब इधर की पीढ़ियों में बुद्धि का ह्रास होने लगा और धारणाशक्ति कम होती गई तब समयानुरूप वेदरक्षार्थ वेदाङ्गों की सृष्टि हुई जिनसे भी वेद-परम्परा चलती रही। अब तो दुर्दैव से ऐसा समय आया है कि—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कवयो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥

यही उक्ति चरितार्थ हो रही है। वेद तो दूर रहे छः शास्त्रों का भी पूर्ण रीति से अध्ययन नहीं होने पाता। इसीलिए जिस प्रकार ऋग्वेदियों ने ऋग्वेद को, यजुर्वेदियों ने यजुर्वेद को, सामवेदियों ने सामवेद को सँभाल रखा, इसी प्रकार एक-एक शास्त्र सँभालकर उसमें पारङ्गत होने की विधि चल पड़ी। वैय्याकरण, नैय्यायिक, सांख्य, मीमांसक, वेदान्ती, याज्ञिक, वैदिक आदि शिक्षा के सम्प्रदाय बने। साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन की लड़ी टूट गई। उन सब आर्यसंस्कृति व आर्षशिक्षा-प्रणाली के उपासकों का हमें कृतज्ञ होना चाहिए, जिन्होंने कि जिस प्रकार भी हो सका वेदपुरुष की रक्षा की। राज्याश्रयाभाव, लोकाश्रयाभाव, परचक्र, दैन्य, दासता के दिनों में यह कार्य भी कम महत्त्व का नहीं।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने जिस शिक्षा-पद्धति के प्रयोग करने के विषय में लिखा है, उस पद्धति को वे ही शिष्य और गुरु सफल कर सकते हैं जो शुद्धान्तःकरण से

"सह नौ यशः, सह ब्रह्मवर्चसम्"

का पाठ करेंगे। वहीं वेद सफल और प्रसन्न होंगे, तेजस्वी बनेंगे, जहाँ के गुरु-शिष्य

सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥ (तै०उपनिषद्)

इस शान्तिपाठ को प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पढ़ते रहेंगे और "मा विद्विषावहै" इस तत्व को न भूलेंगे।

वेद प्रसन्नतापूर्वक उसी गुरुकुल में साङ्गोपाङ्ग क्रीड़ा करते रहेंगे जहाँ के गुरु ब्राह्म मुहूर्त्त में 'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे' इत्यादि प्रातरनुवाक के पश्चात् भगवान् से प्रार्थना करते रहेंगे कि

आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणःस्वाहा।
प्र मा यन्तुब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।
शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। यशोजनेऽसानि स्वाहा॥
अथाऽपः प्रवता यन्ति, यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मां ब्रह्मचारिणः, धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा॥ (तै० उपनिषद्)

वेद का क्रीड़ाङ्गण वे ही गुरुकुल होंगे जहाँ के शिष्यवर्ग निरुक्त के शब्दों में 'शेवधि' अर्थात् सच्चे 'निधि' होंगे।

स्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा-प्रणाली का कई "अनुभव-शालाओं" में 'प्रयोग' हो चुका है और अनुभव यह बात बतला रहा है कि महाभाष्य के प्रिय शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि—

"कर्त्तव्योऽत्र यत्नः" "सैषा महतो वंशस्तम्भाल्लब्ध्वानुकृष्यते" इत्यादि।

वेद तभी तेजस्वी होंगे और वरदान देंगे जब शिक्षा-प्रणाली में कार्य करनेवाले गुरु-शिष्य 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति'—इस पवित्र निष्कारण धर्म का ध्यान रखेंगे, धर्म के तीनों स्कन्धों में—यज्ञ, अध्ययन, दान में इस 'निष्कारण' धर्म पर दृष्टि रखकर प्रवृत्त होंगे।

वेदों का अध्ययन आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक दृष्टि से तो हो किन्तु अधियज्ञ दृष्टि से भी वेदों का बहुत महत्त्व है। इसीलिए कालार्क-भक्षित यज्ञ-याग-पद्धतियों का उद्धार भी आवश्यक है, नहीं तो यजुर्वेद अध्याय अष्टादश में उपवर्णित 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' को पहेली समझना नितरां असम्भव हो जायगा। जिन वेदों के विना वैदिक साहित्य ही कुछ नहीं रहता, जिन वेदों के विना आर्यजाति क्षणार्द्ध में मृतप्राय हो सकती है, उन वेदों की रक्षा ही आर्यसमाज के जीवन का मुख्य प्रश्न है। जिस पवित्र,कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'भुवनमनमोहिनी' भारत-भू का सर्वोच्च भाग महाप्रलयावस्था के पश्चात् सबसे पहले दोधूयमान महान् जलराशि के ऊपर उठा, जिस पावन पुण्यभूमि में सबसे पूर्व मनुष्य-सृष्टि हुई, ईश्वर की प्रिय जिस भूमि में हमारे अति पुरातन पूर्वजों ने सबसे पूर्व आँखें मीचकर अभिध्यान द्वारा भीतर ही भीतर 'वेद-प्रकाश' के और आँखें खोलने के पश्चात् संसार के प्रिय 'सूर्य-प्रकाश' के दर्शन किये, उन ऋषि-मुनि-महर्षियों द्वारा परम्परागत वेदों पर हम भारत-वासियों का, आर्यसंस्कृति के उपासकों का, जन्मसिद्ध अधिकार है। वह जन्मसिद्ध अधिकार संसार भर को शान्ति, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि द्वारा स्वर्गधाम बनाकर मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए

है। जब हम ऐसा कर सकेंगे तभी हम यजुर्वेद के शब्दों में गौरव व अधिकार-प्रयुक्त वाणी का प्रयोग कर सकेंगे कि—

सत्यं च मे, श्रद्धा च मे, जगच्च मे, धनं च मे,
विश्वं च मे, महश्च मे, क्रीडा च मे, मोदश्च मे,
जातं च मे, जनिष्यमाणं च मे, सूक्तं च मे, सुकृतं च मे,
यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८-५)

याज्ञिकों की परिभाषा में इस प्रकरण का नाम है 'चमकाध्याय,' क्योंकि इसमें 'च मे' 'च मे' बहुत बार आया है। वेदोपासकों का चमत्कार इसी अध्याय में भरा पड़ा है।

अब मैं श्री महर्षि दयानन्द के हृद्गत अभिप्राय के द्योतक एक अवतरण को देकर अपना भाषण समाप्त करता हूँ।

"इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्य अवश्यास करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते-कराते हैं, इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि

हों विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं, वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते इसलिए वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या-सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्याव्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।"

ईश्वर भारत को वह दिन फिर दिखलाये जिसमें भारत के विस्तृत प्राङ्गण में स्वधर्म, स्वशिक्षा, स्वराज्य का बोल-बाला हो और भारत संसार का उपकार करने में समर्थ हो सके।

५–विरजानन्द-साधु-आश्रम-जयन्ती के सरस्वती-सम्मेलन में सभापति श्रीशास्त्रीजी का भाषण

:o:

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥
(ऋ० १–१–३–११)

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामवित्र्यवतु ॥
(ऋ० ६–५–६१–४)

सरस्वती साधयन्ती धियं नः इळा देवी भारती विश्वमूर्तिः ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥
(ऋ० २–१–३–८)

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ॥
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥
[ऋ० १०–२–१७–७]

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
[ऋ० १०–२–१७–९]

सरस्वती का आह्वान

सत्य की खोज में प्रेरणा करनेवाली, सुमति वालों को चेतानेवाली सरस्वती यज्ञ की पालक, पोषक व धारक है।

५—विरजानन्द-साधु-आश्रम-जयन्ती के सरस्वती-सम्मेलन में सभापति श्रीशास्त्रीजी का भाषण

:o:

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥
(ऋ० १–१–३–११)

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामवित्र्यवतु ॥
(ऋ० ६–५–६१–४)

सरस्वती साधयन्ती धियं नः इळा देवी भारती विश्वमूर्तिः ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥
(ऋ० २–१–३–८)

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ॥
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥
[ऋ० १०–२–१७–७]

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
[ऋ० १०–२–१७–९]

सरस्वती का आह्वान

सत्य की खोज में प्रेरणा करनेवाली, सुमति वालों को चेतानेवाली सरस्वती यज्ञ की पालक, पोषक व धारक है।

बुद्धि की रक्षा करनेवाली सरस्वती हमको सब प्रकार का बल देवे। बुद्धि को साधनेवाली सरस्वती देवी अन्य दो देवियों के साथ अर्थात् इडा और भारती के साथ हमारे स्थान अथवा धाम में आकर हमको समस्त दोषों से बचावे। पुण्यात्मा पुरुष ही, जिनकी सदा सत्कर्मों में रुचि रहती है, सदा सरस्वती की कामना करते हुए यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान करते हैं। यज्ञ जब प्रज्वलित होता है तब भी सरस्वती का ही आह्वान करते हैं। क्योंकि सरस्वती अपने उपासकों को वार्य=वरणीय वस्तुओं को दे देती है, सब कामनाओं को पूर्ण कर देती है। जिस सरस्वती को हमारे पितृपितामह बुलाते रहे, जिसकी प्रसन्नता के लिए यज्ञ-यागादि द्वारा दान-दक्षिणा देते रहे, अर्घ्यादि द्वारा विद्वानों की पूजा करते रहे, वह सरस्वती हम लोगों पर भी कृपादृष्टि रखकर हमारे सब शुभ मनोरथों की पूर्ति करती रहे।

सरस्वती-भक्तों का सम्मेलन

यह सम्मेलन सरस्वती-भक्तों का सम्मेलन है, इसलिए हम इसको सरस्वती-सम्मेलन कहते हैं। संसार में जब से मनुष्य नामक प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने होश सँभाला है तभी से वह इस उधेड़-बुन में लगा हुआ है कि मैं कौन हूँ, संसार में मैं किसलिए आया हूँ? स्वयं आया हूँ अथवा किसी ने बल-पूर्वक भेजा है? इस प्रकार मुझे यहाँ भेजने में उसका क्या उद्देश्य है? इस सृष्टि को किसने बनाया? क्यों बनाया? किस मसाले से बनाया? किस आधार पर बनाया? वह बनानेवाला कहाँ रहता है? किस प्रकार रहता है? उसका स्वरूप क्या है? उस को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? मैं और वह इन दोनों का क्या सम्बन्ध है? मैं उसके अधीन कब से हूँ? क्यों हूँ? कब तक रहूँगा? इस सृष्टि से भिन्न अनेक लोक-लोकान्तर सृष्टिगोचर होते हैं, क्या वहाँ भी मुझ-जैसे प्राणी होंगे? वहाँ के और यहाँ के प्राणियों

में भेद विशेष क्यों है ? मुझे इन इन्द्रियों का स्वामी बतलाया जा रहा है, मैं स्वामी कैसा जब कि ये ही मुझे यथेच्छ घसीटकर जिधर चाहे ले जाती हैं ? ये इन्द्रियाँ कैसे बनीं ? मुझसे क्यों चिपटीं ? यह मन भी क्या बला की वस्तु है ? कहते हैं यही बन्धन का हेतु है और मोक्ष का साधन है—इत्यादि इत्यादि।

इन प्रश्नों को हल करने में,

इन प्रश्नों का समाधान-परक उत्तर प्राप्त करने-कराने में, सरस्वती देवी तथा वाग्देवी ने बड़ी सहायता दी है और सदैव देती रहेगी। सरस्वतीदेवी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार प्रकार की भाषाओं की जननी है। वैखरी वह है जिसको मनुष्य बोलते हैं। यदि वैखरी न हो तो समस्त संसार शून्य-सा दिखलाई देगा। वाग्-व्यवहार के विना संसार का साधारण से साधारण व्यवहार नहीं चल सकता। वैखरी के विना यह लोक एक गूँगों की सृष्टि हो जायगी। मध्यमा वह है जो कि प्रकट वैखरी रूप में बोलने के पूर्व मनुष्य हृदय में ही बोल लेता है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्, मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥

आत्मा जब कुछ कहना चाहता है तब वह कहने की इच्छा से मन को प्रेरणा करता है। मनीराम शरीर की अग्नि को आज्ञा देते हैं और वह कायाग्नि भीतर की वायु को प्रेरणा करता है।

यहाँ तक जो कार्यवाही होती है वह मध्यमा का प्रताप है।

मारुतस्तूरसि चरन्, मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

मरुत् उरस्थल में से ऊपर उठता हुआ स्वर को स्पष्ट रूप में प्रकट करता है, वही मध्यमा इस प्रकार वैखरी रूप में आती है। पश्यन्ती मध्यमा से सूक्ष्म है और परा तो इससे भी परे की बात है। प्रातिभ ज्ञान को प्राप्त करनेवाले योगियों के हृदयान्तस्तल

में होनेवाली बात-चीत का नाम 'परा' है। ऐसे ऋषियों के स्वच्छ हृदयाकाश में सबसे प्रथम वेद का प्रकाश हुआ। वही वेद सरस्वती के जनक-जननी हैं। पुराणों में सरस्वती का जनक ब्रह्मा को बतलाया है। निरुक्त की व्याख्या में "ब्रह्मा परिवृढः श्रुतितः" ब्रह्मा वह है जो श्रुति से ऐश्वर्यवान् बने। ऐसे चतुर्वेद-मुख ब्रह्मा को निःसन्देह सरस्वती का पिता कह सकते हैं क्योंकि 'पालनात् पिता'। ब्रह्मा ने ही वेदों का पालन किया और वेद-परम्परा वहीं से आगे चली।

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता, भुवनस्य गोप्ता"

उपर्युक्त रीति से वेद से सरस्वती उत्पन्न हुई। वेद जब सरस्वान् हुए तब उस वेद की सरस्विता सरस्वती में आनी ही चाहिए। इस प्रकार—

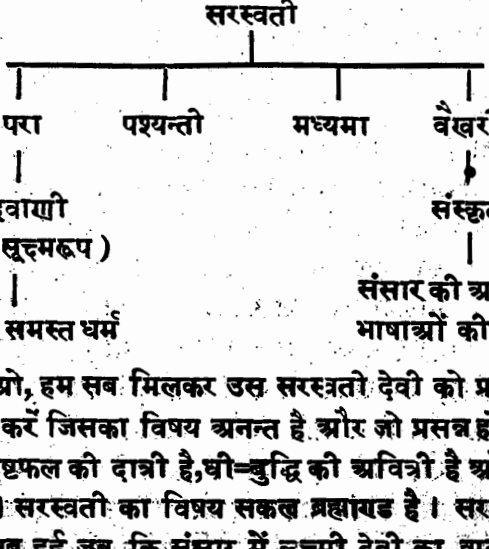

आओ, हम सब मिलकर उस सरस्वती देवी को प्रसन्न करने की चेष्टा करें जिसका विषय अनन्त है और जो प्रसन्न हो जाय तो समस्त इष्टफल की दात्री है, धी=बुद्धि की अधित्री है और विश्व-मूर्त्ति है। सरस्वती का विषय सकल ब्रह्माण्ड है। सरस्वती की उत्पत्ति तब हुई जब कि संसार में लक्ष्मी देवी का अत्यन्ताभाव

था, उस समय उसका ध्वंसाभाव भी नहीं था। सरस्वती के भक्तों को यह उचित नहीं है कि वे लक्ष्मी अर्थात् कला के पीछे पड़कर अकला सरस्वती को भुला देवें अथवा उसका तिरस्कार करें। जिस सरस्वती का,

त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः,
एकशतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाहृच्यं,
नवधाऽथर्वणो वेदः—.....

तीनों लोक, चारों वेद, साङ्ग-सरहस्य, ११२७ शाखा-प्रशाखा-सहित—इतना बड़ा विषय हो उस सरस्वती की आराधना करना और उसको प्रसन्न करके इष्ट साध लेना सुलभ बात नहीं है। इस सरस्वती का माहात्म्य जानना चाहें तो आप ऋग्वेद का 'ज्ञान सूक्त' पढ़िए—'सरस्वती सूक्त' पढ़िए।

आज हमारी यह दुर्दशा है कि हमने सरस्वती देवी का निरादर कर रखा है। हम सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर सरस्वती को भूलते जाते हैं। वैसे तो सरस्वती और लक्ष्मी का विवाद तभी से चला आ रहा है जब से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ और उन दोनों का विवाद महाप्रलय तक चलता ही रहेगा किन्तु यदि लक्ष्मी सरस्वती के अधीन रहकर विचरेगी तो संसार सुख-शान्ति-ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का आगार बनकर रहने योग्य स्थान रहेगा और यदि कहीं लक्ष्मीपुत्रों ने सरस्वती को दासी बना रखा तो संसार साक्षात् रौरव नरक बन जायगा। सरस्वती के भक्तों का, कट्टर उपासकों का परम कर्त्तव्य है कि वे सरस्वती को लक्ष्मी की दासी न बनने देवें—सरस्वती को लक्ष्मी के प्रभाव से दूर रखें, चाहे इस पवित्र कार्य के करने में हमको कितने ही कष्ट क्यों न हों। पाश्चात्य और पौरस्त्य जीवनोद्देश्य में यही तो बड़ा भेद है कि पाश्चात्य भौतिक ऐश्वर्य के उपासक हैं और पौरस्त्य आध्यात्मिक ऐश्वर्य के उपासक हैं। पौरस्त्य संस्कृति

और सभ्यता में एक संन्यासी, एक ब्राह्मण, एक स्नातक, एक ब्रह्मचारी चक्रवर्ती राजा से भी अधिक आदरणीय माना गया है क्योंकि विद्या-तप द्वारा सरस्वती की आराधना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। इसलिए, आओ, सरस्वती के भक्तो आओ, बड़े पुण्य-प्रताप अथवा पूर्व जन्म के सुकृत के कारण हम लोगों का जन्म पौरस्त्य संस्कृति के परम पुनीत पुरातन केन्द्र भारतवर्ष में हुआ है और हम सरस्वती के कट्टर उपासक ऋषि-मुनि-महात्माओं की सन्तान होने का स्वाभिमान रखते हैं। क्या हम सरस्वती देवी की उपासना को छोड़कर चला के पीछे चलेंगे, उस चला के पीछे जिसका कोई विश्वास नहीं, जिसको साधु-असाधु का विवेक नहीं, पौराणिक शब्दों में जो उलूकवाहन है, जो हमारी इष्ट देवता से सदैव ईर्ष्या करती रहती है, उसको दासी बनाकर सदैव के लिए उसका प्रभाव नष्ट करने की चिन्ता में रहती है?

विद्या-केन्द्रों के अधिपतियों का तो परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे लक्ष्मी के प्रभाव में आकर अपने विद्या-बल, तपोबल, शम-बल, दम-बल को नष्ट न कर बैठें। यदि विद्या-केन्द्र ही इस प्रकार तेजोहीन हो जायँगे तो फिर सरस्वती को सुखपूर्वक रहने का स्थान और कहाँ मिलेगा? हमारे पुरातन ऋषि-मुनि-महात्मा-ब्राह्मण बावले नहीं थे जो राजाओं के अन्न से बचते थे क्योंकि वे जानते थे कि—

'राजान्नं तेज आदत्ते'

राजा का अन्न तेज को ले लेता है।

वे बावले नहीं थे, उनका दिमाग़ नहीं फिरा था जो संसार को छोड़कर तपोवनों में रहकर सरस्वती की आराधना में जीवन लगा देते थे। जब सरस्वती के उपासक ऐसे निरीह, निर्लोभ,

शान्त, दान्त, तपोनिष्ठ रहते थे तब चक्रवर्ती राजा-महाराजा भी उनके ब्रह्मवर्चस से काँपते रहते थे, धर्म में बुद्धि और आस्था रखते थे, प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। इस प्रकार भारतवर्ष के विद्या-केन्द्र अथवा सरस्वती-केन्द्र संसार के कल्याण के हेतु बने रहते थे। वर्त्तमान समय में शिक्षा-केन्द्र, सरस्वती-निवास, उन-उन राज्य-प्रणाली के अङ्ग हैं, स्वतन्त्र नहीं। इसका परिणाम आप स्वयं देख रहे हैं। क्षत्र उच्छृङ्खल ही नहीं अपितु वह ब्रह्म का अधिपति हो रहा है। वह ब्रह्म को सदैव अपने अधीन रखकर उससे मनमाना कार्य लेना चाहता है। इसका प्रभाव हम पौरस्त्यों पर भी पड़ा, हमारी रीति-नीति, संस्कृति-सभ्यता पर भी पड़ा और आज हमारे देश के सरस्वती-निवास, सरस्वती-सदन, सरस्वती-आश्रम, विद्यालय, विश्व-विद्यालय आदि सब दासता के केन्द्र बने हुए हैं। गुरुजन श्ववृत्ति में फँसकर विद्या-विक्रय कर रहे हैं। थोड़ी-बहुत संस्थाएँ स्वतन्त्र हैं सही किन्तु वहाँ भी पाश्चात्य रीति-नीति का अनुकरण चल पड़ा है। प्रत्येक गुरु के हाथ में रसीद बही और गले में झोली पड़ी हुई है और उचित-अनुचित रूप में "भिक्षां देहि" द्वारा धन-सञ्चय करके अपने तेज को नष्ट कर रहे हैं, फिर बतलाइए सरस्वती आपके यहाँ क्यों प्रसन्न रहने लगी ?

हाँ तो हम परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी की बात कर रहे थे—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चारों का जो सदुपयोग करेंगे सरस्वती देवी उन्हीं से प्रसन्न रहेगी। जिस भाषा को हम वैखरी कहते हैं और जिसके विषय में ऋग्वेद कहता है—

'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'

उस वैखरी का ही हम इतना दुरुपयोग करते हैं, कर रहे हैं कि उसके दुरुपयोग अथवा मिथ्या प्रयोग के कारण सांसारिक व्यवहार दुःख का कारण बने हुए हैं।

सत्यं ब्रूयात् = सत्य बोलना चाहिए।
प्रियं ब्रूयात् = पर वह भी प्रिय हो।
हितं ब्रूयात् = और वह भी हित के लिए हो।
मितं ब्रूयात् = और हो थोड़ा, संयत प्रयोग।

हम इस बात को व्यवहार में नहीं ला रहे हैं।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्, भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्क वैरं विवादं च, न कुर्यात्केनचित् सह॥

हम इस मनूक्त पद्धति को भूल गये जिसमें कहा गया है कि शुष्क वैर और विवाद से बचना चाहिए। किसी कूढ़ दिमाग़ सनकी से पाला पड़े तो कहना चाहिए कि ईश्वर तेरा भला करे!

ऋग्वेद ने बोलने की विधि इस प्रकार बतलाई है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
(१०-६-७१-२)

छलनी अथवा सूप से शुद्ध किये गये सत्तू की भाँति जो लोग मनःपूत वाणी का प्रयोग करते हैं विद्वान् लोग—सरस्वती के भक्त उन्हींसे सख्य जोड़ते हैं और वाणी का इस प्रकार शुद्ध प्रयोग करनेवालों की वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी अर्थात् सरस्वती का निवास रहता है। अब वे सरस्वती के तेजस्वी केन्द्र कहाँ हैं, जहाँ परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के तत्त्व को समझाकर उनके द्वारा संसार के कल्याण की रीति बतलाई जाती हो?

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती पर सरस्वती प्रसन्न थीं इसीलिए वे संसार में दिव्य कार्य कर सके। वे लक्ष्मी के उपासक नहीं थे, सरस्वती के कट्टर उपासक थे इसीलिए अकेले भी इतना बड़ा कार्य कर गये। उनके पीछे हम लोग लक्ष्मी-पुत्रों का मुख निहारने लगे, हमारे समाज में

लक्ष्मी-पुत्रों की प्रबलता हो गई और सरस्वती-भक्त बड़े संकट में पड़ गये। आर्यसमाज की गति रुकने का यह एक प्रबल कारण है। समाज में सरस्वती-भक्तों का समादर नहीं, इसीलिए सरस्वती-भक्त समाज से दूर रहने लगे हैं। बहुत से सरस्वती-भक्त लक्ष्मी-पुत्रों के हाथ बिक चुके हैं, बहुत से व्यापार-बुद्धि बनाये बैठे हैं—यह दशा शोचनीय है और इस शोचनीय दशा में समस्त जगत् के कल्याण की बात तो कौन कहे आर्य जगत् के कल्याण में ही सन्देह है।

विरजानन्द-साधु-आश्रम भी सरस्वती का एक छोटा-सा उज्ज्वल केन्द्र है जिसका सञ्चालन साधु, महात्मा, संन्यासियों द्वारा होता है। यदि इनकी सरस्वती तेजस्विनी रहेगी तो ये जगत् का बहुत कल्याण कर सकते हैं। साधारण गृहस्थ की भाँति ये भी इधर-उधर लक्ष्मी-पुत्रों के पीछे-पीछे भटकते रहे तो फिर कल्याण कहाँ? मैं इस सरस्वती-सम्मेलन के अवसर पर यहाँ के अधिपतियों, अधिकारियों और सञ्चालकों को अब तक की सफलता के लिए धन्यवाद, साधुवाद देकर स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि आप लोग तेजस्विता के साथ आसन बाँधकर सरस्वती की आराधना करते रहिए और यहीं बैठे-बैठे आपको सब अपेक्षित सामग्री मिल जायगी।

क्रिया सिद्धिः सत्वे, भवति महतां नोपकरणे।

इस वचन को न भूलिए।

मैं पहले यह कह चुका हूँ कि यह सम्मेलन सरस्वती-भक्तों का है इसलिए सरस्वती-सम्मेलन कहलाता है। यहाँ उपस्थित सरस्वती-भक्तों का क्या कर्त्तव्य है? पुराणों में सरस्वती का वर्ण गौर बतलाया है—'सर्वशुक्ला सरस्वती' कहा है। इससे स्पष्ट है कि सरस्वती-भक्तों और उपासकों का कर्म शुभ्र हो

चाहिए, सात्विक होना चाहिए, उसमें जरा भी कालिख नहीं होनी चाहिए अथवा नहीं लगनी चाहिए। इसीलिए 'शुक्लं ब्रह्मचारिणाम्' कहा है।

सरस्वती-भक्तों की बुद्धि, प्रवृत्ति, कर्म सब सात्विक रहने चाहिएँ। इनका मन-वचन-कर्म सात्विक रहे, तभी सरस्वती सफल होती है।

सरस्वती-भक्तों के सम्मुख बड़ा कार्य है। इस समय संसार में कहीं तो मिथ्या ज्ञान, कहीं अज्ञान की प्रबलता है। कहीं ज्ञान-विज्ञान है तो, पर वह स्वार्थ के साथ चिपटा हुआ है। इस प्रकार संसार में अज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा स्वार्थमूलक ज्ञान—इन तीनों के कारण क्लेश ही क्लेश हैं। संसार को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना और अज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा स्वार्थमूलक ज्ञान के प्रभाव से छुड़ाना सरस्वती-भक्तों का काम है। विद्या-तपोनिष्ठ सरस्वती-भक्त ही इस महान् कार्य को करने में समर्थ होंगे। समय भी कठिन है और मार्ग भी; जब कि इस वैश्य-युग में, भौतिक उपासकों के युग में सबका मूल्य थैलो से निर्धारित किया जा रहा है। पुस्तक का मूल्य उसमें लिखित गम्भीर विषय की विवेचना पर निर्भर नहीं है, जितना कि पुस्तक के वाह्य रङ्ग-रूप पर है; व्यक्ति का मूल्य उसकी विद्या, सात्विक भाव पर स्थिर नहीं, जितना कि वाह्य ठाट-बाट पर है; समाज की मूल्य उसमें प्रचलित धर्म-भाव और सदाचार से नहीं कूता जाता, अपितु उसके वाह्य ऐश्वर्य पर माना जाता है—यह सब इस वैश्य-युग का प्रभाव है। संस्थाओं का मूल्य वाह्य दम्भ और आडम्बर को देखकर लगाया जाता है। सीधो-सादी संस्थाओं का मूल्य (जो चुपचाप काम कर रही हैं, जिनको विज्ञापन-युग का आश्रय नहीं) तो क्या लगाना उनका उपहास उड़ाया जाता है, चाहे वे संस्थाएँ वैभवशाली

संस्थाओं की अपेक्षा अधिक कार्य क्यों न कर रही हों। चाहें प्रत्येक संस्था के सञ्चालक और कार्यकर्त्ता के हाथ में एक-एक रसीद बही और गले में 'भिक्षांदेहि' की झोली क्यों न हो। 'माँगो हुई छाछ पर इतने बड़े नखरे!' इन लक्ष्मी-पुत्रों के विषय में तो 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावें' यही कहावत चरितार्थ हो रही है। यह वैश्य बननेवाले राज्य का प्रभाव है। सधन संस्थाओं के छात्र भी निर्धन संस्थाओं के छात्रों को हेच और हेय समझते हैं, इतना दर्प और दम्भ बढ़ गया है। सरस्वती-भक्त इन अवमाननाओं तथा अवहेलनाओं की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहेंगे, तभी स्वोद्देश्य में सफल होंगे। खाने को शुद्ध सात्विक अन्न हो, देने को सात्विक दान हो और गुरु-शिष्य सात्विक भाव से सरस्वती की आराधना में लगे हों, तब देखना कि क्या चमत्कार होता है।

अब तो दान लेने में विवेक नहीं, दान देने में विवेक नहीं, अध्ययनाध्यापन में अधिकारी-अनधिकारी का विवेक नहीं, चारों ओर दम्भ-दर्प आदि का साम्राज्य है, ऐसे वातावरण में कट्टर सरस्वती-भक्त कुछ कर सकें तो कर सकें। वेश्या को बहुत धन मिलता है और सती स्त्रियों को कष्ट उठाना पड़ता है, इसलिए क्या सती देवियाँ अपना सतीत्व दे बैठती हैं? मूर्खों के पास धन बहुत रहता है और पण्डित लोग भिखारी बन रहे हैं, तो क्या यह उचित है कि पण्डित-लोग मूर्खों के पीछे चलें? जिन्होंने अपने आपको बेच दिया है, जो लोभ से आत्महनन करते हैं, जो लोग सरस्वती के लिए कष्ट उठाने को तैयार नहीं, उनकी सरस्वती कभी सफल न होगी। इसीलिए तुच्छ बातों पर दृष्टि न डालकर महान् उद्देश्य की पूर्त्ति का ध्यान रखना पड़ेगा, तब कहीं कहने-योग्य कोई कार्य

होगा। समाज का बड़े से बड़ा नेता, संस्था के लिए रसीद-बही लेकर घर-घर फिरेगा, इधर-उधर की बातें मिलाकर कभी असत्य से, कभी छल-प्रपञ्च से, कभी दम्भ से रुपया एकत्र करेगा, तब उस प्रकार का रजोगुणी और तामसी दान सरस्वती के केन्द्रों की तेजस्विता को कैसे रहने देगा? विशुद्ध वातावरण में ही अध्ययनाध्यापन तेजस्वी हो सकता है। गुरु-शिष्यों की तेजस्विता से ही अध्ययन तेजस्वी होगा। सात्विक दान ही तेजस्विता को बढ़ायेगा। यदि अपनी संस्था को कोई बड़ा दान मिलता हो तो समाज के बड़े से बड़े नेता किसी भी लक्ष्मी-पुत्र के घर पर दिन-भर में कई फेरे डालने को तैयार हैं, चाहे वह लक्ष्मी-पुत्र कितना ही अधार्मिक, अनाचारी, अत्याचारी क्यों न हो। चाहे यह उन लक्ष्मी-पुत्रों के द्वार पर जाना परोपकार के लिए ही हो, किन्तु अपना तो तेज घटता है, लक्ष्मी-पुत्रों का दर्प तो बढ़ता है। ऐसी दशा में जो बल अन्य पवित्र कार्यों में लगना चाहिए था, वह सब 'भिक्षां देहि' में खर्च हो रहा है। सरस्वती-भक्तों का काम माँगना नहीं है। यह प्रथा बन्द होनी चाहिए। इस प्रथा से समाज के कार्यकर्त्ता, नेता, संस्थाओं के अधिपति, प्रचारक, उपदेशक, महोपदेशक महानुभाव प्रायः निस्तेज हो चुके हैं। करने को काम करते ही हैं और मरने तक करते रहेंगे ही, पर उसका फल घोर प्रयत्न के अनुपात से बहुत न्यून मिल रहा है।

सरस्वती के भक्त दरिद्र ही रहने चाहिएँ, अर्थदरिद्र भले ही रहें किन्तु धीदरिद्र नहीं रहना चाहिए।

जीवत्यर्थदरिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति॥

धनहीन पुरुष किसी प्रकार जीवित रह सकता है पर जिसकी बुद्धि का दिवाला पिट गया वह जीवित नहीं रह सकता। बुद्धि का विकास दरिद्र किन्तु कट्टर सरस्वती-उपासक

की कुटिया में हो सकता है, न कि अन्यत्र। इसलिए सरस्वती-भक्तों को दारिद्र्य से नहीं घबराना चाहिए। वह तो उनकी अनुपम शोभा का कारण हो जाता है। इस सरस्वती-सम्मेलन के सभापति का अपना अनुभव यह है कि विद्या और तप की मात्रा साथ हो तो सांसारिक दरिद्रता उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। यदि हम सरस्वती की उपासना में लगे रहें तो सरस्वती के प्रभाव से सब अपेक्षित सामग्री अपने आप जुट जाती है। यदि दैव-वश सरस्वती का उपासक अकेला भी रहा, तो क्या उसके लिए यह मानसिक सात्विक शान्ति कि उसने अपना पवित्र कर्त्तव्य पालन किया, थोड़ी है? उसकी टूटी-सी झोंपड़ी में सदा भगवान् के दर्शन होते रहते हैं। आर्यसमाज की संस्थाओं में सरस्वती-उपासकों का ही आधिपत्य रहे, न कि मूर्खों का। आर्य्यसमाज की सभा-सोसाइटियों में कट्टर सरस्वती-भक्तों की ही विशेषता अधिकतर रहे, न कि लक्ष्मी-पुत्रों की, और न मूर्खों की। तब देखिए, क्या चमत्कार खिलता है। पर खेद है कि सब धान बाईस पसेरी हो रहा है। पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम हो रहा है, कोई मर्यादा नहीं, कोई शिष्टाचार नहीं—ऐसी दशा में जो हो रहा है, जितना हो रहा है, उतना ही बहुत समझिए। नवच्छिद्र-युक्त देह में जीवात्मा के रहने का ही आश्चर्य है, निकल जाने का कौन आश्चर्य! आर्यसमाज इसलिए जीवित नहीं है कि उसमें कार्य-कर्त्ता बहुत हैं, धुन के लोग बहुत हैं, लगन वाले लग रहे हैं, अपितु इसलिए जीवित है कि वह वेदों का नाम ले रहा है, वेदों की बात लेकर चल रहा है। आर्यसमाज इसलिए जीवित नहीं कि उसका दो आने वाला सङ्गठन इतना सुदृढ़ है कि वर्त्तमान प्रजातन्त्र-पद्धति के भी कान काटता रहा है, अपितु इसलिए जीवित है कि वह प्राचीन संस्कृति व सभ्यता की बात लेकर

लोगों के दृष्टिकोण को बदल रहा है। वह इसलिए जीवित है कि वह प्रसुप्त भारत को प्रबुद्ध भारत बनाकर फिर संसार के सामने वही पुरातन आदर्श रख रहा है, पर अब तक जितनी बातें हुईं; जितने प्रयत्न हुए, वे सब 'दर्या में खसखस' की कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं। आर्य कहलानेवालों की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है पर गुणों में ह्रास हो रहा है। विद्वानों की संख्या तो बढ़ती जा रही है, पर वे कट्टर सरस्वती-भक्त नहीं निकल रहे हैं, लक्ष्मी के पीछे चलना पसन्द कर रहे हैं। इसी के साथ क्रूरता, कृतघ्नता, कायरता, व्यर्थ के अर्थ में अर्थशून्य कट्टरता आदि दुर्गुणों का प्रवेश हो चला है।

ऐसे समय सरस्वती के कट्टर उपासक भक्त, कुछ कर सकें तो कर सकें। आज स्वामी दयानन्द केवल आर्यों अथवा हिन्दुओं अथवा केवल भारतवर्ष के नहीं रहे। आज वैदिक सिद्धान्त आर्यसमाजियों की बपौती नहीं रहे, उनको तो संसार धीरे-धीरे अपना रहा है। स्वामी दयानन्द तो जगद्वन्द्य-जगद्गुरु बन गये। संसार वैदिक सिद्धान्तों की ओर वेग से आ रहा है, पर वह अपने को आर्यसामाजिक कहलाने में हिचकिचाता है। अब तक आर्यसमाज सब से आगे था इसलिए लोग भी उसके पीछे चलते रहे। अब वह पिछड़ गया इसलिए लोगों को इतनी फुरसत कहाँ कि वे तब तक रुके रहें जब तक आर्यसमाज फिर आगे जाकर न खड़ा हो। अब यदि आर्यसमाज फिर मार्गदर्शक बनना चाहता है तो वह केवल विद्या और तप के आश्रय से, और कोई उपाय ही नहीं। मैं जानना चाहता हूँ कि आर्यजगत् के सरस्वती-भक्त क्या सोच रहे हैं और क्या करना चाहते हैं? उपस्थित सरस्वती-भक्त अथवा उपासक इस सम्मेलन में अपने विचार स्वतन्त्रता और निर्भयता-पूर्वक प्रकट कर सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि

आर्यजगत् के देव अथवा सरस्वती के भक्त चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाने में अपनी विद्या-बुद्धि-बल को वृथा व्यय करें। उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। बस, इतना ही कहकर मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि उपस्थित विद्वद्गण इस विषय में गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे और उपस्थित विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध और धर्मवृद्ध बन्धुगण कोई ऐसा परामर्श देंगे जिससे आर्यजगत् का और उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो सके। अधिक क्या कहें, सरस्वती के उपासकों के सम्मुख सदा यह लक्ष्य रहना चाहिए—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मी रुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
परिहरतुतरां शिरः कृतान्तो वा मम तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात्॥

तृतीय गुच्छक

१—वेदान्त-विमर्श

(चतुः सूत्री और आचार्य चतुष्टय)

[सामान्य विवेचन]

वेदान्त दर्शन वैसे ही एक गहन दर्शन है और बहुत कम विद्वान् हैं जो इसके पार को पा सके हैं। वेदान्त कहिए, द्वैताद्वैत-मीमांसा कहिए, पराविद्या-तत्त्व कहिए, अपराविद्या का प्रारम्भ कहिए, है गहन तत्त्व। जो लोग वेदान्त की बातों को चुटकियों से उड़ाना चाहते हैं अथवा जो अहम्मन्य अथवा पण्डितम्मन्य अपने आपको पारदर्शी समझ बैठते हैं उनके दुःसाहस की प्रशंसा ही करनी पड़ेगी।

अनन्त काल से, जब से मनुष्य नामक प्राणी संसार में आया है और संसार के विषयों से परे उसने दृष्टि डाली है, तभी से वह इस चक्कर में पड़ा है कि इतने विशाल संसार का कर्त्ता कौन है, कितने हैं? यदि एक है तो उसका स्वरूप क्या है? यदि अनेक हैं तो इस संसार के बनाने में इतने हाथ तो नहीं लगे होंगे? जीवात्मा अर्थात् मैं अथवा हम कौन हैं? सुख-दुःखों की समवेदना एक ही प्रकार की होने पर भी इतने अनन्त जीव क्यों? उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है? और इन सबका ब्रह्म अथवा परब्रह्म से सम्बन्ध क्या है? वह है अकेला

किन्तु अनन्त जीवों पर उसका शासन क्यों ? उसका प्रभुत्व कब से माना जाने लगा ? यह सृष्टि सारहीन वस्तु है, इसमें पारमार्थिक सत्य नहीं है, तो भी इसके मोहक अनिर्वचनीय स्वरूप ने अनन्त जीवों को किस प्रकार नचा रखा है ? जो इसके खेलों से तङ्ग आ गया, जिसने भी इसकी आपातरम्यता को अनुभव किया, जिसने भी पारमार्थिक सुख की चाह की, उसीने उपनिषदों के शब्दों में तारस्वर से कहा:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

ओहो मैं तो भूला था, इस चमकीली-भड़कीली वस्तु को ही सत्य समझ बैठा था, यह तो पारमार्थिक सत्य नहीं है, व्यावहारिक सत्य भले ही इसमें हो, इस चमकदार आवरण ने पारमार्थिक सत्य के मुख को ढक रखा है। इसलिए—

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥ (ईश)

हे पूषन्, तुम कृपा करो, इस चमकदार ढक्कन को हटा दो जिससे मैं आपका, पारमार्थिक सत्य का अनुभव कर सकूँ। जब से मनुष्य ने इधर ध्यान दिया है तब से वह यह भी सोचता आ रहा है कि जैसे अग्नि की चिनगारियाँ अग्नि से भिन्न नहीं हैं पर पृथक् होकर पृथक् ही दीखती हैं और संसार चिनगारियों को मुख्य अग्नि से पृथक् ही मानता चला आया है, इसी प्रकार हम अनन्त जीव उस 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' की चिनगारी स्वरूप तो नहीं ? कहीं वेदवर्णित—

'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'

अमृतपुत्र तो हम नहीं हैं ? यदि अमृतपुत्र हैं तो फिर हम अमरण-धर्मा क्यों नहीं हैं ? यदि अमृतपुत्र हैं तो फिर यह जन्म-मरण का, यह सुख-दुःख का चक्र हमारे साथ क्यों लगा

है ? कारण के गुण कार्य में आने चाहिएँ, अमृत के पुत्र अमृत होने चाहिएँ इत्यादि।

इस जटिल प्रश्न पर अनन्त काल से बराबर विचार होता चला आ रहा है और इस जटिल प्रश्न को सुलझाने के लिए श्री बादरायण व्यास ने सूत्र रूप में सबसे प्रथम विचार किया, जिसके लिए संसार उनका जब तक सूर्य-चन्द्रमा जगतीतल पर रहेंगे तब तक कृतज्ञ रहेगा। वेदों में इस वेदान्त का मूल है, उपनिषदों में शाखाएँ हैं, और वेदान्त दर्शन में पत्र-पुष्प-फल-श्री देखने को मिलेगी। एक ही वेदान्ततत्त्व है, पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। वेदान्त दर्शन के प्रथम चार सूत्रों को चतुः सूत्री कहते हैं। इन्हीं चार सूत्रों के भाष्य में सभी आचार्य सब कुछ कह चुके हैं, अपना-अपना बल दिखा चुके हैं। इन आचार्यों की बुद्धि का चमत्कार, प्रतिभा का खेल यहीं देखने को मिलता है।

श्री मच्छङ्कराचार्य, श्री मद्रामानुजाचार्य, श्री मन्माध्वाचार्य, श्री मद्वल्लभाचार्य—वेदान्त-सूत्रों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेवाले ये ही चार मुख्य आचार्य हैं। वेदान्त-सूत्रों की व्याख्या करने में सबका मुख्य आधार उपनिषद्वाक्य हैं, पर तात्पर्य-निर्णय भिन्न-भिन्न हैं। इस लेखक की कुल-परम्परा, पितृ-पितामह प्रभृति माध्व-सम्प्रदायी रहे हैं, वैसे हमारा कुल वैष्णव है और उसमें तप्त मुद्रा लगाने का प्रघात है। एक बार मैं जब अपने मातृ-कुल के लोगों से मिलने गया था तब स्वर्गीय मामा श्री व्यंकटेश गोविन्द बागल कोटकर ने मुझसे पूछा।

मामा—तुमने संस्कृत का खूब अध्ययन किया है ?

मैं—हाँ, कुछ।

मामा—शास्त्र भी पढ़े हो ?

मैं—हाँ, मामाजी।

मामा—वेदान्त-दर्शन भी पढ़ा है?

मैं—हाँ, अभी तो चतुः सूत्री का भाष्य पढ़ा है।

मामा—किसका भाष्य?

मैं—शाङ्कर भाष्य।

मामा—देखो, हम वैष्णव हैं और माध्व-सम्प्रदायी हैं, हम शुद्ध द्वैत के माननेवाले हैं, तुम अद्वैतवादी मत बनना (इतना कहकर उन्होंने माध्वभाष्य की एक सुन्दर प्रति मुझको दी और सख्त हिदायत की कि मैं अद्वैतवादियों के फन्दे से बचूँ)।

मैं—मामा, उस शाङ्कर भाष्य से, अद्वैतवाद से इतना भय क्यों?

मामा—अपना सम्प्रदाय बिगड़ता है। कुल-परम्परा बिगड़ती है।

मैं—चाहे शाङ्कर मत ग्राह्य हो अथवा अग्राह्य किन्तु सबसे अच्छा भाष्य शंङ्कराचार्य का ही है।

मामा—तुम मूर्ख हो। माध्वभाष्य से बढ़कर कोई भाष्य नहीं। इसको किसी अच्छे गुरु से पढ़ो।

मैं—बहुत अच्छा।

जब मैं उनकी अनुज्ञा से लौटने लगा तब वह पहुँचाने बहुत दूर तक आये और उन्होंने मुझे फिर वही आज्ञा दी कि मैं अद्वैतवाद से बचूँ। मैंने उनको विश्वास दिलाया कि मैं द्वैतवादी ही हूँ तब वह प्रसन्न होकर लौट गये।

इसके पश्चात् स्वर्गीय श्री० पं० नारायणसिद्धजी महाराज से मैंने चतुः सूत्री के चारों भाष्य पढ़े और नवीन वेदान्त के भी ग्रन्थ पढ़े। कलकत्ते में मैं जब था तब समस्त शाङ्कर भाष्य भी

देख गया था। तब से वेदान्त भाष्यों का अनेक बार परिशीलन करके मैं इसी निश्चय पर पहुँचा कि शाङ्कर मत को, केवलाद्वैत की बात को कोई माने या न माने शाङ्कर भाष्य ने संसार में भारतीय वेदान्त विज्ञान की एक धाक बाँध रखी है। पाश्चात्य पण्डित-मण्डल शाङ्कर भाष्य पर मुग्ध है। शङ्कर भगवान् के नाम पर जो नवीन कुत्सित वेदान्त चल पड़ा है उसमें और शङ्कर भगवान् की दिव्य दृष्टि में आकाश-पाताल का अन्तर है। वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन करके वेदों की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने में शङ्कर भगवान् ने जो काम किया है वह भुलाने की बात नहीं है, चाहे किसी विषय में, किसी अंश में कोई उनसे सहमत भले ही न हो। स्वामी दयानन्द-जैसे तेजस्वी तर्क-युगप्रवर्त्तक भी शङ्कराचार्य के विषय में कितने अच्छे शब्दों में लिख जाते हैं (देखो एकादश समुल्लास और पढ़ो)—"बाईस सौ वर्ष हुए कि....."से लेकर "...शिष्यों की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी।" स्वामीजी स्पष्ट और आदर-युक्त शब्दों द्वारा शङ्कराचार्य की विद्या, बुद्धि, कौशल, वेदों के विषय में उनकी आस्था, उनकी तेजस्विता आदि को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं, पर इसके पश्चात् ही लिखते हैं—

"अब इसमें विचारना चाहिए कि जो जीव ब्रह्म की एकता जगत्मिथ्या शङ्कराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है"—

ज़रा आप इन शब्दों को ध्यान-पूर्वक पढ़ें। इस वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामीजी शङ्कराचार्यजी के विषय में तब तक पूर्ण निश्चय नहीं कर सके थे इसीलिए 'जो' का

प्रयोग किया है। दूसरी बात "जो जैनियों के मत खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है"—

आर्य विद्वान् इस वाक्य पर कुछ प्रकाश डालेंगे तो अच्छी चर्चा चल पड़ेगी और मुझे अवकाश मिला तो मैं भी चर्चा में भाग लूँगा। यदि साधारण पुरुष ऐसा गोल वाक्य लिखता तो लोग उसके सिर हो जाते पर बड़ों की बात बड़े ही जानें।

अब क्रम से अनेक लेखों में मैं श्रीशङ्कर, श्रीरामानुज, श्री माध्व, श्री० वल्लभ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराऊँगा, उसमें अपनी ओर से कुछ नहीं कहूँगा। उस दिग्दर्शन के पश्चात् व्यापक दृष्टि से विचार करूँगा। आशा है विवेकशील वाचक इस गम्भीर विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे। हम लोगों में परमतसहिष्णुता का सञ्चार होने लगा है—यह समाधान की बात है।

[शाङ्करमत]

१—श्री शङ्कराचार्यजी ने वस्तुजात, वस्तुमात्र के दो विभाग किये हैं। एक विभाग में व्यावहारिक वस्तुओं का और द्वितीय विभाग में पारमार्थिक तत्त्व का अन्तर्भाव किया है। फिर उपनिषदों के आश्रय से यह सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है कि जो पारमार्थिक वस्तु है वही सत्य है। वह सत्य एक ही वस्तु है जो त्रिकालबाधित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, सर्वप्रत्यक्ष, सर्वप्रसिद्ध, पूर्ण, एकरस, निर्गुण, निर्लेप, निरुपाधि है। इसी का नाम केवल सत्य है जिसको अँगरेज़ी में 'एबसोल्यूट रियालिटी' कहते हैं। यही 'ब्रह्म' है।

२—व्यावहारिक विभाग में आनेवाली सब वस्तुएँ मिथ्या हैं, असत् हैं, दृश्य स्वरूप में भासती हैं किन्तु ब्रह्म को आवरक हैं

Relative Reality, Conditioned Reality

उसको ढांपनेवाली हैं। ऐसी वस्तुओं की सत्ता को सोपाधिक अथवा व्यावहारिक सत्ता कह सकते हैं। अँगरेज़ी में कहना हो तो 'रिलेटिव रियालिटी' अथवा 'कण्डीशण्ड रियालिटी' कह सकते हैं। सारांश एक ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है—यह प्रथम पारमार्थिक सिद्धान्त श्री शङ्कराचार्यजी का है।

यह पारमार्थिक सिद्धान्त व्यवहार में केवल कहने मात्र की वस्तु है, परमार्थ में कहते भी नहीं बनता। क्योंकि जहाँ वह अपने जैसी एक ही वस्तु है उस एक का प्रतिपादन भी द्वैत का सा ही है। उस ब्रह्म में दूसरी कोई वस्तु नहीं फिर उस अकेली को—अपनी-जैसी अकेली जिसके सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं—कोई वाणी से कहे भी कैसे? अद्वैत को स्पष्ट करना हो तो अन्तर्बाह्य अखण्ड मौन ही एक उत्तम उपाय है।

३—फिर यह बाह्य दीखनेवाला विश्व-विस्तार अथवा स्वरूपान्तर होनेवाला प्रपञ्च है क्या वस्तु? इसका उत्तर शङ्कराचार्य के शब्दों में यह है कि "यह सब माया है, अविद्या का विलास है, आभास है, अध्यास है।" अनाद्यनन्त प्रपञ्च में से माया को पृथक् किया जाय, अथवा सब उपाधियों का निरास किया जाय, तो प्रपञ्च के अधिष्ठान ब्रह्म पर आभासित होनेवाला प्रपञ्च नष्ट होकर एक-रसात्मक एक ही सद्वस्तु शेष रह जायगी। इन्द्रियों से जानी जानेवाली सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष इन्द्रियों से ही होगा, इसलिए हमारा सब बाह्य ज्ञान सोपाधिक है, इसीलिए बाह्य वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान मनुष्य को नहीं होता। सारांश बाह्य वस्तु जैसी होती है वैसी दीखती नहीं, जैसी कि दिखाई पड़ती है वैसी होती नहीं। वस्तुएँ जैसी दिखलाई पड़ती हैं वे सचमुच वैसी ही हैं—ऐसा समझना ही 'माया' है। यह माया व्यावहारिक अथवा सोपाधिक सत्ता को अपनी गोद में बैठा लेती है; इसीलिए यह प्रपञ्च-ज्ञान भी मायिक है, माया का विकार है, माया का खेल है। सोपाधिक

सत्ता को अँगरेज़ी में 'फिनॉमिनल एक्ज़िस्टन्स' कहते हैं। पार-मार्थिक सत्ता के ज्ञान को 'विद्या' और व्यावहारिक सत्ता के ज्ञान को 'अविद्या' समझिए।

४—उपनिषदों में दो प्रकार के विधान मिलते हैं जो परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जो मन्त्र लक्षणा वृत्ति से ब्रह्म के स्वरूप वर्णन करने के लिए प्रयत्न करते हैं और जो ब्रह्म का निर्गुणत्व बतलाते हैं। वे मन्त्र तथा वे उपनिषद्वाक्य पारमार्थिक वस्तु के लक्षण को लक्ष्यवृत्ति से बतलाते हैं। वे मन्त्र दूर से, शाखा-चन्द्र न्याय से, जैसे कोई किसी को पहले पेड़ की शाखा दिखलाकर फिर उसके आश्रय से चन्द्रदर्शन कराता है इस प्रकार, ब्रह्म को दिखलाते हैं, ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। "ब्रह्म निर्गुण है", "तू ब्रह्म है"—ये महावाक्य लक्ष्यवृत्ति का ही वर्णन करते हैं। अर्थात् इन वाक्यों के साथ प्रतिभासिक यानी व्यावहारिक वाक्यों का, जैसे "ब्रह्म ने सृष्टि उत्पन्न की" "ब्रह्म एक ही था, वह बहुत हुआ, अनेक रूप वाला हुआ" इत्यादि वाक्यों का विरोध भासता है। दोनों प्रकार के वाक्य-समुदाय यथार्थ नहीं हो सकते, एक ही वाक्य-समुदाय, दोनों में से कोई, यथार्थ हो सकता है। व्यावहारिक वाक्य इन्द्रियगोचर, इन्द्रियों को दिखलाई पड़नेवाले स्वरूप का वर्णन करते हैं अथवा कर सकते हैं इसलिए वे मायिक हैं, व्यावहारिक सत्ता में यथार्थ किन्तु केवल पारमार्थिक सत्ता में असत् हैं। निर्गुण ब्रह्म-बोधक व अद्वैत-प्रतिपादक महावाक्य 'निराध' सत्य हैं। मतलब यह हुआ कि सगुण ब्रह्मपरक वाक्यों को व्यावहारिक सत्ता के द्योतक व निर्गुण ब्रह्म को बतलानेवाले महावाक्यों को परमार्थ सत्ता के द्योतक मानकर इन वाक्यों में भासनेवाले परस्पर विरोध को निपटाना होगा। इस प्रकार शाङ्कर मत में

विरोध परिहार होता है और उपनिषदों के मन्त्रों की सत्यता में बाधा भी नहीं पड़ती।

५—ब्रह्म वेदान्तैकवेद्य अर्थात् वेदान्त शास्त्र से ही जानने योग्य है और वहाँ वेदान्त शास्त्र के अनुकूल ही तर्कादि की गति है। वैदिक कर्म व उनका फल अदृष्ट है, इसलिए उनको वेदैकवेद्य अर्थात् वेद से जानने योग्य माना गया है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाह्य विषय ज्ञात हो सकते हैं, उनके लिए वेदों की आवश्यकता नहीं।

६—जीवात्मा व परमात्मा स्वरूपतः एक ही हैं।

७—विश्व, ब्रह्म तथा आत्मा ये सब स्वरूप से एक हैं किन्तु व्यवहार में विश्व, ईश्वर और जीव नाम से प्रसिद्ध हैं।

८—जहाँ आत्मा का ज्ञान-विज्ञान हुआ कि, 'एक मेवाद्वितीयम्' शेष रह जाता है।

९—कर्म, उपासना व ज्ञान ये तीनों ब्रह्म-सिद्धि में बाधक होनेवाले अज्ञान का नाश करते हैं। अज्ञान का नाश हुआ कि फिर इन तीनों की आवश्यकता ही नहीं रहती। फिर जीव तथा ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है, दोनों एक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म वस्तु कर्म, धर्म-ज्ञान, कार्य-कारण आदि वस्तुओं के परे की वस्तु है। वह सबका अधिष्ठान है। वह सर्वसाक्षी है।

१०—जीवन-मुक्त पुरुष का, ब्रह्मज्ञ होने के कारण ब्रह्म बने हुए पुरुष का, कर्म निष्काम व जगत् का कल्याण करने-वाला होता है।

११—ब्रह्मज्ञान कोई विधि-विधान की बात नहीं है, वह विधि शेष भी नहीं, वह कवि-कल्पना भी नहीं, ब्रह्म का एकत्व व जीव व ब्रह्म का तादात्म्य ये सिद्ध ही नहीं, स्वयं सिद्ध है।

१२—जीवों का, भूतमात्रों का, यही उद्देश्य है कि सच्चिदानन्द की प्राप्ति होवे। क्योंकि स्वरूप से भूतमात्र ब्रह्म ही है इसी लिए सब ब्रह्म हो सकते हैं। केवल हमको कुछ करना है तो वह यही कि अविद्या-जन्य अज्ञान का नाश। यदि शाङ्कर मत को समझने में, उसके तात्पर्य को प्रकट करते समय कोई बात अपूर्ण रह गई हो अथवा उसकी कोई बात छूट गई हो तो उसके लिए मैं ही दोषी समझा जाऊँ। ऐसे गहन सिद्धान्त को, पारिभाषिक शब्दों का ध्यान रखते हुए, कोई कितना भी यत्न करे सरल शब्दों में लिखना कठिन कार्य है तथापि मैंने यथासम्भव लेख में सरलता लाने का यत्न किया है। पूना के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० भानु के मराठी अनुवाद से भी मैंने कुछ सहायता ली है—क्योंकि पारिभाषिक शब्दों को तोड़-फोड़कर सरल अर्थ करने में प्रो० भानु कृतकार्य हुए हैं।

शङ्कराचार्य के सिद्धान्त का मर्म यह है कि वस्तुतः जीव ब्रह्म एक ही हैं और माया की अनिर्वचनीयता के कारण पारमार्थिक सत्य जो ब्रह्म है वह भी अन्यथा प्रतीत होने लगता है। अविद्या का जाल हटा कि मायाजाल नष्ट हुआ समझिए। अध्यास, आभास, अध्यारोप अविद्या के खेल हैं। आगामी लेख में श्री रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत की बात पढ़िए।

[रामानुज-सिद्धान्त]

परब्रह्म अद्वितीय है किन्तु जीव और जगत ये सभी सत्य वस्तु हैं। परब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और वह अनन्त गुणों का निवास-स्थान है, सारांश वह ब्रह्म सगुण है और जीव और जगत् मिलकर उसका पूरा शरीर होता अथवा बनता है। ब्रह्म भक्ति-प्रिय है और भक्तों को परम पुरुषार्थ के साधने में सहायता देता है—ऐसा दयाधन अथवा दया-स्वरूप है।

विवरण

१—एक अद्वितीय परब्रह्म है। वह अनाद्यनन्त है, सर्वगुण-सम्पन्न है, उसमें एक भी दुष्ट अथवा मलिन गुण नहीं। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। चिद्वस्तु (जीव) अचिद्वस्तु (जड़ पदार्थ) दो को मिलाकर उसका शरीर बनता है। वह ब्रह्म जीव व जगत् का उपादान व निमित्त कारण है। वह सर्वनियामक, सर्वाधिष्ठान, सर्वपालक व सर्वसंहारक है। श्री रामानुज 'ब्रह्म ही एक वस्तु है' इस बात को मानते हैं अर्थात् अद्वैतवादी हैं; किन्तु वह ब्रह्म सगुण है, निर्गुण है, चिदचिद्विशिष्ट है। इसीलिए इनके सम्प्रदाय को विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय कहते हैं। २—जीव व जगत् ये दोनों सत्य पदार्थ हैं। ये ब्रह्म के चिद् व अचिद् वस्तु के परिणाम हैं। उस ब्रह्म की इच्छानुसार ही जड़ पदार्थों का नियमन होता है। जीव स्वकर्मानुसार अपने सुख-दुःख भोगता रहता है। इसमें नियामक वही ब्रह्म है। जीव अणुपरिमाण है अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पशक्ति व अल्पव्ययी है। ३—मोक्ष परब्रह्म की प्राप्ति का नाम है। मोक्ष दशा में जीवत्व, नित्यत्व, ज्ञान व आनन्द का भान रहता है। ४—ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान व उपासना से मोक्ष होता है। एक से नहीं। मुक्त दशा में भी ज्ञानार्जन व उपासना आवश्यक है। ये दोनों साधन हो भी जायँ तो भी ईश्वर की कृपा, उसका प्रसाद परमावश्यक है, जिसके बिना ज्ञान व उपासना दोनों व्यर्थ हैं। ५—श्रुतिवर्णित व अनुमोदित वर्णाश्रम का पालन अखण्डरूप से होना चाहिए। ६—श्रुति के अर्थ अनुभव से करने चाहिएँ। ७—कर्ममीमांसा व ज्ञानमीमांसा दोनों एक ही शास्त्र हैं। कर्मकाण्ड का अध्ययन होने के पश्चात् ज्ञानकाण्ड का अभ्यास आवश्यक अर्थात् पूर्व-मीमांसा व उत्तर-मीमांसा दोनों परस्पर सहायक हैं। ८—'माया' कोई नहीं है। ९—प्रत्येक शब्द, वाक्य,

ज्ञान व अनुभव सविशेष, सविकल्पक व सधर्म होता है। १०—केवल सत्ता का ज्ञान असम्भव है। ज्ञान ज्ञेय वस्तु है, वह उपाय उत्पन्न होने योग्य है, वह एक रस नहीं, वह नित्य नहीं। ११—ज्ञाता नित्य है, सत्य है, वह सगुण है, स्वयम्भू है, ज्ञानाश्रय है। १२—वेदान्त शास्त्र सगुण ब्रह्म का वर्णन व प्रतिपादन करते हैं। १३—परिणामवाद सत्य है। आरम्भवाद अथवा विवर्त्तवाद सत्य नहीं—विवर्त्तवाद जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होना। वस्तुतः रज्जु कभी भी सर्प नहीं बनता, वह तो एक भ्रान्ति है, अज्ञान के कारण ऐसी भ्रान्ति होती है।

रामानुजाचार्य मानते हैं कि केवल ज्ञान से कुछ बनता नहीं, ज्ञान के साथ ध्यान व उपासना आवश्यक हैं। उपासना के विना ज्ञान को अखण्ड स्थैर्य प्राप्त नहीं हो सकता और न ही केवल कोरे ज्ञान से जीव की अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। 'ज्ञान से कैवल्य मिलता है' इत्यादि वाक्यों में ज्ञान का अर्थ 'उपासना' है। यही अर्थ श्रुति, स्मृति, गीताकार, वाक्यकार, इतिहासकार, पुराणकारों को अभिप्रेत है। मतलब यह कि कर्मविद्या के पश्चात् ब्रह्मविद्या चलेगी। कर्म-मीमांसा व ब्रह्ममीमांसा दोनों जब अच्छी तरह गले के नीचे उतर लें तब चित्त-शुद्धि होती है। सारांश कर्म मीमांसा, फिर ब्रह्ममीमांसा, उसके पश्चात् चित्त-शुद्धि, फिर मोक्ष—यह क्रम है। चित्त-शुद्धि होने के पश्चात् ब्रह्मज्ञान नहीं होता अपितु ब्रह्मज्ञान के पश्चात् चित्त-शुद्धि होती है। जब ज्ञान का अर्थ उपासना किया जायगा तब यही अर्थ ठीक बैठेगा।

निर्विकल्प व निर्विषय ज्ञान शक्य नहीं है। ज्ञान होगा तो उसका विषय भी होगा। जिसका कोई विषय नहीं ऐसा निर्विषय ज्ञान नितान्त असम्भव है। निर्विषय ज्ञान शब्द से नहीं हो सकता, वाक्यों से भी नहीं हो सकता, प्रमाणों से भी नहीं। यदि सब पृथक्

पृथक् कर दी जायँ तो जाति-विषयक ज्ञान रह ही कहाँ सकता है ? व्यक्ति का ज्ञान है तो जाति का ज्ञान है। व्यक्ति का ज्ञान नहीं तो जाति का ज्ञान नहीं अर्थात् निर्विशेष ज्ञान नहीं। यही बात 'अस्तित्व' की है। केवल अस्तित्व का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। 'राम है' इससे राम के अस्तित्व का बोध होता है किन्तु केवल 'है' अथवा केवल 'अस्तित्व' अथवा 'सत्ता' का बोध असम्भव है। इन्द्रियों को कभी भी केवल अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान स्वरूप से ही उत्पाद्य है, नित्य नहीं, कोई ज्ञान नित्य नहीं। ज्ञान विकार्य है, बहुरूपी है, सविषय है, 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता से भिन्न है। सारांश शङ्कराचार्य यह जो कहते हैं कि "ज्ञान निर्विशेष है, नित्य है, एक रस है, अविकारी है, निर्विषय है, सत्य है"—इत्यादि अनुभव-विरुद्ध बात है। यह उनकी बात श्रुति को भी मान्य नहीं है। उनका यह सिद्धान्त कि ज्ञाता और ज्ञेय मिथ्या वस्तु हैं—यह भी ठीक नहीं है। यदि ज्ञाता कोई वस्तु नहीं है, ज्ञाता जीव ही यदि मिथ्या है तो मोक्ष के लिए यत्न करनेवाला कौन है और वह ऐसा यत्न किसी अन्य के लिए क्यों करने लगा है ? आत्मा व परमात्मा ज्ञान रूप हैं और ज्ञानी भी। आत्मा ज्ञान का अधिष्ठान है, यदि ऐसा न माना जाय तो आश्रय ही नष्ट हो जायगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान भेदात्मक, भेदमूलक है, इसलिए मिथ्या है—यह कथन भी असङ्गत है। ब्रह्मज्ञान ब्रह्म से पृथक् है, क्या इसीलिए ब्रह्मज्ञान को मिथ्या समझा जायगा ?

सत्ता के दो विभाग व्यावहारिक व पारमार्थिक श्रुति-सम्मत नहीं हैं।

ब्रह्म ही एक मात्र सद्वस्तु है—ऐसा अभिप्राय श्रुति का नहीं है। उसका अभिप्राय यह है कि विश्व का उपादान व निमित्त कारण एक ही है और इसी कारण ब्रह्म अद्वितीय है, सर्वश्रेष्ठ है। उसकी-जैसी शक्तिवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है।

जीव सदा उपासक, ब्रह्म सदा उपास्य है और यही उनका नित्य सम्बन्ध है। एक जगद्व्यापार को छोड़कर मुक्त जीव ब्रह्म के सब गुण प्राप्त कर सकता है। माया का आश्रय कौन है? वह ब्रह्म को क्यों ढाँपती है? उसका स्वरूप क्या है? उसमें क्या प्रमाण है? उसका निवर्त्तक कौन है? इत्यादि प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलते। श्रुति तो कहीं भी अभेद की बात नहीं कहती, परमेश्वर नियामक व जीव नियम्य है। परिणामवाद सत्य है। जीव व जगत् उसी ब्रह्म के परिणाम हैं। ईश्वरीय प्रसाद से मुक्ति मिल सकेगी। मायाजाल से सङ्कट बढ़ेगा। आचार्य्य की शरण में जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके चित्त शुद्धि का सम्पादन करना चाहिए। सिद्ध वस्तु के ज्ञान से मुमुक्षु को स्थिर व अनन्त फल मिलता है—यह श्रुतिसम्मत बात है। कर्म का फल सान्त व अनित्य है। कर्म-मीमांसा का यही मत है, इसलिए कर्म-ज्ञान के पीछे मत पड़ो, ब्रह्म-ज्ञान को सम्पादन करो इत्यादि। आगामी लेख में माध्व सम्प्रदाय का वर्णन पढ़िए।

[माध्वमत]

माध्व सिद्धान्त को शुद्ध द्वैत कह सकते हैं। इनके मत में ब्रह्म कहिए, परमेश्वर कहिए, विष्णु कहिए, एक ही बात है। इनके मत में गुणों का अधिष्ठान अर्थात् जिसमें गुण रहते हैं अथवा जिससे गुण प्रकट होते हैं, वह गुणी है। नैय्यायिक भी ऐसा ही मानते हैं। परमेश्वर केवल गुण अथवा गुण-समुदाय का नाम नहीं, वह गुणी है, गुणाधार है, गुणाश्रय है। अर्थात् परमेश्वर व उसके गुण पृथक्-पृथक् वस्तु हैं इसलिए परमेश्वर के स्वरूप में स्वगत-भेद है—ऐसा इनके अनुयायी मानते हैं। संसार में जितने गुण, सद्गुण अथवा कल्याणकारी गुण हैं वे सब परमेश्वर में हैं अथवा रहते हैं अथवा यों कहिए कि उन गुणों को परमेश्वर का आश्रय मिला है अथवा मिलता रहता है इसी-

लिए वे सद्गुण हैं। इन्हीं अनन्त गुणों में सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वदयाधनत्व इत्यादि गुणों का अन्तर्भाव समझिए। वह सर्वज्ञ है, इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञानी है, केवल ज्ञान नहीं। वह सर्वकर्त्ता है—इसका अर्थ यह है कि जगत् में जो अहर्निश उलट-फेर होता रहता है अथवा उत्पत्ति, स्थिति व संहार के काम होते रहते हैं वे सब उसकी सत्ता से, उसके तन्त्र से अथवा उसकी इच्छा से होते रहते हैं। वह सर्व दयाधन है, भक्तों पर प्रसन्न रहनेवाला है। सत्कर्म व मोक्ष की प्रेरणा, जो जीव को होती है, वह उसीकी इच्छा से होती है। सारांश जीवों का नियमन करनेवाला, उनको ज्ञान अथवा अज्ञान देनेवाला, उनको बद्ध-मुक्त करनेवाला वही परमेश्वर है। यह है माध्व सिद्धान्त का निष्कर्ष। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष—इस अष्टक का कर्त्ता व प्रयोजक वही है।

जब ऊपर की बात मानी जायगी तब ब्रह्म-जीव का पारस्परिक भेद है और वस्तु तन्त्र से भेद उत्पन्न होते हैं—यह बात माननी पड़ेगी। ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वगुणी है, सर्वव्यापी है और जीव अल्पज्ञ है, अल्पगुणी है, अल्पव्यापी है; ब्रह्म स्वतन्त्र और जीव परतन्त्र है—इत्यादि बातों का उल्लेख चतुःसूत्री के भाष्य में आ गया है। उससे स्पष्ट है कि माध्वमत में ब्रह्म व जीव सजातीय किन्तु परस्पर भिन्न हैं। इनके मत में चित् और जड़ दोनों भिन्न पदार्थ हैं और विश्व में विजातीय भेद जो दृष्टिगोचर होता है पारमार्थिक है, सत्य है, केवल व्यावहारिक अथवा आपेक्षिक सत्य नहीं। इस प्रकार इनके मत से सजातीय-विजातीय स्वगत-भेद ही हैं। ब्रह्म, जीव व जगत् तीनों पदार्थ परमार्थतः सत्य हैं। इनमें वास्तविक भेद हैं, जीवों-जीवों में भेद हैं, जड़ों-जड़ों में भेद हैं। सारांश सर्वत्र शुद्ध भेद का साम्राज्य है।

२—माध्व मत में माया अथवा अध्यास का स्वीकार नहीं

किया गया। ब्रह्म व जीव, चित् और जड़ के सत्यदार्थ, व्यवहार
परमार्थ दोनों परस्पर भिन्न हैं। सारांश वे सर्वत्र भिन्न हैं—ऐसा
मान लेने से मायावाद का निरास हो जाता है।

३—माध्व मत में विष्णु ही ब्रह्म हैं, जो लक्ष्मी का पति है
समुद्रवासी है, शेषशायी है। श्रुति के आधार से आप यही सिद्ध
करते हैं। शेष सब देव विष्णु के तन्त्र से ही चलते हैं अर्थात्
विष्णु स्वतन्त्र है और अन्य सब देव विष्णु के अधीन हैं।

४—इनके वेदान्त भाष्य से पता चलता है कि नारायण
परब्रह्म और सब गुणों की खान है। (पहले अध्याय का सार)
उसमें दोष का गन्ध भी नहीं। (द्वितीय अध्याय का सार); वह
ज्ञेय है, ज्ञान-गम्य है, उसको जानने का मुख्य साधन ज्ञान
अर्थात् शुद्ध चित्त-युक्त ज्ञान है। इसी ज्ञान से उसका प्रसाद
होता है। भक्ति से वह प्रसन्न होता है। (तीसरे अध्याय का सार)
वह गम्य है, वहाँ तक पहुँच सकते हैं, ज्ञानी भक्तों को ही मोक्ष
मिल सकता है। (चतुर्थ अध्याय का सार)।

५—केवल अनुमान से ब्रह्म-सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति
स्मृति, पुराणों का भी आश्रय लेना पड़ेगा। केवल अनुमान से
ब्रह्म-सिद्धि असम्भव है—इस बात में तीनों आचार्य एकमत हैं।
ब्रह्म-ज्ञान के लिए श्रुतिगत वेदान्त शास्त्र-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक
है। अपौरुषेयशास्त्र ही निश्चयात्मक रूप से ब्रह्म-ज्ञान का वर्णन
कर सकते हैं। श्री माध्व शास्त्रों में चार वेद, भारत व पञ्चरात्रक
व रामायण को भी मानते हैं। वेदों में आरण्यक व उपनिषदों
का अन्तर्भाव मानते हैं, स्मृतियों को भी मानते हैं। आश्चर्य यही
है कि शास्त्रों में भारत, रामायण व पञ्चरात्रक को भी मानते हैं।

श्री० प्रो० भानु का मत है कि माध्व सम्प्रदाय के प्रवर्तक
श्री माध्वाचार्य तो हैं ही तथापि उनके एक विद्वान् शिष्य श्री जय-

तीर्थ के कारण माध्व सिद्धान्त की ख्याति व प्रसार में बड़ी सहायता मिली। जयतीर्थ की व्याख्या अपने ढङ्ग की सुन्दर है। आगामी लेख में वल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन पढ़िए।

[वल्लभमत]

यदि माध्व मत को शुद्ध द्वैत कह सकते हैं तो श्रीवल्लभ मत को शुद्धाद्वैत (शुद्ध-अद्वैत) कहना पड़ेगा; केवल अन्य अद्वैतवादियों से इनका इतना भेद है कि वे अद्वैत-सिद्धि के लिए माया का आश्रय नहीं ढूँढते। श्रीवल्लभाचार्य बड़े ही विद्वान् और तार्किक पुरुष थे। इनको भक्तिमार्ग अत्यन्त प्रिय था। यही भक्तिमार्ग गुजरात में पुष्टिमार्ग नाम से प्रसिद्ध है। श्रीभगवान् कृष्ण की उपासना करते हुए ज्ञानमार्ग का विचार करना चाहिए अर्थात् श्रीवल्लभ ज्ञान-कर्म-समुच्चय को मानते हैं। भक्ति के बल पर इन्होंने ब्रह्म में सब परस्पर विरोधी गुणों को भी माना है। श्रीवल्लभ स्मृति, महाभारत, पुराण व भागवत को वेद के तुल्य आदर की दृष्टि से देखते हैं। इन सबकी तुल्य-वाक्यता को साधने के लिए उन्होंने ब्रह्म को 'विरुद्ध धर्मशील' तक माना है—यही आश्चर्य है। श्रीवल्लभ के सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है:—

१—वेद-वेदान्त वाक्यों को सङ्गति बैठाने में जो विरोध प्रतीत होता है और जो शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं उनके निरासार्थ ब्रह्ममीमांसा की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि वेदसम्मत मार्ग से साङ्गोपाङ्ग विचार न हुआ तो किसीको भी पुरुषार्थ-सिद्धि अर्थात् मोक्ष नहीं मिल सकेगा।

२—वेदों का अध्ययन करके जिन्होंने धर्मविहित आचरण रखा है, ऐसे वैष्णवों को ही वेदान्त की चर्चा का अधिकार है।

३—ब्रह्म-मीमांसा केवल ज्ञानस्वरूप नहीं है। वह तो धर्म-कर्म-स्वरूप है। केवल ब्रह्मज्ञ पुरुष द्वारा किया हुआ कोई कार्य

वीर्यवत्तर हो सकता है अथवा हो जाता है। ज्ञान की सहायता से कर्म तेजस्वी होता है और कर्म की सहायता से ज्ञान सुलभ अर्थात् सुलभ हो जाता है।

४—सब दृश्य व अदृश्य गुणों का समावेश ब्रह्म में है। जैसे सूर्यविकासी कमल सूर्योदय होने पर खिलता है और सूर्यास्त के होते ही बन्द हो जाता है, इसी प्रकार जगत् के आविर्भाव तिरोभाव (संहार) ईश्वर के सत्य सङ्कल्प पर निर्भर हैं। जैसे अग्नि की चिनगारियाँ सर्वत्र एक साथ फैल जाती हैं, इसी प्रकार सब सृष्टि एकदम प्रकट होती है अथवा बनती है। सृष्टि की उत्पत्ति क्षण भर में हो जाती है।

५—मायावाद सर्वथा मिथ्या है, सत्य नहीं। वेद स्वतःसिद्ध प्रमाण हैं। वेद कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि रची, सृष्टि बनाई इसलिए मायावाद असत् व मायावादी झूठे हैं। एक ही ब्रह्म सर्वत्र ओत-प्रोत है, व्यापक है और वह जैसा दीखता है वैसा ही है। ब्रह्म में अनन्त धर्म हैं तो भी वह एकरस है, उसकी एकरसता में कदापि बाधा उत्पन्न नहीं होती। जीव अणुपरिमाण है, वह असन्तोषी है, वह परतन्त्र है।

इस प्रकार हमने क्रम से श्री शङ्कराचार्यजी के केवलाद्वैत श्री रामानुजाचार्यजी के विशिष्टाद्वैत, श्री माध्वाचार्यजी के शुद्ध द्वैत व श्री वल्लभाचार्यजी के शुद्धाद्वैत का दिग्दर्शन कराया। विचक्षण वाचक इनके सिद्धान्त-भेद की सूक्ष्म गति को समझ गये होंगे। इन चार आचार्यों के अतिरिक्त वेदान्त पर प्रकाश डालनेवाले एक निम्बार्काचार्य हुए हैं। उनको द्वैताद्वैती भी कहते हैं। ये व्यवहार काल में पूर्ण द्वैत व मोक्ष दशा में पूर्ण अद्वैत मानते हैं। वर्त्तमान युग में स्वामी दयानन्द ने भी वेदान्त पर कुछ चर्चा की है। स्वामी जी बादरायण के ब्रह्मदर्शन अथवा वेदान्त दर्शन को छः शास्त्रों

मानते हैं। उनकी पाठ्य-प्रणाली में वेदान्तशास्त्र को आदर-पूर्वक स्थान दिया गया है। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में नवीन वेदान्त पर चर्चा करते हुए पन्द्रह सूत्रों पर प्रकाश डाला गया है पर यह चर्चा बहुत थोड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीस्वामीजी ने आचार्य-चतुष्टयों के अभिप्राय पर पूर्ण विचार किया था—स्वामी जी ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अनादि मानते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है; जीव अल्पज्ञ व अल्पशक्ति है; व प्रकृति अनादि है, उसकी विकृति सान्त है। प्रकृति की विकृति जीवात्मा के भोग के लिए है। जीव भोक्ता है और ईश्वर साक्षीरूपेण द्रष्टा है—इत्यादि उनका मत है। आपके कथन की पुष्टि में भी वेद व उपनिषद् के प्रमाण मिलते ही हैं। स्वा० विवेकानन्दजी व स्वा० रामतीर्थ का वेदान्त जो कि प्रैक्टिकल वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है शङ्कराचार्यजी के वेदान्त की ही आभा है। भारतवर्ष को तेजस्वी वेदान्त की आवश्यकता है। निष्क्रिय वेदान्त की नहीं। सच्चा वेदान्ती हो और हो वह निष्क्रिय—यह हो नहीं सकता।

वेदान्ती रहितक्रियः किमपरं, हास्यास्पदं भूतले ॥

२—चलो अनन्त की ओर

:o:

नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तः, त्व नयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

जो असत् है, मूल में नहीं है, वह वस्तु आयेगी कहाँ से ? जो सत् है, जिसकी जड़ है उसको मिटायेगा ही कौन ? इस प्रकार तत्त्वदर्शियों ने सत् और असत् का ओर-छोर देख लिया है। इसीलिए वे अन्त को छोड़कर अनन्त की ओर दौड़ते हैं। यह चराचर जगत् सान्त है, नश्वर है, इसमें सुख कहाँ ? ऐसा सुख कहाँ जो परिणाम में सुख हो, इसीलिए चलो अनन्त की ओर, जो आदि-मध्य-अवसान में सत्य ही सत्य है; अथवा जिसको आदि-मध्य व अवसान तीनों नहीं हैं फिर भी सत्य है। जो सान्तों के साथ, भीतर-बाहर, सब जगह होता हुआ भी है अनन्त, चलो उसी अनन्त की ओर ! उस महान् आकाश से ही पञ्च महाभूतों की सृष्टि हुई है, चलो उस अनन्त आकाश की ओर।

'आकाशाद्वा इमानि भूतानि जायन्ते'

जिसके अभिध्यान मात्र से सर्ग के आदि में परमाणुओं में गति-प्रगति होकर परमाणु से द्वयसरेणु, द्वयसरेणु से त्र्यसरेणु इसी क्रम से पञ्चमहाभूतों की सृष्टि होती है, जिस अनन्त में सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय जैसे महा कार्य हो जाते फिर भी जिस अनन्त में तनिक भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, चलो उसी अनन्त की ओर ! अनन्त की ओर चलें तो सही, उड़ें तो

सको; पर उसका कुछ ओर-छोर भी है ? उसकी ओर चलें तो कहाँ तक ? उड़ें तो कहाँ तक ? यह तो तुम जल में खोज रहे हो। भला आज तक किसीने उस अनन्त का छोर पाया भी है ? अनन्त वेद (अनन्ता वै वेदाः) भी जिसका ओर-छोर नहीं पा सकते, ऋषि-मुनि-महर्षि भी जिसके स्वरूप के लक्षांश को भी नहीं साक्षात् कर सके, उस अनन्त की ओर कोई कैसे चले, कोई उसको कैसे पावे ? हम भी तो सादि-सान्त हैं, हम अनन्त को कैसे पा सकेंगे ? शरीराध्यास के कारण ही तुम अपने को सादि-सान्त समझ बैठे हो। ज़रा अध्यास को छोड़ो तो ज्ञात हो जायगा कि तुम भी अनादयनन्त हो जैसे कि वह अनन्त है। जितने सादि पदार्थ हैं वे सब सान्त हैं, जो सान्त हैं उनमें आपेक्षिक सत्य भले ही हो पर उनमें पारमार्थिक सत्य नहीं है। जिनमें पारमार्थिक सत्य नहीं है उनमें सुखाभास भले ही हो पर परिणाम में सुख नहीं है; ऐसा सुख नहीं है जो स्थिर, अविकारी हो। अनन्त जब अनन्त में मिलेगा, तब उस आनन्द को कौन वर्णन कर सकेगा ? क्षुद्र, नश्वर, मिथ्या मनुष्य-शरीर पाने का यह उद्देश्य कदापि नहीं कि सान्त में शान्त होकर भव-बन्धन में बार-बार पड़कर आपेक्षिक सुख-दुःख के चक्र में पड़ें और अनन्त से चिरकाल के लिए विमुख हों—इसलिए चलो अनन्त की ओर। जैसे पक्षी इस महान् आकाश में शक्तिभर उड़ता है और जब उड़ते-उड़ते थक जाता है तो वह फिर अपने घोंसले में आ जाता है, विश्राम करके फिर ऊपर उड़ता है। वह, इस महान् आकाश के ओर-छोर की बात तो दूर रही, उसके एक प्रदेश में भी अच्छी तरह उड़ नहीं पाता, तो भी तुम्हारी आत्मा हो तो अपने आत्मा की गति को उसकी गति के साथ मिलाकर ज़रा उड़कर तो देखो फिर तुमको अनन्त की ओर उड़-कर जाने की दिव्य और भव्य कल्पना में भी सीमातीत आनन्द

आधेय न [illegible] पाश्चात्य विज्ञानवादी विज्ञान के बल पर महान् आकाश में जितना उड़ा जाता है उड़ते ही हैं, ज़रा उनसे महान् आकाश में उड़ान के आनन्द को तो पूछो। अभी-अभी जिस मण्डली ने हिमालय के सबसे ऊँचे शिखर की परिक्रमा की, उनसे तो जाकर पूछो—क्या आनन्द मिला, वह आनन्द कैसा था? छोड़ो सन्देहवाद को, छोड़ो कर्कश तर्कवाद को; इन दोनों वातावरणों से ऊपर उड़ोगे तो अनन्त आकाश में उड़ने का आनन्द प्राओगे। चलो अनन्त की ओर—जितना चला जाय चलो, जितना उड़ा जाय उड़ो—चलो अनन्त की ओर। जिस अनन्त की खोज में सहस्रों भारतीय तत्त्ववेत्ता विलीन हुए, जिस अनन्त की खोज में ऋषि-मुनि-महर्षिगण लीन हुए, जिस अनन्त का ओर-छोर क्रान्तदर्शी कवियों ने भी नहीं पाया, फिर तो अनन्त की ओर दौड़े ही दौड़े चलो, उसी अनन्त की ओर। वेदों में जो उस अनन्त के विराट् रूप की कल्पना की गई है वह तो उसकी सोलहवीं कला भी नहीं। चलो उसी अनन्त की ओर—उस अनन्त की पूरी-पूरी कल्पना करने में, उसकी ठीक-ठीक अटकल लगाने में वेद के पुरुष-सूक्त, विराडध्याय, विश्वाडध्याय भी फ़ेल हुए—चलो उसी अनन्त की ओर!

हम सान्त (अध्यारोप अथवा अध्यास के कारण अपने को सान्त मानते हैं, पर है यह भारी भूल) अनन्त को यत्न करें तो समझ सकते हैं, पर समझ लेने पर वर्णन नहीं कर सकते। हम ही क्या, ऋषि-मुनि-महर्षि इसी बात को झींकते चले गये। जब समझ सकते हैं तो फिर हिचकिचाहट क्यों? चलो, निःशङ्क उसी अनन्त की ओर!

देवन्देवं वोऽवसे देवन्देवमिष्टये।
देवन्देवꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो दैव्या धिया॥ [यजुः० ३३-९१]

हे देवो, उस अनन्त को पाने के लिए प्रकाशमयी बुद्धि से काम लो और चलो उस अनन्त की ओर!

मैंने सब खेल देख लिये, इस मोहक प्रकृति-जाल में कहीं भी आनन्द का नाम नहीं है। वैसे इस आपातरम्य—ऊपर-ऊपर से सुहावनी दीखनेवाली—प्रकृति के जाल से निकलना है कठिन, पर ज़रा से प्रयत्न से, ज़रा से दृढ़ अध्यवसाय से वही अनन्त दिखलाई देने लगेगा। चर्म-चक्षुओं से नहीं, ज्ञान-चक्षुओं से दिखाई पड़ेगा। वह अनुभव का विषय होगा, चलो उसी अनन्त की ओर!

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महतीविनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

वह अनन्त पास नहीं मिलेगा, तो दूर मिलेगा, दूर न मिलेगा, तो पास ही मिल जायगा। जहाँ तुम निराश होकर थककर बैठ जाओगे, मिलना हो तो वहीं मिल जायगा। बात सारी यह है कि तुम्हें सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प होकर अनन्त की ओर चलना होगा, उड़ना होगा। उड़ो, एक बार हिम्मत बाँधकर अनन्त की ओर! सब चराचर पदार्थ जब अन्त में अनन्त की ओर जायँगे और उसीमें मिल जायँगे तब हम पहले ही से अनन्त की ओर क्यों न चलें? वह अनन्त है सत्य, वह अनन्त है ज्ञान, वह अनन्त है अनन्त—सम्पूर्ण रूप में है वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्।' लौकिक शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि वह है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्।' चलो अनन्त की ओर!

चतुर्थ गुच्छक

गान्धी-गीता

[१]

अब की वार महात्मा गान्धी की गीता देखने का अवसर मिला। यह गीता का सरल अनुवाद है जोकि उन्होंने यरवदा जेल में किया था। भूमिका में महात्माजी कहते हैं कि इस अनुवाद के पीछे ३८ वर्ष का अनुभव है और वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि वस्तुतः गीता में जो कौरव-पाण्डवों की बात कही गई है, वह आध्यात्मिक युद्ध की बात है; उस आध्यात्मिक युद्ध को समझाने के लिए ही इस भौतिक अथवा लौकिक युद्ध का आश्रय लेना पड़ा है अर्थात् असली कौरव-पाण्डवों का युद्ध कभी नहीं हुआ एवम् महाभारत भी इतिहास नहीं है और युद्ध की बात आलङ्कारिक है। अवतार के विषय में महात्माजी का कथन इस प्रकार है कि सब पुरुष एक प्रकार से ईश्वर के ही पुत्र हैं और ईश्वर के पुत्रों में से जो कोई अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होगा, वही अवतारी पुरुष है। वह कहते हैं कि अनासक्ति योग सत्य और अहिंसात्मक प्रवृत्ति रखने से ही होगा; स्थित-प्रज्ञ के जो लक्षण दिये गये हैं, उससे स्पष्ट है कि हिंसात्मक युद्ध की बात गीता को बात नहीं हो सकती। यह है सारांश महात्मा गान्धी की छोटी भूमिका का, जो कि उन्होंने गीतानुवाद के साथ दी है। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गान्धी की आध्यात्मिक युद्ध को बात मान लेने से गीता का कुछ बिगड़ता

नहीं है, किन्तु यदि महाभारत के युद्ध को आलङ्कारिक मान लिया जाय, तो एक तो परम्परा नष्ट हो जाती है और कृष्ण आदि का होना जो एक इतिहास-प्रसिद्ध, परम्परा-प्रसिद्ध बात है, वह भी नष्ट हो जाती है। फिर तो पुराणों को कृष्ण-सम्बन्धी अनेक बातों पर हड़ताल फेरनी पड़ेगी।

महात्माजी ने एक बात अच्छी कही है। वह यह कि मूल-गीता परम्परा से इसी रूप में रही और भविष्य में भी रहेगी, किन्तु इसके अर्थों का स्थिर रहना कठिन है। वस्तुतः गीता परम्परा से इसी रूप में आ रही है और समय-समय पर आचार्यों ने इसके अनेक अभिप्राय निकाले हैं; कोई इसको द्वैत की ओर ले गया, कोई अद्वैत की ओर, कोई द्वैताद्वैत की ओर। किन्तु महाभारत के समय से लेकर अब तक एक भी ऐसा आचार्य नहीं हुआ, जिसने महाभारत के युद्ध को आलङ्कारिक बतलाकर कृष्ण, कौरव और पाण्डवों की बात को उड़ा ही दिया हो अथवा उसके आध्यात्मिक अर्थ किये हों। लोकमान्य तिलक भी, जिन्होंने ४३ वर्ष के अनुभव के पश्चात्, 'गीतारहस्य' को रचा, परम्परा को नहीं छोड़ रहे हैं और कृष्ण-कौरव-पाण्डव—इनको भारतीय इतिहास के मुख्य पात्र समझते हैं। स्वा० दयानन्द जैसे प्रबल तार्किक आचार्य की दृष्टि से भी कृष्ण, कौरव-पाण्डव बचे ही रहे—केवल स्वामी जी ने अवतारवाद को न मानकर भगवान् कृष्णचन्द्र को योगिराज की पदवी पर बिठा रखा है और गीता के निम्नलिखित श्लोक का और ही अर्थ किया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यहाँ 'सर्वधर्मान्' पद में स्वामीजी 'सर्व+अधर्मान्' ऐसा पदच्छेद निकालकर "सब अधर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ,

मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा—ऐसा कृष्ण भगवान् के मुख से कहलाते हैं। दूसरे आचार्य धर्म शब्द से सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण सम्बन्धी समस्त कार्यों को छोड़कर त्रिगुणातीत होने की बात कह रहे हैं।

महात्मा गान्धी के आध्यात्मिक युद्ध की बात काटी नहीं जा सकती, क्योंकि हमारे पूर्वाचार्यों ने—उपनिषत्कारों ने—भी तीन प्रकार के युद्ध माने हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

आध्यात्मिक—जैसे इन्द्रियों का देवासुर-सङ्ग्राम।

आधिभौतिक—जैसे मनुष्य-समुदायों के सङ्ग्राम।

आधिदैविक—जैसे इन्द्र-वृत्रासुर के सङ्ग्राम अर्थात् निरुक्त के शब्दों में वर्षाकालीन इन्द्र अर्थात् वायु और वृत्रासुर अर्थात् मेघ के सङ्ग्राम।

इसलिए गान्धीजी के आध्यात्मिक युद्ध की बात मानकर भी हम उनकी इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि महाभारत का युद्ध हुआ ही नहीं अथवा कौरव-पाण्डव अलङ्कार मात्र हैं। इस विषय में हम आगे चलकर ऊहापोह करेंगे।

[२]

महात्मा गान्धी कहते हैं कि आदिपर्व को देख जाने के पश्चात् सन्देह नहीं रहता कि युद्ध की बात आलङ्कारिक है। हम पहले यही देखें कि आदिपर्व में है ही क्या?

देवासुर-सङ्ग्राम अनन्त काल से चला आ रहा था और जहाँ-जहाँ भी असुरों की प्रबलता हुई देवों ने असुरों को मार भगाया। जब देवताओं को पता लगा कि असुरों ने कौरवों के रूप में इह लोक में जन्म लिया है तब देवों ने भी इह लोक में पाण्डवों में प्रवेश किया अथवा पाण्डवों के रूप में आये और होने लगी यहीं छेड़-छाड़।

भगवान् कृष्ण ने भी इस लोक में जन्म लिया। और आरम्भ में प्रारम्भ से ही जिस प्रकार छेड़-छाड़ रही वह सब महाभारत में अविकलरूपेण दी गई है। इस छेड़-छाड़ का अन्तिम स्वरूप महाभारत का युद्ध है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब दोनों ओर की सेना आ डटी और सैन्य-प्रदर्शन के पश्चात् जब अर्जुन को मोह उत्पन्न हुआ, तब भगवान् कृष्ण ने गीतोपदेश दिया, जिसका समष्टितार्थ यह है कि—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (१८-४८)

हे अर्जुन, स्वाभाविक अर्थात् स्वभाव-प्राप्त कर्म को चाहे वह दोषयुक्त ही हो, कभी न छोड़ना चाहिए। देखो, जिस प्रकार अग्नि के साथ धूम्र का होना आवश्यक अथवा अपरिहार्य है, इसी प्रकार साहजिक कर्मों के साथ थोड़े-बहुत दोष लगे ही रहते हैं। बस, सारी गीता का तात्पर्य यह है। प्रसङ्ग-वश अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् कृष्ण को अनेक शास्त्रों की बातें कहनी पड़ी हैं। क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है कि रणक्षेत्र से मुँह नहीं मोड़ना, आततायियों को मारना चाहे वे आततायी इष्ट मित्र हों, चाहे सम्बन्धी हों, चाहे गुरुजन अथवा आचार्य हों।

महात्मा गान्धी आदिपर्व में वर्णित देवासुरों की बात को लेकर ही चले हैं। इसीलिए गीता के युद्ध को आलङ्कारिक रूप में मानते हैं। किसी बात को यथार्थ और किसी बात को आलङ्कारिक मानने से यह घपला हो गया है। शेष कर्मयोग, कर्मफल में अनासक्ति आदि सभी बातों को महात्माजी उसी प्रकार मानते हैं, जिस प्रकार कि अन्य आचार्य मानते चले आ रहे हैं। महात्माजी यज्ञ में पशु-हिंसा नहीं मानते। गीता को धर्मकाव्य मानते हैं। महात्माजी कहते हैं—

"गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें जितना गहरे उतरेंगे उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाज के लिए है। उसमें एक ही बात अनेक प्रकार से कही गई है। इसलिए गीता के महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता अथवा विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। वह मन्त्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके, उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।"

इसी अपने अभिप्राय के अनुरूप महात्माजी ने गीता-श्लोकों का अनुवाद करते हुए यत्र-तत्र भावात्मक टिप्पणियाँ दी हैं।

लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धीकी प्रतिपादन-शैली में भेद है। लोकमान्य तिलक के विस्तृत ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' में पौरस्त्य और पाश्चात्य सदसद्विवेक-शास्त्र के सिद्धान्तों की तुलना की गई है और गीता शास्त्र, किस प्रकार संसारमें रहकर, संसार के काम करते हुए, संसार के प्रभाव से बचे रहना चाहिए इत्यादि विषयों का सुन्दर, सोपपत्तिक विवेचन है। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्माजी को इस प्रकार की तुलनात्मक विवेचना करने का अवसर ही नहीं मिला। इसीलिए चौबीस पृष्ठों में संक्षेप से अपना मत प्रकट करके और गीता-श्लोकों के अनुवाद के साथ-साथ कहीं-कहीं आवश्यक टिप्पणी देकर सन्तोष कर लिया है।

महात्मा गान्धी ने अच्छा किया कि अपने विचार जनता के सामने रखे; यह और बात है कि भारतीय जनता उनकी कई बातों से सहमत न हो। पर महात्मा गान्धी जब उनको एक बात सूझी तब उसको प्रकट किये बिना कैसे रह सकते थे। महात्मा गान्धी और लोकमान्य तिलक का एक वाद

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

इस श्लोक पर बड़ा वाद-विवाद हो गया था। यह अपनी-अपनी मनोवृत्ति की बात है। महात्मा गान्धी को सत्त्व-रज-तम की बात, उन तीनों गुणों वाले पुरुषों की दशा, उन गुणों का जीवन पर प्रभाव और इन तीनों गुणों का परस्पर सङ्घर्ष और उसमें कभी-कभी किसी की किसी पर विजय—यही देवासुर-सङ्ग्राम सूझा है और पाण्डव तथा कृष्ण दैवी वृत्ति के एवं दुर्योधनादि आसुरी वृत्ति के प्रतिनिधि मात्र हैं। अन्ततोगत्वा दैवी प्रवृत्तिवालों की विजय—यही बात भा रही है। सो, इसमें तो कोई मतभेद हो नहीं सकता, परन्तु उनके जिस कथन से मतभेद है, वह बात यह है—

"महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता···उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाभारत में तो व्यास भगवान् ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।"

"गीता के कृष्ण मूर्त्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं।"

इसमें सन्देह नहीं कि गीता के प्रथम अध्याय में युद्ध-कहानियों का विस्तृत वर्णन आया है, पर गीता सहज अर्थात् स्वाभाविक सदोष कर्म को भी करने पर बल देती है—आततायियों के मारने पर भी बल देती है। इसलिए महात्मा गान्धी गीता से जिस प्रकार की अहिंसा निकालना चाहते हैं, उस प्रकार की अहिंसा न निकल सकेगी। अपितु गीतोपदेष्टा कृष्ण आततायियों की हिंसा को हिंसा ही नहीं समझ रहे हैं। गीतोपदेष्टा कृष्ण त्रिकालाबाधित सत्य और व्यावहारिक सत्य में बहुत बड़ा भेद मानते हैं। महाभारत में सत्य क्या है और असत्य क्या है—इसका नीतिदृष्ट्या व्यवहारदृष्ट्या बहुत सुन्दर विचार किया गया है।

[२]

संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष गीता को किस दृष्टि-कोण से देखता है—इसका स्थूल विवेचन गत लेखों में हो चुका। उसीकी दृष्टि से भिन्न-भिन्न श्लोकों पर क्या प्रकाश पड़ता है—यह उन्हीं की टिप्पणियों से देखेंगे।

"मुझे गीता का प्रथम परिचय सन् १८८८—८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे, पढ़ गया। परन्तु ऐसा पठन मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का अधिकार बिलकुल नहीं देता। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती-ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। फिर मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की?" इस प्रकार विनय जतलाने के पश्चात् महात्माजी लिखते हैं—"गीता को मैंने जैसा समझा है उसी तरह उसका आचरण करना मेरा और मेरे साथ रहनेवालों में से कई का बराबर उद्योग रहा है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ है। उसके अनुसार आचरण करने में निष्फलता (फल-त्याग की भावना) नित्य आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है। इस निष्फलता में हमें सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है, वह अर्थ इस अनुवाद में है। इसके सिवा स्त्री, वैश्य और शूद्र-सरीखे, जिन्हें अक्षर-ज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, न इच्छा है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हींकेलिए यह अनुवाद है।" इस अनुवाद में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है। उन सबका अपना

स्थान भले ही हो, पर उनके विषय में अनुवादकर्ता का आचार-रूपी अनुभव का दावा हो, ऐसा मेरे जान में नहीं है। इस अनुवाद के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है।" इत्यादि। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि महात्मा गान्धी ने अड़तीस वर्ष के अनुभव और आचरण-बल पर यह अनुवाद प्रकट किया है, इसलिए गम्भीरतापूर्वक इस अनुवाद में की गई टीका-टिप्पणियों पर विचार होना चाहिए।

प्रथम अध्याय

प्रथम श्लोक पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गान्धी इसी शरीर को कुरुक्षेत्र मानते हैं। कौरवों को आसुरी वृत्तियाँ और पाण्डवों को दैवी वृत्तियाँ मानते हैं। बस, यहीं से गीतार्थ को पलटा देना प्रारम्भ किया है। इस एक झटके के साथ ही कुरुक्षेत्र का मैदान गया, कौरव और पाण्डव गये। इस अध्याय में और किसी श्लोक पर टिप्पणी नहीं दी गई।

द्वितीय अध्याय

'देही नित्यमवध्योऽयं' (श्लोक ३०)

इस श्लोक पर मनोरञ्जक टिप्पणी दी गई है—"यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित समझा जाय, तो स्वजन-परिजन का भेद करके, कौरव सगे हैं इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय—यह विचार मोहजन्य है।"

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" (श्लोक ३७)

इसपर टिप्पणी है—"अनायास प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय को धर्म की बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१ वें श्लोक से भगवान् ने परमार्थ के साथ उपयोग का मेल मिलाया है।"

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (श्लोक ३८)

इसको गीता का प्रधान उपदेश मानते हैं।

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" (श्लोक ६९)

इस श्लोक पर यह सीधी-सादी टिप्पणी है—"भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच-रङ्ग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। साथ ही भोगी संसार का प्रपञ्च बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है। उधर संयमी सांसारिक प्रपञ्चों से बेख़बर रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार भगवान् ने बतलाया है कि दोनों का पन्थ न्यारा है।"

तृतीय अध्याय

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (श्लोक ८)

इस श्लोक में 'नियत' शब्द के विषय में अनेक टीकाकारों का भिन्न मत है अर्थात् वे यह कहते हैं कि 'नियत' अर्थात् जिस वर्ण के लिए जो विहित कर्म है उसको करना चाहिए। अर्थात् गीता के

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'

इस श्लोक के साथ सङ्गति बैठाते हैं। 'सहज' और 'नियत' दोनों को समानार्थक मानते हैं। महात्मा गान्धी 'नियत' शब्द का सम्बन्ध पूर्व श्लोकों के साथ जोड़कर नियत अर्थात् नियमित-संयमित कर्म करने चाहिएँ—ऐसा अर्थ करते हैं।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" (श्लोक ३५)

इस श्लोक पर महात्माजी लिखते हैं—"समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ बिना जाय, परन्तु

भाड़ देनेवाला अपना धर्म त्याग दे, तो वह भ्रष्ट हो जाय और समाज को हानि पहुँचे। ईश्वर के यहाँ दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जायगा। व्यवसाय का मूल्य वहाँ तो एक ही हो सकता है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य पालन करें, तो समानरूप से मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।"

चतुर्थ अध्याय

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।" (श्लोक ७-८)

इस पर लिखते हैं कि "यहाँ श्रद्धालु को आश्वासन है और सत्य की—धर्म की अविचलता की प्रतिज्ञा है। इस संसार में ज्वारभाटा हुआ ही करता है, परन्तु अन्त में धर्म की ही जय होती है। सन्तों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता। दुष्टों का नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है। ऐसा जानकर मनुष्य अपने कर्त्तापन के अभिमान से हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वर-जन्म है। वस्तुतः ईश्वर को जन्म ही नहीं लेना होता।"

यह मनोरञ्जक व्याख्या ध्यान देने योग्य है। इस अध्याय में और कोई विशेष ध्यान देने योग्य टिप्पणी नहीं। प्रायः वे ही अर्थ हैं, जैसे अन्यों के।

पञ्चम अध्याय

इसमें भी कोई विशेष टिप्पणी नहीं है। आगामी लेखों में देखेंगे कि क्या क्या नई बातें हैं।

छठा अध्याय

श्लोक १ में 'निरग्नि' पर टिप्पणी देते हुए आप लिखते

हैं। "अग्नि से तात्पर्य है सारे साधनों से जब अग्नि के मुख्य होते थे, तब अग्नि की आवश्यकता थी। मान लीजिए इस युग में चर्खा सेवा का साधन है, तो उसका त्याग करने से संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।"

इस प्रकार यदि युगानुरूप गीता के शब्दों अथवा श्लोकों के अर्थों में खींचा-तानी रही, तो फिर गीता के असली अर्थ कुछ के कुछ होकर गीता का स्वरूप ही बदल जायगा। वस्तुतः 'अग्नि' शब्द से कर्मकाण्ड की क्रिया ही लेनी चाहिए। वेदानुयायियों के लिए, हिन्दुओं के लिए, कर्मकाण्ड आवश्यक है। तब तक आवश्यक है जब वह पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर इस प्रकार के कर्मकाण्ड की आवश्यकता न समझे। पूर्ण ज्ञानी होने के पश्चात् लोक-सङ्ग्रहार्थ वह कुछ करना चाहे करे, न करे, उसकी इच्छा।

आठवाँ अध्याय

श्लोक २४-२५ में उत्तरायण और दक्षिणायन में मरनेवालों की भिन्न गति का वर्णन आया है। उसमें कहा गया है कि उत्तरायण के छः महीनों में, शुक्ल पक्ष में, दिन को, जिस समय अग्नि प्रज्वलित हो, उस समय जिसकी मृत्यु होती है, वह ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म को पाता है और दक्षिणायन के छः महीनों में, कृष्णपक्ष में, रात्रि में, जिस समय धुआँ फैला हो, उस समय मरनेवाला चन्द्रलोक को जाकर पुनर्जन्म पाता है। वस्तुतः गीता के श्लोकों के अर्थों की सङ्गति उपनिषद्-वाक्यों के साथ बैठती है, जिसमें कहा गया है कि भिन्न-भिन्न समय में मरनेवालों की भिन्न-भिन्न गति होती है और दो गतियों के नाम हैं देवयान और पितृयान। गीताकार को उत्तरायण में मरने की क्यों इच्छा हुई

और उत्तरायण के आने तक उन्होंने किस प्रकार प्राण संयम किया—यह बात प्रसिद्ध है ही। किन्तु महात्मा गान्धी इन दो श्लोकों के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—"ऊपर के दो श्लोक मैं पूरे तौर से नहीं समझता। उनके शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवा-मार्ग को सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जब मरे फिर भी मोक्ष ही पाता है। उससे इन श्लोकों का शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकार में ही जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्यु के समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चन्द्रलोक अर्थात् क्षणिक लोक को पाकर फिर संसार-चक्र में लौट आता है। चन्द्र के निजी ज्योति नहीं है।" वे दो श्लोक इस प्रकार हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

(श्लोक २४-२५)

लेखक ने इस प्रकरण पर बहुत विचार किया है और उपनिषद् के वाक्यों से सङ्गति लगाने का यत्न किया है। वह यह समझ रहा है कि वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी—ब्रह्मलोक के अधिकारी—जब चाहें मरें, सीधे ब्रह्मलोक जाते हैं। अधिक पुण्यात्मा जन सूर्यलोक में जाकर वहाँ पुण्यों को भुगतकर "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" फिर संसार में आते हैं और स्वल्प पुण्य वाले अधिक पाप वाले लोग चन्द्रलोक में जाकर स्वल्प पुण्य

[illegible] है। यदि साधकों में उत्कृष्ट, उत्तम, निकृष्ट तीन भेद [illegible] तो अधिकारी भेद से उनके मार्ग भी तीन होने चाहियें। पूछा जा सकता है कि निकृष्ट साधक अच्छे समय में मरे और उत्तम साधक निकृष्ट समय में मरे, तो उस उत्तम और अच्छे या निकृष्ट समय का कोई प्रभाव शरीर से पृथक् होनेवाली आत्मा पर होगा क्या? है तो यह विचारणीय विषय। उस समय का प्रभाव यही हो सकता है कि स्वस्वकर्मप्राप्त लोक में जाने में शीघ्रता या विलम्ब हो। उपनिषद्-वर्णित देवयान और पितृयान सूर्य और चन्द्रलोक से सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि "पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति" पुण्य करनेवाले ही वहाँ जाते हैं। पुण्य-पाप से ऊपर उठे हुए लोग ब्रह्मलोक को, पुण्यात्मा सूर्यलोक को, अधिक पापात्मा चन्द्रलोक को जाकर फिर लौटते हैं। सूर्यलोक को जानेवाले विलम्ब से लौटते हैं। ब्रह्मलोक वाले नहीं लौटते।

नवाँ अध्याय

इसमें राजविद्या राजगुह्य योग की बात है और महात्माजी इसकी सङ्गति इस प्रकार लगाते हैं:—

"मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं। उनमें मैं हूँ और नहीं हूँ। यह ईश्वर का योगबल, उसकी माया और उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान् को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे समझाया है।"

दशवाँ अध्याय

[illegible] (श्लोक 36)

इस वचन से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ सारासार का निर्णय नहीं, किन्तु जो कुछ होता है, वह विना ईश्वर की आज्ञा के नहीं होता, यह बतलाने का भाव है। और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला कपटी भी अपना अभिमान छोड़कर कपट त्यागे।"

ग्यारहवाँ अध्याय

(विश्वरूप दर्शन)

इसमें किसी श्लोक पर टिप्पणी नहीं है। प्रारम्भ में ही केवल इतना कहा गया है—"इस अध्याय में भगवान् अपना विराट् स्वरूप अर्जुन को बतलाते हैं। भक्तों को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।"

द्वादशाध्याय

श्लोक ३-४-५ पर आप टिप्पणी देते हैं कि—"देहधारी पुरुष अमृत पुरुष की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमृत स्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है। इसलिए उसको निषेधात्मक 'नेति' शब्द से सन्तोष करना ठहरा। इसलिए मूर्त्तिपूजा का निषेध करनेवाले भी, सूक्ष्म रीति से विचारा जाय, तो मूर्त्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना—यह सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान् में विलीन हो जाय और अन्त में एक अद्वितीय अरूपी भगवान् ही रह जायँ। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है। इसलिए निराकार को सीधा पहुँचने का मार्ग कष्टसाध्य कहा है।" इसपर टीका-टिप्पणी

व्यर्थ है। स्पष्ट है कि महात्मा साकार से निराकार को पहुँचना और अन्त में उसीमें विलीन होकर अद्वैतानन्द का अनुभव करना मानते हैं।

[५]

अध्याय १३, १४, १५ में कोई विशेष टिप्पणी नहीं है, जिसके विषय में चर्चा करने की आवश्यकता हो। क्योंकि उसमें मतभेद ही क्या हो सकता है। सोलहवें अध्याय में २३ वें श्लोक—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।"

पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गान्धी लिखते हैं—"शास्त्र-विधि का अर्थ, धर्म के नाम से माने जानेवाले ग्रन्थों में बतलाई हुई अनेक क्रियाएँ नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञान वाले सत्पुरुषों का दिखाया हुआ संयम मार्ग है।" इस विषय में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। महात्माजी "शास्त्रविधि" का अर्थ केवल "सत्पुरुषों का संयम-मार्ग" करते हैं और धर्मशास्त्र-प्रतिपादित क्रियाओं का निषेध करते हैं। इस विषय में विद्वानों का मतभेद होना अपरिहार्य है। हमारे शास्त्रों में धर्म को बात जानने के लिए सबसे प्रथम वेद, तत्पश्चात् तदनुकूल होने से स्मृति, वेद और स्मृत्यनुकूल आचार होने से सदाचार और विशेष दशा में जब कि कोई मार्ग न सूझे तब महात्मा जनों की अन्तःकरण-प्रवृत्तियाँ प्रमाण मानी जाती रही हैं। महात्माजी केवल अनुभवी और संयमी पुरुषों के संयम-मार्ग को ही प्रमाण मानकर वेद और स्मृति को छोड़ देते हैं—यहीं मतभेद है। हमारी धर्मशास्त्र-विधियाँ ही हमको यथार्थ मार्ग बतला सकती हैं क्योंकि वही हमारे वैदिक मार्ग की पोषक हैं। केवल "अनुभवी संयमी पुरुषों का संयम-मार्ग"—इतना कहने से अन्य मतावलम्बी संयमी पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन भी श्रेयस्कर

माना जायगा, जोकि हमको अभीष्ट नहीं है और न वह हमारी परम्परा है। मनुस्मृति में, 'धर्म क्या है'—इस विषय में क्या ही अच्छा कहा है। हमारे धर्म में वेद और शास्त्रों को प्रधान स्थान दिया गया है। हम आप्त पुरुष उन्हीं को मान सकेंगे, जो कि स्वधर्म के विषय में यथार्थ ज्ञानवान् हों। ऐसे संयमी पुरुषों के पीछे चलने में हमारी हानि नहीं हो सकती।

सत्रहवें अध्याय में कोई विशेष बात नहीं।

अष्टादशाध्याय

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थ—जिसमें अहङ्कार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं है, वह इन लोकों को मारकर भी नहीं मारता और न स्वयं मारा जाता है। इसपर महात्माजी की मनोरञ्जक टिप्पणी इस प्रकार है—

"ऊपर-ऊपर से पढ़ने से यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालनेवाला है। गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलम्बन करनेवाले हैं। उसका सच्चा नमूना जगत् में मिल नहीं सकता और उपयोग के लिए भी जिस तरह रेखागणित में काल्पनिक आदर्श आकृतियों की आवश्यकता है, उसी तरह धर्म-व्यवहार के लिए है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसको अहंता खाक हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत् को मार डाले। परन्तु जिसमें अहंता नहीं है, जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकाल-दर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान् है। वह करते हुए भी अकर्ता है। मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्य के सामने तो एक न मारने का और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही

मार्ग है।" महात्माजी कहते हैं, आदर्श नहीं मिलता। हम कहते हैं कि भगवान् कृष्ण इस विषय में आदर्श रहे—समस्त महाभारत करा कर भी अलिप्त रहे। नहीं मालूम महात्माजी यहाँ भगवान् शब्द से कृष्ण को लेते हैं अथवा ईश्वर को। यदि कृष्ण को लेते हैं, तो फिर एक ही सही, आदर्श पुरुष मिलता तो है। पर महात्माजी कृष्ण को पूर्ण ज्ञानी मानते हैं। यदि पूर्ण ज्ञानी पुरुष इस कोटि का हो जाय, तो आदर्श काल्पनिक न हुआ। महात्माजी के समय से पहले, सृष्टि के आदि से लेकर अब तक इस प्रकार अहिंसात्मक प्रवृत्ति से स्वराज्य अथवा साम्राज्य लेने की बात, संसार से शस्त्रास्त्र मिटाने की बात, संसार से सर्वथा युद्ध-प्रथा को नष्ट करने व केवल आत्मिक बल के आश्रय से राष्ट्र को वशीभूत करके स्वराज्य लेने की बात भी तो किसी ने नहीं की। आपही में, इस ज़माने में इस प्रकार का आदर्श मिल रहा है, तो क्या इस श्लोक में वर्णित आदर्श मिलना कठिन अथवा असम्भव है। बात यह है कि महात्माजी का आदर्श एक प्रकार से संसार से निराला है। इसलिए उनकी भावना इसी प्रकार की हो रही है। भला कोई बतलावे कि संसारी सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणों की मोह-माया में फँसे हुए जनों से महात्माजी किस प्रकार मन, वचन, कर्म से अहिंसात्मक प्रवृत्ति चाहते हैं और समस्त राष्ट्र को इसी आदर्श पर ले जाना चाहते हैं।

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति निग्रहः किं करिष्यति।'

इस सर्वसाधारण जनानुभूत भावना को कोई कैसे मिटा सकता है, तथापि महात्माजी उस आदर्श पर जनता को चलाना चाहते ही हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो बात प्रत्यक्ष असम्भव प्रतीत हो, उसके लिए भी सबको यत्नवान् रहना ही चाहिए। जो भी कोई उस मार्ग का अधिकारी होगा उस आदर्श तक पहुँच ही जायगा। एक जन्म में नहीं, तो दूसरे में, दूसरे में नहीं

तो तीसरे में कभी न कभी पार उतरेगा ही। गीता ने स्वयं कहा है—

'अनेक जन्मसंसिद्धिः ततो याति परां गतिम् ॥'

यह 'परांगति' ही आदर्श है। संसार में उच्च आदर्शों के होते हुए भी न तो सभी वहाँ पहुँच पाते हैं और न ही सभी उसको समझ पाते हैं। इसीलिए संसार में कभी सर्वथा युद्ध-प्रवृत्ति—हिंसात्मक प्रवृत्ति—बन्द हो जायगी—ऐसी आशा करना दुराशा मात्र है। हाँ, प्रवृत्ति में न्यूनाधिक्य हो सकता है। जब न्यून प्रवृत्ति हुई तब सात्त्विक, जब मध्यम प्रवृत्ति हुई तब राजस, जब निकृष्ट प्रवृत्ति हुई तब तामस भाव का प्राबल्य समझिए। सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणों ने ही संसार को नचा रखा है। इन तीनों गुणों की माया समझना कठिन कार्य है। बस, गीता में यदि कुछ समझने, मनन करने की बात है, तो वह इन्हीं तीनों गुणों की। इसी पर वर्ण-धर्म निर्भर है। इसीलिए 'नियत' अथवा 'सहज' कर्मों को केवल कर्त्तव्य-प्राप्त धर्म समझकर करते रहने की आवश्यकता है। फल की वासना छोड़कर प्रवृत्त रहने की आवश्यकता है। यही गीता का मर्म है।

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।"

इस अन्तिम श्लोक पर महात्माजी लिखते हैं कि—"योगेश्वर कृष्ण से अभिप्राय है अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान और अर्जुन से मतलब है तदनुसारिणी क्रिया। इन दोनों का सङ्गम जहाँ हो, वहाँ संजय ने जो कहा उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है?" पाठकवर्ग इतने लेखों से गान्धी-गीता का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सके होंगे। हमने भी

'काव्य शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्॥'

इस सिद्धान्त के अनुसार यत्र-तत्र अपने विचार प्रकट किये हैं। पाठकगण भी विचार करें।

[६]

यदि हमने अपने लेखाङ्कों का शीर्षक 'गान्धी-गीता' रखा है, तो वह केवल लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए है। वस्तुतः वह महात्माजी का अनुवाद 'अनासक्तियोग' नाम से छपा है। अनासक्तियोग कहो, कर्मयोग कहो, हैं दोनों एक ही बात। अब उपसंहार में हम कुछ बातें लिखना चाहते हैं। महात्माजी का अनुवाद पढ़ जाने पर इतनी बातें स्पष्ट हो जाती हैं—(१) कौरव-पाण्डवों का महाभारत कभी नहीं हुआ था। (२) कौरव आसुरी वृत्ति के प्रतिनिधि और पाण्डव दैवी सम्पद् के प्रतिनिधि हैं। (३) 'कृष्ण' भी आलङ्कारिक हैं और पूर्ण शुद्ध ज्ञान हैं। (४) अर्जुन क्रिया का नाम है। (५) "शास्त्र-विधि" शास्त्र-प्रतिपादित मार्ग नहीं, अपितु अनुभवी ज्ञान वाले पुरुषों का संयम-मार्ग है। (६) यज्ञ परोपकार के कर्मों का नाम है। (७) गीता-वर्णित युद्ध भौतिक युद्ध नहीं, प्रत्युत आन्तरिक द्वन्द्वयुद्ध है। (८) साकार में भक्ति रखकर निराकार तक पहुँचना सरल है। एकदम निराकार को पाना कठिन है। (९) गीता यज्ञ में पशु-हिंसा नहीं मानता। (१०) अनासक्तिवाद पूर्ण अहिंसात्मक रहे बिना बन नहीं सकता। (११) 'नियत' शब्द नियमित अथवा संयमित का नाम है, न कि निश्चित स्वाभाविक कर्म का। (१२) 'निरग्निः' में 'अग्नि' शब्द साधनों का वाचक है न कि कर्मकाण्ड का, इत्यादि इत्यादि।

यह निश्चित बात है कि महात्मा गान्धी गीता को आलङ्कारिक मानते हुए भी गीता को उच्च पद से हटाते नहीं हैं, प्रत्युत जहाँ वे स्वयं सन्देह में पड़ जाते हैं वहाँ स्पष्ट कह देते हैं कि "मैं समझ नहीं सका" और अपने अभीष्ट सिद्धान्तानुसार उसकी

व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। इस २१० पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तक में महात्मा गान्धी के अन्तर्भावों का अच्छा परिचय मिल जाता है और 'आदर्श सत्य' और 'आदर्श अहिंसा' तक पहुँचने का वह किस प्रकार प्रयत्न करते हैं—यह भी देखने को मिलता है।

यह बात स्पष्ट है कि इस अनुवाद में विज्ञ जनों के विचार के लिए बहुत-सा मसाला है। गीता एक ऐसी विचित्र धर्म-पुस्तक है कि जब से बनी तब से पृथ्वीतल पर न जाने इसके कितने अनुवाद अथवा भाषान्तर हुए और न जाने कितनी टीका-टिप्पणियाँ इसपर लिखी गईं। इन सबमें संस्कृत भाष्यों को छोड़कर 'ज्ञानेश्वरी' और लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य' जितना सुन्दर साङ्गोपाङ्ग है, उतनी शायद ही और कोई गीता-विषयक पुस्तक हो। 'ज्ञानेश्वरी' सर्वथा प्राचीन ढङ्ग की है और लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य' तुलनात्मक पद्धति का है। महात्मा गान्धी को भी यदि समय मिले और वे इस विषय पर विस्तृत रूप में लिखें, तो वह भी एक अनुभवात्मक ग्रन्थ हो सकता है। अब हम यह लिखकर समाप्त करेंगे कि इस नूतन गीतानुवाद का क्या प्रभाव रहेगा। महात्मा गान्धी संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष माने जाते हैं, इस दृष्टि से कोई उनकी टीका-टिप्पणी पर नहीं बोलेगा। क्योंकि बोले तब, जब कि उनके अनुवाद से गीता का दर्जा कम होता हो। महात्मा गान्धी गीता की बात को आलङ्कारिक भले ही मानें, भारतीय जनता कृष्णार्जुन और कौरव-पाण्डवों को आलङ्कारिक नहीं समझेगी। उसको तो बोलता-चालता कृष्ण और लड़ते-झगड़ते कौरव-पाण्डव चाहिएँ ही। जनता इस बात को भी शायद ही मान सके कि गीता सशस्त्र प्रतीकार को नहीं मानती। यद्यपि आलङ्कारिक मानने में गीता का प्रभाव नहीं घटता, तथापि उसके पात्र यदि ऐतिहासिक प्रसिद्ध पात्र न माने जायँ तो

परम्परा, इतिहास, पुराण आदि सब चौपट हो जाते हैं। भारतीय जनता को यह अभीष्ट नहीं और भारतीय विद्वान् भी शायद ही इस प्रकार की बात को मान सकें। यदि महाभारत इतिहास नहीं और गीता के पीछे वह चलती-फिरती दिव्य मूर्त्तियाँ नहीं, तो महाभारत व गीता का वह अनुपम सौन्दर्य व वह आनन्दमय रस ही जाता रहता है। हम मानते हैं कि चौबीस सहस्र श्लोकों का वह महाभारत अब बढ़ते-बढ़ते सवा लक्ष श्लोकों का ग्रन्थ हो गया है, तथापि सार भूत महाभारत इतिहास है ही। उसमें वर्णित अनेक असम्बद्ध गाथाओं और कथा-कहानियों को छोड़ दिया जाय, तो भी उसके ऐतिहासिकत्व और महाभारतत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता—ऐसा विज्ञजन-समुदाय का मत है। वैसे कहने को तो पं० सदानन्द व्यास नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने महाभारत को दो ही श्लोकों में आलङ्कारिक रूप में समाप्त किया है। पर वह कृष्ण, कौरव, पाण्डव आदि सभी को ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं अपितु देवताओं का अंश मानता है। वे दो श्लोक यह हैं—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः, कर्णः स्कन्धः शकुनिश्चास्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्प फले समृद्धे, मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः, स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे, मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

इन दोनों श्लोकों में दुर्योधन को मन्युमय महावृक्ष और युधिष्ठिर को धर्ममय महावृक्ष से उपमा दी गई है। उधर कर्ण स्कन्ध है तो इधर अर्जुन महावृक्ष का स्कन्ध है। उधर शकुनि शाखा है, तो इधर भीमसेन शाखा है। उधर दुःशासनादि समृद्ध पुष्प-फल हैं, तो इधर माद्रीसुत अर्थात् नकुल-सहदेव हैं। उधर जड़ धृतराष्ट्र है, तो इधर जड़ हैं कृष्ण भगवान्, ब्रह्म अर्थात् वेद और वेद के आश्रय से रहनेवाले ब्राह्मण।

वर्ण-व्यवस्था

[१]

आर्यसमाज में वर्ण-व्यवस्था के तत्त्व को लोग नहीं समझे अथवा न जानें क्या बात है ऐसे ढङ्ग से उपदेश हो रहा है, उपदेशक आदि ऐसे ढङ्ग से प्रचार कर रहे हैं, अख़बारों में ऐसे ढङ्ग से लिखा जा रहा है कि उनको सुनकर यह प्रतीत होने लगता है कि आर्यसमाजी लोग ऊपर-ऊपर से तो वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं, किन्तु भीतर-भीतर से उसकी जड़ को खोखली कर रहे हैं; सबको एकाकार करने की चिन्ता में हैं; किसी व्यवस्था को स्थिर नहीं रखना चाहते; साक्षात् स्वामी दयानन्द की बात को ही नहीं मानते; प्रमाणों को तोड़-मरोड़ डालते हैं—इत्यादि ख़याल होने लगता है। अस्तु, इस समय लेखक इस बात पर विचार करने के लिए तैयार नहीं है कि कौन क्या कहता है, किन्तु उसने स्वामी दयानन्द के अभिप्राय को जिस प्रकार समझा है उसीके स्पष्टीकरणार्थ यह लेख लिखा है। आशा है, पाठक ज़रा ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे।

स्वामी दयानन्द ने वर्ण-व्यवस्था को माना है और स्पष्ट रूप में माना है और वेदों के आधार पर माना है—इस बात में सब समान रूप से सहमत हैं। इस विषय में ननु-नच करने का किसी को अवसर नहीं। अब रही यह बात कि किस रूप में किस प्रकार माना है? इसका उत्तर स्वामीजी के ग्रन्थ ही साफ़ रूप में दे रहे हैं अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था माननी है। स्थान-स्थान पर "गुण-कर्म-

स्वभाव", "गुण-कर्म-स्वभाव" कहा गया है। पर आज-कलकी प्रवृत्ति-उपदेश-व्याख्यान-लेख देखे जायँ तो कहना पड़ेगा कि "गुण-कर्म-स्वभाव" इस त्रिकुटी में से लोगों ने "स्वभाव" को सर्वथा छोड़ दिया है, केवल "गुण-कर्म" ही कहते-सुनते, लिखते-चिल्लाते रहते हैं। यह नहीं समझते कि 'स्वभाव' को छोड़ देने से और केवल ऊपर की 'गुण-कर्म' की बात मान लेने से वर्ण-व्यवस्था एक निकम्मी, दिन भर में बीस वार बदल डालने की निकृष्ट पद्धति बन जायगी—अभी ब्राह्मण, अभी क्षत्रिय, अभी वैश्य, अभी शूद्र, अभी चाण्डाल बनने की बात रह जायगी। कोई स्थिरता नहीं रहेगी। इसके विपरीत 'वर्ण-व्यवस्था' अधिकतर स्थिर रहने की वस्तु है। जब हम कहते हैं कि ब्राह्मण शूद्र हो सकता है अथवा शूद्र ब्राह्मण,अथवा कोई भी जाति अपने स्वाभाविक कर्मों को छोड़ने से, ऊपर के कर्म करने से ऊपर उठ सकती है और नीचे के कर्म करने से नीचे खिसक सकती है तो उसका अर्थ यह है कि:—

स्वभाव नाम है संस्कार का। संस्कार का सम्बन्ध पूर्व जन्म से अवश्य रहेगा। माता-पिता के संस्कारों का भी प्रभाव रहेगा ही। श्री स्वामीजी ने इस बात को स्पष्ट माना है। शास्त्रकार स्पष्ट रूप में संस्कार की बात को मानते हैं। चरक-सुश्रुत भी संस्कारों की बात मानते हैं। वर्त्तमान विज्ञान भी संस्कारों की महत्ता को स्वीकार कर चुका है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर लेखक इस सिद्धान्त पर पहुँचा है कि पूर्ण रूप से अज्ञेय कर्म-मीमांसा व संस्कार-मीमांसा के अनुसार कभी-कभी ब्राह्मणों के यहाँ ब्राह्मण संस्कार के, क्षत्रियों के यहाँ ब्राह्मण संस्कार के, वैश्यों के यहाँ ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संस्कार के, शूद्रों के यहाँ अन्य जाति के संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि उस-उस जाति में

प्रायः उस-उस संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी विपरीत संस्कार के भी उत्पन्न होते हैं।

(१)		(२)		(३)	
जन्म	संस्कार	जन्म	संस्कार	जन्म	संस्कार
ब्राह्मण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	क्षत्रिय	वैश्य	वैश्य
ब्राह्मण	क्षत्रिय	क्षत्रिय	ब्राह्मण	वैश्य	ब्राह्मण
ब्राह्मण	वैश्य	क्षत्रिय	वैश्य	वैश्य	क्षत्रिय
ब्राह्मण	शूद्र	क्षत्रिय	शूद्र	वैश्य	शूद्र
ब्राह्मण	चाण्डाल	क्षत्रिय	चाण्डाल	वैश्य	चाण्डाल

(४)		(५)	
जन्म	संस्कार	जन्म	संस्कार
शूद्र	शूद्र	चाण्डाल	चाण्डाल
शूद्र	ब्राह्मण	चाण्डाल	ब्राह्मण
शूद्र	क्षत्रिय	चाण्डाल	क्षत्रिय
शूद्र	वैश्य	चाण्डाल	वैश्य
शूद्र	चाण्डाल	चाण्डाल	शूद्र

यह अनुभव-सिद्ध बात है इसलिए दूसरी जाति में दूसरी जाति के संस्कारों के जो बालक उत्पन्न होते हैं उनके लिए ही ऊपर जाने अथवा नीचे खिसकने के मार्ग खुले रखे गये हैं। जो जन्म का ब्राह्मण है और ब्राह्मण के संस्कार लेकर जन्मा है, उसको केवल ब्राह्मणों के कर्म करने की आवश्यकता है और वह सोलह आने बना-बनाया ब्राह्मण है। यही बात क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों की है। ब्राह्मण कुल को छोड़कर अन्य जाति में जो ब्राह्मण संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं उनके लिए यदि वे उठ सकें तो उनको उठने का मौक़ा अवश्य मिलना चाहिए। यही बात जघन्य वर्ण में उत्पन्न क्षत्रिय-वैश्य के संस्कार-युक्त बालकों के लिए है।

प्राचीन समय में इस प्रकार सदैव मुक्त द्वार रहता था। क्योंकि संस्कारों की महत्ता को वे अनुभव करते रहते थे, इसलिए जघन्य वर्ण में उत्पन्न हुए कतिपय जन इतने ऊँचे उठे कि ऋषि-मुनि-महर्षि बन गये।

जिस समय आर्य राजाओं का साम्राज्य अथवा अधिराज्य था, आर्य संस्कृति उच्च शिखर पर थी, सब कार्य व्यवस्थित रूप में चलता था और वर्ण व्यवस्था ठीक-ठीक चलती थी, उस समय प्रायः ब्राह्मणों के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रियों के यहाँ क्षत्रिय, वैश्यों के यहाँ वैश्य संस्कार के बालक ही होते थे। यदि कोई अन्य जाति में अन्य संस्कार के बालक होते थे, तो गुरुजन उस की विद्या आदि की प्रवृत्ति देखकर उसको चढ़ा अथवा उतार देते थे; पर यह सारी बात बालक के संस्कारों पर निर्भर रहती थी। जब आर्य साम्राज्य नष्ट हो गया, पर-चक्र सिर पर घूमने लगा, कोई साम्राज्य अथवा अधिराज्य सिर पर रक्षक नहीं रहा, तब कौर्मी वृत्ति (कछुए की अङ्गसङ्कोच-वृत्ति) का आश्रय लेकर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादिकों ने अपनी रक्षा की और वही वंश-परम्परा का बन्धन अब तक किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में चला आ रहा है। अब इस विदेशी पद्धति के राज्य में, विदेशी शिक्षा के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था के दृढ़ दुर्ग की दीवारें खुरची जाने लगी हैं, पर इसको अभी कोई ऐसा धक्का नहीं लगा है कि कोई चिन्ता का विषय हो। अभी यह सहस्रों-लक्षों वर्ष चलेगी चाहे जो हो। यदि आर्यसमाज को जीवित रहना है तो वह वर्णव्यवस्था को छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। उसमें अभी ऐसी शक्ति नहीं आई है कि वह नई वर्णव्यवस्था बनाकर नया रुख पलटे। लोग हाथ-पैर तो बहुत मार रहे हैं पर अभी कुछ बना-बिगाड़ा नहीं। वह इसलिए कि व्यवस्थापक ऐसे तपस्वी, बलवान्, विद्यावान् नहीं कि

जिनकी व्यवस्थाएँ मानी जा सकें। कोई ऐसी बलवती विद्या-सभा, राजसभा धर्मसभा नहीं है जिसकी सत्ताको कोई नतु-नच किये बिना ही स्वीकार कर सके। अब आर्यसमाज में मुट्ठी भर ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो कि चाहते हैं कि सब एक हो जायँ, कोई भेद-भाव न रहे। उनकी समझ में यह तभी हो सकेगा जब विवाह-बन्धन जाति-व्यवस्था की परवाह न करके तोड़ डाले जायँगे। प्राचीन समय के उदार धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ वर्णानुसार विवाह-बन्धन रखे थे वहाँ उन्होंने संस्कारों की महत्ता को समझकर अनुलोम-प्रतिलोम-पद्धति भी प्रचलित रखी थी। उस समय धर्मसभा, राजसभा, विद्यासभा तीनों का संगठन था। अब तो कोई व्यवस्था नहीं। मेरी समझ में आया किसी लड़के को ब्राह्मण कहा, किसीकी लड़की को कुछ कहा और दिया सम्बन्ध जोड़। इसमें अधिकतर अनाचार अधिक हो जाता है। यदि इस प्रकार के विवाह करने-कराने हों तो उस-उस जाति के उपविभागों में होने चाहिएँ जिससे सबसे पूर्व इन विभागों की तो समाप्ति हो। अस्तु।

मैं वर्ण-व्यवस्था की बात लिख रहा था। इसमें मुख्य है स्वभाव-संस्कार की बात। केवल गुण-कर्म चिल्लाने से कुछ नहीं होता। केवल कर्म ही हुआ और स्वभाव ने साथ नहीं दिया तो वह वर्ण-व्यवस्था कौड़ी काम की न होगी। केवल स्वभाव हुआ और साथ गुण-कर्म न हुए तो वह भी काष्ठमय हस्ती या चर्ममय मृग ही समझिए। चाहे उच्च जाति में उच्च संस्कार के बालक हों, चाहे उच्च जाति में नीच संस्कार के बालक हों, चाहे नीच जाति में उच्च संस्कार के बालक हों, वे यदि ऊपर जायँगे तो संस्कारों के बल पर यदि नीचे घिसटेंगे तो संस्कारों के कारण, इसलिए मार्ग तो खुला रखना ही पड़ेगा। इस लिए वर्ण-व्यवस्था में यदि संस्कारों का महत्व है तो उसका

सम्बन्ध जन्म से जोड़ना ही पड़ेगा अर्थात् यह कहना पड़ेगा कि वर्ण-व्यवस्था में जन्म ही कारण नहीं, अपितु जन्म भी कारण है क्योंकि स्वभाव (संस्कार) का ऐसा ही सम्बन्ध है। पूर्वजन्म के संस्कारों का विपाक ही स्वभाव है। इस जन्म में जैसे कर्म करेंगे उसका विपाक भविष्य जन्मों पर पड़ेगा।

इस समय इन संस्कारों को सँभालकर उससे व्यवस्थित वर्ण-व्यवस्था को सँभाल रखने के लिए न तो किसी मर्यादा-पालक अथवा मर्यादा-संस्थापक साम्राज्य का हाथ सिर पर है, न और कुछ। अनन्त काल की वंश-परम्परा से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र चले आ रहे हैं और कहे जा रहे हैं। यदि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के नियमों से जाँच-पड़ताल की जाय तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जाति में उस-उस जाति के संस्कार तो विद्यमान हैं पर उस-उस जाति में थोड़े ही हैं जिनको सच्चे अर्थों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कहा जाय। वैश्य व शूद्र तो प्रायः हैं ही; धन्य है उन ब्राह्मणों को जिनके कुल में परम्परा के कारण अब भी वेद-शास्त्रों का अध्ययन हो रहा है और जिन्होंने अब तक वंश-परम्परा से वेद-शास्त्र सँभाले वा अब तक सुरक्षित रखे। इन ब्राह्मणों ने किसी प्रकार ब्राह्मणत्त्व को सँभाला भी, पर क्षत्रिय तो ऐसे नपुंसक हो गये कि ऐसी दुर्दशा कभी नहीं देखी गई। यह अन्यों की तो क्या रक्षा करते, स्वयं ही दासानुदास बन गये हैं। वैश्यों ने प्रायः अपना काम सँभाल रखा है। दासों की अर्थात् शूद्रों की कोई कमी नहीं।

आश्चर्य यह है कि इस दुरवस्था में भी लोगों का यह यत्न बराबर चल रहा है कि अपना सम्बन्ध ठेठ प्राचीनतम ऋषि-मुनि-महर्षियों के साथ जोड़ें और केवल रक्त-सम्बन्ध जोड़कर किसी प्रकार श्वास-प्रश्वास लेते रहें। अब यह भी चल पड़ा है कि अपने नाम के साथ चाहे जो कुछ लिखें।

'दास' शब्द तो कोई लिखने को तैयार नहीं। वैश्य बनकर 'गुप्त' शब्द लिखने को भी तैयार नहीं। हाँ 'वर्मा' बनने को तैयार हैं, 'शर्मा' लिखने को तैयार हैं। इस प्रकार बहुत अव्यवस्था है। पर अभी इस अव्यवस्था को रोकने की किसी में न शक्ति है, न कोई ऐसी विद्यासभाएँ हैं न राजसभाएँ हैं, न धर्मसभाएँ हैं। आश्चर्य यह है कि लोग वर्त्तमान विस्खलित हिन्दू-समाज की दशा को देखकर उस प्राचीन समय की सर्वाङ्ग-परिपूर्ण वर्ण-व्यवस्था-रूपी संस्था की बुराई करने लगते हैं। सब दोष उसीके सिर मढ़ते रहते हैं।

दूसरी आश्चर्य की बात यह है कि वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू-समाज की दुर्गति का प्रमुख कारण मानने वा बतलानेवाली सरकार भी हृदय से चाहती है कि हिन्दुओं में जात-पाँत का बन्धन बना रहे। इस समय भारतवर्ष में जिस प्रकार की राज्य-प्रणाली का चञ्चु-प्रवेश हो रहा है और जिस प्रकार की मत-दान-प्रणाली पर राजसभाओं का सङ्गठन निर्द्धारित किया जा रहा है वह प्रणाली तो जात-पाँत को और भी पक्का करती जा रही है।

घरों में चौके-चूल्हे के बन्धन टूट रहे हैं तो मस्तिष्कमें अपनी-अपनी जाति के बन्धन और दृढ़ हो रहे हैं। उस-उस जाति वाला यही चाहेगा कि उसीकी जाति का व्यक्ति धारासभा अथवा राजसभा में प्रतिनिधि रूप में जाय और उसीको वोट दे। प्रतिदिन के म्युनिसिपलिटी, डिस्ट्रिक बोर्ड, कौन्सिल व असेम्बली के चुनावों के दृश्य और उनमें की जानेवाली खींचातानी को कौन भुला सकता है? इन समस्त पाश्चात्य ढङ्गों व पाश्चात्य स्वतन्त्र देशों में प्रतिदिन उग्र रूप धारण करने-वाली समस्याओं को देखकर कहना पड़ेगा कि सच्ची वर्ण-व्यवस्था ही समस्त संसार के जीवन-कलहों को शान्त करके

उसको स्वर्ग-धाम बनाने में समर्थ होगी। आर्य-समाज उसी वर्ण-व्यवस्था का उद्धार यदि कर सकेगा तो वह अपनी राज्य-पद्धति से हो कर सकेगा। पर अभी आर्य-साम्राज्य के सुख-स्वप्न देखना मूर्खता है। हाँ, इस समय में उग्र तपस्या द्वारा शक्ति-सम्पादन करते रहना उसका परम कर्त्तव्य है। जब यह अत्यधिक तेजस्वी हो जायगा, इतना अधिक तेजस्वी हो जायगा कि संसार की कोई शक्ति उसको दबा न सके, तब वह जिस कार्य को चाहेगा, पूर्ण होगा। वह जो व्यवस्था चलायेगा संसार सादर सिर झुका-कर "ॐ" कहकर स्वीकार करेगा। जिस वर्ण-व्यवस्था में जाति की जाति वंशपरम्परा से, आनुवंशिक संस्कारों के कारण एक कार्य को सँभालकर सैकड़ों, सहस्रों वर्षों को चलाती जाती हो, सब कार्य विद्या-बुद्धि-बल-धन-श्रम का कार्य बाँटकर किया जाता हो, जिसमें चारों आश्रम हों, वही वर्ण-व्यवस्था संसार को सुख दे सकेगी। पर ऐसी वर्ण-व्यवस्था का पुनर्जन्म कब होगा—ईश्वर ही जाने। इस समय भारतवासी इतनी बात को तो अनुभव कर रहे हैं कि वे हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर से नीचे फिसलकर एक बड़े गहरे खड्ड में पड़े हुए हैं।

[२]

'वैदिक विज्ञान' में प्रकाशित हमारे 'वर्ण-व्यवस्था' शीर्षक लेख को पढ़कर आर्य्य-विद्वान् बहुत प्रसन्न हुए और कइयों ने हमसे अनुरोध किया कि हम 'गुण-कर्म-स्वभाव' पर विशेष रूप से लिखें। इसीलिए इस लेख में हम विस्तृत रूप से 'गुण-कर्म-स्वभाव' पर ही लिखेंगे। यह समस्त स्मृति-ग्रन्थों का सार है कि वर्ण की योग्यता जन्मान्तर से साथ आती है, तप करने से मनुष्य ऊँची ओर चढ़ सकता है और कुसङ्गादि से नीचे खिसक जाता है।

गुण

	सत्	रज	तम
वर्ण	प्रधान	उपसर्जन (गौण)	निकृष्ट
१–ब्राह्मण	सत्	रज	तम
२–क्षत्रिय	रज	सत्	तम
३–वैश्य	रज	तम	सत्
४–शूद्र	तम	रज	सत्

कर्म

१–ब्राह्मण–शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य।

२–क्षत्रिय–शौर्य, तेज, धृति, युद्ध में स्थैर्य्य, दान, प्रजा-पालन।

३–वैश्य–कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य।

४–शूद्र–परिचर्य्या।

स्वभाव

पूर्व की वासनाओं अथवा संस्कारों का नाम 'स्वभाव' है। 'स्वभाव' प्रकृति को भी कहते हैं और प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसलिए पूर्व जन्म के संस्कारों के बल पर ही कोई सत्-प्रधान, कोई रजप्रधान, कोई तमप्रधान होते हैं। जो जिस प्रकृति अथवा स्वभाव का होता है उसकी वह प्रकृति और स्वभाव कभी बदलता नहीं। हाँ, अन्य गुणों के उत्कर्ष से कभी दब जाता है, कभी तिरोहित अवस्था में रहता है, किन्तु अवसर मिलते ही फिर उभर आता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण महाभारत के द्रोणाचार्य हैं। ये सत्वगुण-प्रधान ब्राह्मण थे, किन्तु होकर क्षत्रियों की ओर से युद्ध करते रहे। थोड़े समय के लिए उनका रजोगुण-प्रयुक्त क्षत्रियजनोचित शौर्य का नशा हुआ था।

उसके हटते ही, थोड़ी सी बात पर—अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनने के कारण—उनकी स्वाभाविक मृदुता और कृपालुता फिर उभर उठी और उन्होंने शस्त्र-संन्यास कर दिया।

दूसरी ओर रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय अर्जुन में कुछ काल के लिए विषाद-योग का प्रवेश हुआ कि भगवान् के उपदेश से उस विषाद-योग के हटते ही उसने महाभारत-सङ्ग्राम में वह अद्भुत संहार किया जिसको देखकर संसार दङ्ग रह गया। इसका मथितार्थ यह है कि यदि लोग अपने प्रधान गुण के अनुरूप ही कार्य करते रहें तो वे उसमें पूर्ण या अधिक सफल हो सकते हैं। केवल तात्कालिक गुणों से स्वाभाविक गुण सहस्र गुणा अधिक बल रखते हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने अध्याय १८ में निम्न-लिखित अनुभूत बातें स्पष्ट रूप से कही हैं:—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

अपने सहज, स्वाभाविक कर्म को तत्परता से करते रहने से ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म को स्वीकार न करने से, अथवा विपरीत गुण-कर्मों से वह सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। चाहे अपने सहज गुण-कर्मों में दोष हो, न्यूनता हो, तो भी उसको न छोड़ बैठना

कहिए। क्योंकि ऐसा करने से जब स्वभाव साथ नहीं देता तब फिर वहीं आना पड़ेगा। इसीलिए गीता में क्या अच्छा कहा है—

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति निग्रहः किं करिष्यति।'

हे अर्जुन तेरी प्रकृति तुझे विवश करेगी कि तू धनुष पकड़े। यह थोड़ी देर का ब्राह्मणोचित विवेक अथवा निग्रह तुझे बचा नहीं सकता। तू जिस योग्य है उधर ही जायगा। इसीलिए गीता में कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृति के अनुसार कर्म करता रहता है, उसमें वह क्या करे, उसका वश ही नहीं।

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।'

इसी प्रकृति (स्वभाव) के कारण ही योगिराज कृष्ण, भीष्मपितामह, क्षत्रिय के क्षत्रिय ही रहे। नहीं तो उनके तत्त्व-ज्ञान किसी भी उच्च से उच्च कोटि के ऋषि-महर्षि के मुख से निकलने योग्य थे। इसी प्रकृति की महत्ता के कारण महारथी होने पर भी द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा शस्त्रास्त्र-निपुण रहने पर भी ब्राह्मण ही रहे। ऐसे पचासों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। जिधर देखो, "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति"—इसी तत्त्व को हम रात-दिन अनुभव करते चले आ रहे हैं। इस स्पष्ट अनुभव के होते हुए (जिसके लिए शास्त्रीय व वैज्ञानिक आधार हैं) कोई भी विज्ञ पुरुष आँखें मूँदकर नहीं चल सकता।

ब्राह्मण-क्षत्रियादि बनने के लिए कोई विशेष तैयारी करनी पड़ती हो, सो नहीं। यह योग्यता अधिकांश में जन्मान्तर से ही आती है और इस जन्म में उग्र तप से प्राप्त हो सकती है। जाबाल बालक ही था तो भी गुरू ने उसे ब्राह्मण मान लिया और दीक्षा दे दी। दूसरी ओर यम ने कुमार नचिकेता को उसकी दिव्याकृति

आदि देखकर ही ब्राह्मण मान लिया और उसका ब्राह्मणोचित सत्कार किया।

तप से उत्कर्ष और अपकर्ष

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥

(मनु० अध्याय १०-४२)

तप और वीर्य के प्रभाव से वे ऊपर के वर्ण में बढ़ते अथवा नीचे के वर्ण में उतरते हैं। परन्तु केवल इसी लोक में, क्योंकि अन्य लोकों में इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था नहीं है। गीता भी कहती है कि यह 'वर्ण-व्यवस्था' इसी लोक की वस्तु है।

यद्दस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

(मनु० अ० ११ श्लोक २३८)

तप से कठिन से कठिन, अलभ्य से अलभ्य, असाध्य से असाध्य सिद्ध हो जाता है। तप का उल्लङ्घन करने की किसी में शक्ति नहीं है।

मनुस्मृति के टीकाकार श्री कुल्लूक भट्ट ने दोनों श्लोकों पर टीका-टिप्पणी करते हुए विश्वामित्र का उदाहरण दिया है।

किसी-किसी का मत है कि कई पीढ़ियों में जाकर वर्ण बदल सकता है। मनु० अध्याय १० श्लोक ६५ की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट ने इस पक्ष का वर्णन किया है कि वर्ण की योग्यता जन्मान्तर के स्वभाव से होती है और गुण-कर्म उसको पुष्ट करते हैं। सत्सङ्गादि से ऊपर और दुःसङ्गादि से नीचे जा सकता है।

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ

य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।"

(छान्दोग्योपनिषद्)

किस-किस आचरण वाले किस-किस उत्तम अथवा मध्यम अथवा नीच वर्ण में जाते हैं—इस बात का सुन्दर उल्लेख है। वह प्रकरण वहीं देखने योग्य है। न्यायदर्शन-भाष्यकार वात्स्यायन मुनि पूर्व वासनाओं पर बहुत बल देते हैं। मनु ने किस-किस कर्म से किस-किस योनि में पुरुष जाता है—इसका खूब ऊहापोह किया है, जिसको श्री स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' समुल्लास नवम में विस्तार-पूर्वक लिखा है। इसलिए जन्मान्तर की योग्यता को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

(अ) स्वामीजी ने मनु-रचित श्लोक 'संस्कारविधि' में दिये हैं कि उक्त उत्तम चार प्रकार के विवाहों की सन्तान निश्चित रूप से जन्म से उत्तम प्रकार की होगी।

(आ) 'संस्कारविधि' में 'विवाह-प्रकरण' में मनूक्त 'कुलीन' शब्द व व्याख्या को स्वामीजी ने माना है।

(इ) श्री० प० गुरुदत्तजी ने "ॐ" की व्याख्या करते हुए (मूल अँग्रेज़ी में) उपनिषद् का वचन देकर लिखा है कि इस प्रकार ॐ-उपासक कुल में कोई नास्तिक उत्पन्न नहीं होता।

(ई) 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है कि यदि जीव के कर्म ऐसे-ऐसे हों तो वह रांडी के गर्भ में जाता है जहाँ उसको दूध पिलाने के लिए नौकर मिलते हैं इत्यादि।

(उ) गुरुकुल-प्रवेश के समय गोत्र पूछा जाता था, इसी-लिए कि जन्मान्तर के स्वभाव की योग्यता ज्ञात हो सके।

(ऊ) स्वामीजी ने स्पष्ट माना है कि अमुक-अमुक कुलों में विवाह न करें। इसीलिए कि भविष्य में जन्मगत योग्यता नष्ट न हो जाय अथवा इसी लोक में सङ्करता न आ जाय।

(ग्र) 'संस्कारविधि' के 'गृहस्थाश्रम' प्रकरण में स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेकर ब्राह्मण के गुण-कर्म करनेवाला अन्यों से अतिविशेष है। 'अतिविशेष' शब्द वहाँ स्पष्ट दिया गया है। मेरे पास इतना अवकाश नहीं कि मैं स्वामीजी के सब लेख उद्धृत करूँ अथवा उनके उद्धरण अथवा अवतरण लिखूँ। स्व-स्मृति के आधार पर लिख रहा हूँ। यदि भूल से कोई बात अन्यथा लिखी गई हो तो उसके लिए हम ही उत्तरदाता हैं।

हमको यह नहीं देखना है कि इस समय जब कि आर्य-धर्म और आर्य-संस्कृति का पोषक-रक्षक स्वराज्य—अधिराज्य हमारे सिर पर नहीं है, तब भारतवासियों की क्या दशा है। हमें केवल यह देखना है कि जब हमारी ही ज़मीन थी और हमारा ही आसमान था, सिर पर आर्य-साम्राज्य था, तब की वर्ण-व्यवस्था कैसी थी। सर्वाङ्ग-परिपूर्ण स्वाभाविक थी कि नहीं? समाज को सुख-शान्ति-समृद्धि का आगार बनानेवाली थी कि नहीं?

इस वर्त्तमान दुरवस्था को देखकर उस सर्वाङ्ग सुन्दर वर्ण-व्यवस्था को हेय बतलानेवाले लोग या तो उसके तत्व को समझे नहीं या जान-बूझकर स्वार्थ-हित उसका विपर्यास करते हैं। भला इस समय की हीन दशा की उस समय की उन्नत दशा से तुलना ही क्या है? यह तो तुलनावालों की मूर्खता है।

हम पहले लेख में लिख चुके हैं कि वर्ण-व्यवस्था बहुत काल तक ठीक-ठीक चलती रही। वह तो वंश-परम्परा से रहने की वस्तु है। वह क्षण-क्षण में बदलने की वस्तु नहीं। यदि इस तरह बदलौवल रही तो संसार में कोई व्यवस्था चिरस्थायी न रह सकेगी। जाति की जाति, समुदाय का समुदाय, जब विशेष प्रकार के गुण-कर्म-स्वभावों को दृढ़तापूर्वक पकड़कर

पीढ़ी-दर-पीढ़ी निभाये जाते हैं तब व्यवस्था ठीक बनती है। शेष रही चढ़ने-उतरने की बात, यह द्वार तो खुला रखना ही पड़ेगा। किसी व्यक्ति, जाति या समुदाय को सदैव के लिए कोई ताम्रपत्र नहीं मिला है कि उन्हींको उस प्रकार का अधिकार है और औरों को नहीं। जब अपने गुण-कर्म-स्वभाव छूट जाते हैं तब कुलीन भी अकुलीन हो जाते हैं। जाति-समुदाय-राष्ट्र में भी हानि हो जाती है। महाभारत में कई स्थानों में इसका सुन्दर वर्णन आया है। हम अब अधिक न लिखकर यहीं उपसंहार करना चाहते हैं।

आज-कल आर्यसमाज की तर्क-बुद्धि गृह-विनाशिनी हो रही है। साक्षात् स्वामी दयानन्द की बात भी नहीं मानते। स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रमाणों को तोड़-मरोड़ डालते हैं—अर्थ का अनर्थ करते रहते हैं। आर्यसमाज में प्रच्छन्न चारवाक बहुत घुसे हैं। प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्थापक आचार्य बनने की चेष्टा में है और "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"—इस शास्त्र-दृष्टि का नाश होता जा रहा है। जब कि भारतवर्ष दासता की शृङ्खलाओं में जकड़ा जाकर दीन-हीन दशा में है, जब संसार शान्ति के लिए मुँह खोले बैठा है, तब हमारे समाज के विद्वद्-ब्रुव और अदूरदर्शी नाम-लोलुप लोग इस बात पर मरे जा रहे हैं कि कोई न कोई नई उथल-पुथल मचाई जाय। चलो इसमें भी कोई हानि नहीं, "वादे वादे जायते तत्वबोधः" पर यह वाद भी तब सफल हो जब जिज्ञासु बुद्धि से हो, हृदय की स्वच्छता से हो।

आर्यसमाज का गौरव और शक्ति जिस बात से बढ़ सकती है उस तपःसञ्चय की ओर किसी का ध्यान नहीं। अनुकरण महर्षि दयानन्द का करते हैं, उनकी टोन में बोलते हैं पर कोकिल की वह मधुर ध्वनि काक के नसीब में कहाँ? तपोबल से

स्वशास्त्रों को तेजस्वी करो, फिर संसार के सामने बोलने के लिए मुँह खोलो तो कुछ स्वाद आवे। आर्यसमाज जीवित रहेगा तो वह वेद-शास्त्र व तदाश्रय से रहनेवाली आश्रम-वर्ण-व्यवस्था से ही जीवित रह सकेगा, नहीं तो जो होगा दुनियाँ स्वयं देखेगी कि क्या होता है। नाम वेद-शास्त्रों का और काम सब उच्छृङ्खलता अथवा स्वेच्छाचारिता के—ये कोई चिरकाल जीवित रहने के लक्षण नहीं हैं। सिद्धान्त यह है—

विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मण लक्षणम्।
विद्यातपोभ्यां यो हीनः जाति ब्राह्मण एव सः॥

ऐसा भी पाठान्तर है—

तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण कारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः॥

(देखिए महाभाष्य २ अध्याय २ पाद "नञ" सूत्र)

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

दो शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि स्वभाव की योग्यता के बिना गुण-कर्म व्यर्थ और गुण-कर्मों के बिना केवल स्वभाव की योग्यता व्यर्थ है।

[३]

वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी इस तीसरे लेख में पूर्व लेखों पर की गई दो-चार आपत्तियों का निःशेष समाधान करने का यत्न किया गया है।

प्रथम लेख में 'अज्ञेय कर्म-मीमांसा' के आधार पर मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया था कि प्रायः ब्राह्मण के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय के यहाँ क्षत्रिय, वैश्य के यहाँ वैश्य और शूद्र के यहाँ शूद्र-संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं, तो भी कभी-

कभी अन्य वर्णों में अन्य संस्कारों के बालक भी देखे जाते हैं इसीलिए उनके पूर्व जन्म के संस्कार के अनुसार ऊपर चढ़ने अथवा नीचे जाने के लिए द्वार खुला रखना चाहिए।

द्वितीय लेख में 'स्वभाव' की विशद व्याख्या वेद-शास्त्र-उपनिषदों के आधार पर की गई थी। यह भी बतलाया गया था कि पुण्य-कर्मों से पुण्य-योनि और पाप-कर्मों से पाप-योनि में जाना पड़ता है। यह भी बतलाया गया था कि वर्ण की योग्यता जन्मान्तर के स्वभाव से होती है और गुण-कर्म उसको पुष्ट करते हैं, सत्सङ्गादि से ऊपर और दुःसङ्ग आदि से नीचे जा सकता है। इसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण दिये गये थे। किसी-किसी को प्रथम लेख में अधिक वैषम्य प्रतीत हुआ। उसमें विषमता की कोई भी बात नहीं थी। द्वितीय लेख में इतना अधिक स्पष्ट सरल विवेचन किया गया था कि श्री बाबू श्यामसुन्दरलालजी एडवोकेट को भी यह मानना पड़ा कि—"इस द्वितीय लेख में यदि एक प्रकार से देखा जाय तो मुझे पहले लेख की तुलना में कम वैषम्य मालूम होता है।" मेरे प्रथम व द्वितीय लेख के उत्तर में श्री बाबूजी ने ही अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे हैं। एक और महाशय ने (जिनका नाम मैं भूल गया) प्रथम लेख पर कुछ लिखा था। श्री बाबूजी 'अज्ञेय कर्म मीमांसा' के परिणामों को नहीं मानते। इसमें मेरा दोष नहीं है, ऋषि-मुनि-महर्षि, समस्त शास्त्र भी मुक्त कण्ठ से कह रहे हैं 'गहना कर्मणो गतिः।' 'विचित्रा कर्मणो गतिः।' श्रीबाबूजी को कोई ऐसी योगमाया वश हो गई हो कि जिससे वे सबके पूर्व जन्म के वृत्तान्त बतला सकते हों तो मैं कह नहीं सकता। योगिजन भी कठिनता से अपने सब कर्मों को जान पाते हैं, साधारण पुरुष की तो कथा ही क्या है। अब दूसरी आपत्ति श्री बाबूजी को 'स्वभाव' की व्याख्या पर है। मैंने

लिखा था कि 'स्वभाव' से 'योग्यता' होती है। श्रीबाबूजी के समस्त लेख का झुकाव मेरी दो बातों के उत्तर देने में हुआ है।

(१) ब्राह्मण-क्षत्रियादि बनने के लिए कोई विशेष तैयारी करनी पड़ती है, सो नहीं; वह योग्यता जन्मान्तर से आती है और इस जन्म में उग्र तप से प्राप्त हो सकती है।

(२) इसीलिए यह बात माननी पड़ेगी कि वर्ण की योग्यता जन्मान्तर के स्वभाव से आती है और गुण-कर्म उसको पुष्ट करते हैं।

नं० १ में मूल लेख में 'योग्यता' के साथ मैंने 'अधिकांश' शब्द भी लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री बाबूजी के ध्यान के अन्यत्र होने से वह अवतरण में छूट गया है। मैं तो यह कह नहीं सकता कि वह जान-बूझकर छोड़ दिया गया है। उस शब्द के 'अधिकांश' के छूट जाने से वाचक को मेरे लेख का अन्यथा भान हो सकता है।

वर्ण-व्यवस्था में सहायक गुण-कर्म-स्वभाव—इस त्रिकुटी में 'स्वभाव' का पुनः विवेचन करना अपरिहार्य हो गया है। श्री बाबूजी कभी कर्मों को गुण समझकर उलझ जाते हैं, कभी वही बात मान लेते हैं जिसको मैंने विशद रूप में लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री बाबूजी शमदमादि को गुण मानते हैं। यह बात शास्त्र-विरुद्ध है तथा स्वामीजी के अभिप्राय के भी सर्वथा विरुद्ध (देखो नवम समुल्लास)। गुण तो वही हैं सत्, रज, तम; कर्म हैं शमदमादि; स्वभाव हैं पूर्व जन्म के दृढ़ संस्कार, जो कि पूर्व जन्म के अथवा जन्मान्तरों के संस्कारों के परिणाम हैं। श्री बाबूजी ने स्वभाव के सम्बन्ध में यह श्लोक दिया है—

तपो स्वभावसाध्यश्च स्वभावोऽभ्यासतो भवेत्।
संसर्गसाध्योऽभ्यासः संसर्गः पुण्यतो भवेत्॥

यह श्लोक तो सर्वथा हमारी पुष्टि करता है। यह श्लोक तो जन्म के अभ्यास पर भी तो लग सकता है। इस बात को

समस्त शास्त्रकार तथा श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज भी स्पष्ट रूप में मानते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा अपनी शुभाशुभ वासना के अनुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कुल तथा माता-पिताओं के यहाँ जन्म लेता है। देखिए नवम समुल्लास—

शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥

इस मनु के श्लोक का अर्थ स्वामीजी इस प्रकार करते हैं कि "जो नर शरीर से चोरी, पर-स्त्री-गमन, श्रेष्ठों को मारना आदि दुष्कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म; वाणी से किये पाप-कर्मों से पक्षी मृगादि तथा मन से किये पाप-कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है।"

इसी की पुष्टि में स्वामीजी क्या लिखते हैं, देखिए:—"देखो एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की रानी के गर्भ में आता, और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है ''इत्यादि" (नवमसमुल्लास)

आगे चलकर इसी समुल्लास में स्वामीजी लिखते हैं—"क्योंकि जब पाप बढ़ जाता है, पुण्य न्यून हो जाता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर, और जब धर्म अधिक और अधर्म न्यून होता है तब देव तथा विद्वानों का शरीर मिलता है और जब पुण्य-पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर वाले होते हैं।"

इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी पूर्व प्रबल वासनाओं के अनुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट वर्ण तथा माता-पिताओं के यहाँ जन्म लेता है। इन्हीं वासनाओं की

चढ़ता का नाम पूर्व जन्म-कृत स्वभाव है। अब विचारणीय बात यह है कि बालक अपनी पूर्व जन्म की वासनाओं के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णस्थ माता-पिताओं के यहाँ जन्म लेता है वह उस वर्ण के गुण-कर्मों को अपने पूर्व स्वभाव और वर्त्तमान वर्ण की स्थिति के अनुसार उस वर्ण के गुण-कर्म को सहज ही में प्राप्त हो सकता है या नहीं और उसके विपरीत गुण-कर्मों के अनुकूल स्वभाव को बनाना उसके लिए दुष्कर होगा अथवा नहीं। यह तो स्पष्ट ही मानना पड़ेगा कि शूद्र-वर्णस्थ बालक इस जन्म में ब्राह्मण बनना चाहे तो उसको अत्यन्त कठिनता का सामना करना पड़ेगा। ऐसे ही क्षत्रिय अथवा वैश्य माता-पिता के यहाँ जन्मे हुए बालक को ब्राह्मण बनना हो तो शूद्र-वर्णस्थ बालक की अपेक्षा कुछ सुलभता रहेगी। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए मैंने अपने लेख में 'अधिकांश' शब्द का प्रयोग किया था कि प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया अपने पूर्व जन्मकृत स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्त होता है और पूर्व जन्मकृत स्वभाव को इस जन्म का उत्कट पाप अथवा पुण्य ही बदल सकता है, साधारण नहीं।

'संस्कारविधि' के 'गृहस्थाश्रम' प्रकरण में स्वामीजी लिखते हैं कि "इन गुण-कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसीके सदृश गुण-कर्म-स्वभाव हों तो अति विशेष है।" आशा है श्री बाबूजी स्वामीजी के शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे।

वस्तुतः 'जन्म' शब्द सुनते ही बहुत से लोग घबरा जाते हैं सो उसमें घबराने की कोई बात नहीं। 'जन्मना' और 'कर्मणा' ये दो प्रश्न नहीं हैं। जैसे ज्ञान व कर्म दोनों के समुच्चय से मोक्ष मिलता है इसी प्रकार जन्म व कर्म दोनों ही वर्ण-व्यवस्था में

कारण हैं। दोनों परस्पर पृथक् रह ही नहीं सकते, क्योंकि उत्तम जन्म उत्तम कर्म पर निर्भर है। स्वामीजी बीसियों बार स्थान-स्थान पर 'गुण-कर्म-स्वभाव' 'गुण-कर्म-स्वभाव' लिख चुके हैं। उस पर कोई हरताल फेर नहीं सकता। 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखते हैं कि—"वर्णाश्रम गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।" यहाँ 'योग्यता' से अभिप्राय स्वभाव-जन्य योग्यता ही है। पचास जगह 'गुण-कर्म-स्वभाव' आवे और एकाध जगह 'स्वभाव' शब्द न भी हो तो उसको उसीके साथ अथवा उन्हींके अन्तर्गत समझना चाहिए। मुझे बहुत क्लेश होता है जब लोग शास्त्रीय ढङ्ग से सिद्धान्तों का विवेचन नहीं करते और स्वामीजी की बातों को भी अपने ढङ्ग पर ढालना चाहते हैं। वे स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि हम शास्त्रों को नहीं मानते। वे स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि हम पूर्व जन्म के संस्कारों को बात नहीं मानते। वे स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि पूर्व जन्मकृत स्वभाव का वर्त्तमान जन्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे क्यों नहीं घोषणा कर देते कि पूर्व जन्म के पाप-पुण्यों का इस जन्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, माता-पिता के संस्कारों का प्रभाव बालक पर नहीं होता, हम इसी जन्म को मानते हैं इत्यादि। स्वामीजी की कुछ बातों को मानने, कुछ बातों को अपने रङ्ग-ढङ्ग में ढालने से भी काम न चलेगा। यदि वेद-शास्त्र को आधार-शिला मानते हो तो फिर

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"

का आश्रय लेना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण की निम्न-लिखित उक्ति को भी मानना पड़ेगा कि—

"जन्म कर्म च मे दिव्यं"

जन्म भी दिव्य हो और कर्म भी तब देखो संसार में क्या चमत्कार होता है। केवल जन्म दिव्य है और आगे कर्म के

खाते में शून्य हो तो क्या होगा—कुछ नहीं। इसीलिए योग-शास्त्र में तीव्र संवेग की बात को कहा गया है।

संवेग	उपाय	संवेग	उपाय	संवेग	उपाय
तीव्र	मृदु	मृदु	तीव्र	मध्य	मृदु
तीव्र	मध्य	मृदु	मध्य	मध्य	मध्य
तीव्र	तीव्र	मृदु	मृदु	मध्य	तीव्र

यही बात गुण-कर्म-स्वभाव के विषय में है। सारा वैद्यक शास्त्र, चरक-सुश्रुत मुक्त कण्ठ से कह रहा है कि वंश-परम्परा के सात-सात पीढ़ियों के रोग बालक में आते हैं। इधर हम चिल्ला रहे हैं कि माता-पिताओं के संस्कारों का कोई प्रभाव, उनके गुण-दोषों का कोई प्रभाव, बालक पर नहीं पड़ता। सात-सात पीढ़ियों के रोग तक तो बालक में आवें और उस कुल के अच्छे संस्कारों का बालक पर कोई प्रभाव न पड़े--ऐसी बात तो वही मान सकेगा जिसकी ज्ञान व अनुभव-शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई हो। 'उच्च' और 'नीच' शब्द से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। 'उच्च' और 'नीच' 'ऊपर' 'नीचे' के अर्थ रखते हैं। 'नीच' का अर्थ 'त्याज्य' नहीं है। सब एक दूसरे के सहायक हैं। अङ्गाङ्गी भाव से सब साथ रहेंगे ही। 'जन्मना' व 'कर्मणा' दोनों को पृथक् रखकर काम चलेगा नहीं। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कर्मों से उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कुलों में जन्म होगा ही। आगे उस उत्तमता, मध्यमता, नीचता में परिवर्तन करना हो तो वह भी तप की अधिकता अथवा न्यूनता से ही साध्य है—यह दरवाज़ा खुला ही रखना पड़ेगा। 'वर्णाश्रम' के भव्य भवन में ऊपर चढ़ने या नीचे उतरने के लिए सोपान न बने हों तो फिर उस भव्य भवन की शोभा ही क्या रहेगी? ऊपर जाने की इच्छा रखनेवाले को मुक्तद्वार रहना ही चाहिए, जो ऊपर भव्य भवन में बैठकर वायु

के झोंकों से घबराता है उसको नीचे आने के लिए मार्ग चाहिए ही—यही शास्त्र-तत्व है। जो इस तत्व को नहीं मानते उनको 'वैदिक' कहना सर्वथा अनुचित है। वेद-विरुद्ध, शास्त्र-विरुद्ध, अनुभव-विरुद्ध बातों को वे ही मान सकते हैं जिनको पवित्र वैदिक साहित्य-भण्डार के दर्शन नहीं हुए।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

यह श्लोक बतलाता है कि ब्रह्म पाने योग्य शरीर किस प्रकार बन सकता है। इसके पूर्व के दो श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'ब्राह्मी' शब्द से अभिप्राय है 'ब्रह्म-सम्बन्धी' से। 'ब्राह्मी' शब्द से 'ब्राह्मण' के शरीर से अभिप्राय नहीं है। ऐसे 'ब्राह्मी' 'तनु' तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी बन सकते हैं। यदि ऐसा अर्थ न मानें तो पूर्व श्लोकों से विरोध पड़ जायगा।

मैं श्री बाबूजी को धन्यवाद देता हूँ कि उनके कारण ही मुझे फिर तीसरी वार अपने अभिप्राय को प्रकट करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ। श्री बाबूजी से मैं पूछना चाहता हूँ कि—

(१) क्या वे पूर्व जन्म के संस्कारों की बात को नहीं मानते?

(२) पुण्य-पापों को उत्तम-निकृष्ट योनियों का कारण नहीं मानते?

(३) उत्तम कर्मों से उत्तम कुल में उत्पन्न होनें की बात नहीं मानते?

(४) वर्ण-व्यवस्था में 'योग्यता' जन्मान्तर के स्वभाव से आती है— यह बात नहीं मानते?

(५) मैंने ऊपर स्वामीजी के शब्दों को उद्धृत किया है उनका, उनके (श्री बाबूजी के) मन में क्या अभिप्राय है?

(६) उत्तम कुल में जन्म हो और उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव हो तो अन्यों की अपेक्षा उसमें विशेषता रहेगी कि नहीं? स्वामी जी तो मानते हैं।

(७) स्वामी जी उच्च कुल में विवाहादि करने की बात मानते हैं सो क्यों?

(८) जिन गुरुकुलों के विषय में श्री बाबू जी लिखते हैं, उनमें प्रवेश-समय गोत्र क्यों पूछा जाता था? गुरु को अभिवादन के समय में 'गोत्रोच्चारण' का क्या अभिप्राय रहता था? उपनयनादि के समय गुरु-शिष्य से 'अमुक शर्मा' 'अमुक वर्मा' आदि क्यों कहलाया करता था?

(९) 'मातृमान्-पितृमान्' जहाँ हो वहाँ आचार्य को विवश होकर वही जाति माननी पड़ेगी। जहाँ 'मातृमान् पितृमान्' नहीं वहाँ आचार्य बेचारा कर ही क्या लेगा? आचार्य को उस दशा में अपना ही निर्णय देना पड़ेगा। आचार्य-कृत जाति का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह मनमानी करे। वह भी तो बालक के संस्कार और प्रवृत्ति देखकर ही करेगा। 'जाबाल' की दशा में भी यही हुआ। पिता का पता नहीं लगा, माता कुछ कह न सकती थी, गुरु ने तो उसकी आकृति, उसकी बात-चीत आदि से ही निर्णय किया कि ब्राह्मण-कुल में ही ऐसा सत्यवादी बालक हो सकता है, जहाँ माता निःसङ्कोच स्पष्ट सब बात कह देती है। 'नचिकेता' के विषय में भी यम द्वारा उसका ब्राह्मणोचित आतिथ्य इसी बात की पुष्टि करता है।

(१०) क्या पण्डित गुरुदत्तजी की बात को आप नहीं मानते कि 'ॐ' के उपासक कुल में कोई नास्तिक उत्पन्न नहीं होगा?

(११) छान्दोग्य उपनिषद् के "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"...इत्यादि"—इस वचन का क्या अर्थ करते हैं?

मेरा लेख बढ़ता जाता है, इसलिए इसको यहीं समाप्त करता हूँ। मैं तो कभी किसीको उद्देश्य करके अथवा किसी का नाम निर्देश करके नहीं लिखा करता हूँ, तथापि श्री बाबू श्यामसुन्दरलालजी (जो हमारे पुराने योग्य अनुभवी प्रेमी मित्र हैं) के सम्मानार्थ इस प्रकार नाम निर्देशपूर्वक लिखा गया है। असली बात यह है कि साधारण जनता इतने जटिल व गूढ़ प्रश्नों पर विचार नहीं कर सकती और अखबारों में कभी ऐसा प्रसङ्ग चल पड़े और विद्वान् लोग गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगें तो साधारण जनता उसको उन विद्वानों का परस्पर का झगड़ा समझ बैठती है। मैं आर्य जनता को हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उसने सदैव से मेरे लेखों का आदर ही किया है। उसी आदर-वृत्ति का परिणाम यह है कि मैं आर्य जनता के समक्ष अपने विचारों को स्पष्ट रूप से रखता चला आया हूँ। इस विषय में यह मेरा अन्तिम लेख है और बा० श्याम-सुन्दरलालजी एडवोकेट तथा उन जैसे विचार रखनेवालों को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वे भी अपने विचार जनता के समक्ष रखें, क्योंकि

"वादे वादे जायते तत्त्व बोधः।"

केवल प्रार्थना है कि सब लेखों को मिलाकर पढ़ें और फिर विचार करें, फिर लिखें। लेखक महानुभावों को पूर्व से धन्यवाद दे छोड़ता हूँ और छुट्टी लेता हूँ।

षष्ठ गुच्छक

१—वेदोद्यान की सैर

आज तक—सृष्टि के आदि से लेकर अब तक—जिन्होंने अनन्त वेदोद्यान की ('अनन्ता वै वेदाः' = ज्ञान-विज्ञान अनन्त है) सैर की है उनकी गिनती नहीं हो सकती। किन्तु उस उद्यान के परस्पर विरुद्ध वर्णन उन्हींसे सुनकर, उन्हींकी लेखनी द्वारा पढ़कर आश्चर्य होता है। कोई कहता है कि अत्यन्त सुन्दर उद्यान है, उस उद्यान में असंख्य प्रकार के सुगन्धित पुष्प हैं। कोई कहता है कँटीले झाड़ों से भरा हुआ है। कोई कहता है उजड़ा हुआ बाग़ है। यह भिन्न-भिन्न रुचि का परिणाम है, भिन्न-भिन्न दृष्टि का खेल है कि क्या है कह नहीं सकते। जिन वेदों के विषय में उनके महत्त्व व मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण 'कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरुक्त) कहा गया है, जिनके विषय में 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (महाभाष्य) —बस जो भी शब्द और वाक्य वेद कहता है वह आँखें मूँदकर मानने योग्य हैं—हम मानते हैं ऐसा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है, जिनका नाम लेते ही न्याय बड़े आदर के साथ कहता है कि "मन्त्रौषधिप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्" मन्त्र और औषधि के प्रामाण्य के समान वेद का प्रामाण्य है, जिनका नाम लेते ही सब शास्त्र, सब उपनिषदें (यस्य निःश्वसितं वेदाः=वेद जिस प्रभु के निश्वास हैं), सब ब्राह्मणकार, अनुब्राह्मणकार श्रद्धा से सिर झुकाते हैं, भगवान् शङ्कराचार्य-जैसे प्रतिभाशाली आचार्य भी यह मानते हैं कि वेद ब्रह्मप्रणीत हैं (शास्त्रयोनित्वात्) और जैसी आनुपूर्वी है वैसे ही अक्षर व क्रम से वेद प्रकट हुए, जिन

वेदों का नाम लेते ही स्वामी दयानन्द इतने मुग्ध हो जाते हैं कि मनु के शब्दों में "भूतं भव्यं भविष्यं च, सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति"—भूत, भव्य और भविष्य सब वेद से ही जाना जाता है—संसार के सम्मुख बलपूर्वक शङ्खनाद करते हैं कि संसार में जो कुछ भी सत्यांश है वह सब वेदों का ही अंश है, संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं उनमें जितनी अच्छी बातें हैं वेदों की ही हैं, जिन वेदों का नाम लेते ही आर्य-संस्कृति के संस्कार जागृत होते हैं, प्राचीनतम दृश्य सम्मुख आने लगते हैं, उन्हीं वेदोद्यान के पुष्पों के विषय में भगवान् बुद्ध ने मौन साधा; चारवाक, लोकायतिक व योगाचार्य आदि नास्तिकों ने इतनी निन्दा की—यह क्या बात है? उन्हीं वेदों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की विचित्र-विचित्र धारणा क्यों हो रही हैं? कोई वेदों को आध्यात्मिक पुस्तक, कोई विज्ञान का पुस्तक, कोई आर्यों की सभ्यता का इतिहास समझ रहा है, तो कोई साधारण मनुष्यों की कृति व कोई ऋषि-महर्षियों की बुद्धि का खेल समझ रहा है—यह क्या बात है? कोई कहता है कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान होना था सृष्टि की आदि में ही चार ऋषियों पर प्रकट हुआ; कोई कहता है कि ऋषियों पर प्रकट नहीं हुआ किन्तु ऋषियों के विशुद्ध अनुभव स्वरूप चारों वेदों में—'अग्निवायुरविभ्यस्तु' (मनु)—अग्नि-विज्ञान के लिए ऋग्वेद, वायु-विज्ञान के लिए यजुर्वेद, सूर्य विज्ञान के लिए सामवेद—इस प्रकार यह तेतीस देवताओं का विज्ञानपरक वर्णन है। इन सब विप्रतिपत्तियों पर विचार करके हमने सोचा कि स्वयं ही इस विस्तृत सुन्दर वेदोद्यान की सैर करें। इसी विचार से हमने कई वार चारों खूटों की सैर की, अपनी आँखों से एक-एक पेड़ गिना, प्रत्येक वृक्ष को देखा, उसके पुष्पों को सूँघा और हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि संसार के साहित्य में यदि वेद न हों तो कुछ नहीं, सब साहित्य निकम्मा, चाहे जिस दृष्टि से

विचार कीजिए। वेद अपौरुषेय हैं, वेद पौरुषेय हैं, वेद ऋषि-मुनियों के अनुभव-संग्रह हैं, वेद आर्य सभ्यता के इतिहास हैं—इनमें से किसी दृष्टि से देखिए वेदों का महत्त्व न्यून नहीं हो सकता। वह तो संसार के ग्रन्थ-सङ्ग्रहालय में सबसे उत्तम, सबसे प्रथम स्थान पाने योग्य ही ठहरेंगे। तुलना करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि संसार के साहित्य में जो कुछ भरा पड़ा है, वह वेदों के विज्ञानों का बीज ही फला है। वेदों में मूलरूपेण सब कुछ है—मनुष्योपयोगी सब ज्ञान बीजरूपेण कहा गया है। सृष्टि की आदि से लेकर प्रलय तक की कथा बीजरूपेण इसमें है। संसार के तेतीस देवताओं का विज्ञान इसमें है। मनुष्य के व्यक्तिगत, सामुदायिक कर्त्तव्यों का बोधन—जन्म से मरण तक का, आध्यात्मिक कर्त्तव्यों, सुख-दुःखों का वर्णन इसमें है। मनुष्य की अभिकांक्षाएँ क्या-क्या रहती हैं और कहाँ तक पहुँचती हैं—इसका सुन्दर वर्णन यजुर्वेद अध्याय १८ में देखिए। इस अध्याय का नाम है—'चमकाध्याय' क्योंकि इसमें 'च मे' 'च मे' बार-बार आता है—"मुझे चाहिए, मुझे चाहिए"—यह बात बार-बार कही गई है। उन २६ मन्त्रों को देखने-विचारने से ही पता चलता है कि मनुष्य क्या-क्या चाहता रहता है और उसको वह किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। संसार की समस्त वस्तुओं की प्राप्ति का साधन 'यज्ञ' माना गया है। यज्ञ क्या है—इस बात पर विद्वानों को बहुत गवेषणा, सुदीर्घ काल तक गवेषणा करनी पड़ेगी। समस्त विज्ञानों का प्रश्न ही यज्ञ पर आश्रित है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(यजु० ३१-१६)

ये "साध्याःदेवाः" कौन हैं, कौन बन सकते हैं, इन्होंने कौनसा

यज्ञ किया था, यह यज्ञ "प्रथमानि धर्माणि" क्यों बन गया था, 'यज्ञ' से 'यज्ञ' का यजन कैसे हुआ करता था इत्यादि बातों में ही विज्ञान-बीज छिपा हुआ है। यजुर्वेद अध्याय १८ में वर्णित असंख्य पदार्थ जिससे मिल जाते हैं वह 'यज्ञ' कैसे हुआ करते हैं—इसीका अनुसन्धान करना पड़ेगा। 'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्' (यजु० १८-२९) की विधि सीखनी पड़ेगी। जिस दिन हमको इस कार्य में कृतकार्यता मिलेगी उसी दिन हम संसार को अपनी ओर आकर्षित कर सकेंगे और कह सकेंगे कि—'जगच्च मे' (यजु० १८—५) यह देखो संसार मेरी मुट्ठी में है, अथवा संसार मेरी मुट्ठी में आ गया है। वेदों में राष्ट्र की बात है, महाराष्ट्र, अधिराज्य, महाराज्य की बात है। व्यष्टि व समष्टि धर्म की बात है। समाज-शास्त्र, विश्वबन्धुत्व की बात है। आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा है, सृष्टि-विज्ञान की चर्चा है। जीव, ब्रह्म, उनका सम्बन्ध, मूल प्रकृति, अष्ट विकृति, इनकी बात है अर्थात् वेद ज्ञान-विज्ञान से भरा पड़ा है। वैसे वेद है एक ही, पर विषय-भेद से चार और ज्ञान-भेद से—"अनन्ता वै वेदाः"—अनन्त हैं। कोई मुझसे पूछे, वेदों में क्या-क्या है? मैं एक ही वाक्य में, एक ही प्रश्न में उत्तर दूंगा कि "यह बतलाओ कि वेदों में क्या नहीं है?" हम लोग ऐसे वेदों से लालित-पालित-पोषित होंगे तभी कुछ कर सकेंगे। ऐसे वेदों के लिए तप तपेंगे, स्वाध्याय करेंगे, प्रमाद न करेंगे, प्राण तक देने के लिए तैयार रहेंगे, तभी हमारा कल्याण होगा। अब दशा यह है कि हम वेदों को पढ़ रहे हैं पर हमारी समझ में नहीं आ रहे हैं, उलटे प्रतीत हो रहे हैं; इसलिए कि श्रद्धा नहीं, तप नहीं, इसलिए वेदान्तर्गत श्रद्धासूक्त से श्रद्धादेवी का आवाहन कीजिए। हे श्रद्धे देवि! तू ही आ और वेदों में श्रद्धा करा। वेदों से ही संसार का कल्याण होगा। वेदों में ही शक्ति है कि वह संसार

को सुख-शान्ति-समृद्धि का आगार बना सकें। वेद ही आर्य जाति के प्राण रहे हैं, वेद ही आर्य-संस्कृति के स्रोत रहे हैं। इसलिए 'विज्ञानं ब्रह्म' विज्ञानब्रह्म की उपासना के लिए वेद की शरण लो क्योंकि—

"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति"

वेदोंके विषय में जितनी विप्रतिपत्तियाँ हैं वे सब स्थान-भेद और बुद्धि-भेद के कारण हैं। मैंने उदयपुर राज्य के पानीमहल में एक ऐसे कुशल चित्रकार का बनाया हुआ चित्र देखा जो कि दाँये, बाँये, सामने खड़े होने से तीन प्रकार का दिखलाई पड़ता था। एक ओर खड़े होकर देखो तो व्याघ्र, दूसरी ओर खड़े होकर देखो तो ऊँट, सामने खड़े होकर देखो तो सिंह दिखलाई पड़ता था। वेदों के कुशल कारीगर ने वेदों की रचना इस प्रकार की की प्रतीत होती है कि स्थान-भेद के कारण वह देखनेवालों को भिन्न-भिन्न रूप में दिखलाई दे रहा है, नहीं तो उसका स्वरूप एक ही है और तप व स्वाध्याय का आश्रय लेनेवालों को सर्वत्र एक ही रूप में दिखलाई देना चाहिए।

२-गुरुकुलपूर्वरूप,उत्तररूप,सन्धि,सन्धान

आचार्यःपूर्वरूपम्,अन्तेवास्युत्तररूपम्, विद्या सन्धिः, प्रवचनं सन्धानम्

(शिक्षोपनिषद्)

प्राचीन संस्कृत विद्या और प्राचीन संस्कृति इसी उपर्युक्त तत्त्व पर निर्भर थी। आर्यसमाज प्राचीन रीति-नीति,शिक्षा-दीक्षा का पोषक है, इसलिए उसने भी प्राचीन शिक्षा के उद्धारार्थ गुरुकुल स्थापित किये। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली ने अब तक क्या-कुछ किया, भारतीय जनिता की मनोवृत्ति पर क्या प्रभाव डाला—इसको तो सब अनुभव कर रहे हैं; किन्तु किन्हीं अंशों में सफल होने पर भी अनेक अंशों में असफलता ही देखी जा रही है—इसका कारण क्या है? उत्तर उपर्युक्त शिक्षोपनिषद्वाक्य ही दे रहा है। जहाँ आचार्य पूर्वरूप नहीं, जहाँ शिष्य उत्तर-रूप नहीं और जहाँ विद्वेष छोड़कर प्रवचन सन्धान नहीं, वहाँ सर्वाङ्ग-परिपूर्ण सफलता भी नहीं मिल सकती। हमारी आयु का आधा भाग ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के प्रचार व प्रसार में गया और इस विषय में हम अधिकारयुक्त वाणी व लेखनी से कह व लिख सकते हैं।

(१) वर्त्तमान गुरुकुलों में आचार्य को वह पद व अधिकार नहीं रहते जो कि प्राचीन समय में रहा करते थे। (२) आचार्य प्रायः वे हो जाते हैं जिनको संस्कृत विद्या का गन्ध भी नहीं रहता। (३) आचार्य व शिष्य के बीच में कमेटियों का अनुचित व्यवधान पड़ता रहता है जो कि सच्चे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध में प्रायः बाधक तथा व्यर्थ हस्तक्षेपक रहता है। इसीलिए न तो

पूर्वरूप आचार्य ही सन्तुष्ट रहता है, न उत्तररूप शिष्य ही सन्तुष्ट रहता है, न प्रवचन सन्धान ही ठीक-ठीक बनता है, क्योंकि सञ्चालक-कमेटियों में अज्ञ और विज्ञ दोनों प्रकार के सदस्यों की खिचड़ी रहती है। इसीलिए मिश्रित बुद्धि से कार्य चलता रहता है। यदि सञ्चालक-सभा आचार्य के अनुकूल रही तो काम अच्छा चलता है। यदि विपरीत रही अथवा हो गई तो आचार्य भी कुछ नहीं कर सकता। शिष्यगण भी कभी-कभी सञ्चालक-सभा का रुख पकड़कर आचार्य के विपरीत वृत्ति धारण कर बैठते हैं। फिर उपनिषद् का वह सुन्दर तत्त्व—शिक्षा का वह सुन्दर तत्त्व—नष्ट हो जाता है और गुरुकुल सच्चे अर्थों में गुरुकुल नहीं रहता। वस्तुतः गुरु-शिष्यों के बीच में किसी दूसरे के आने की आवश्यकता नहीं—आचार्य प्रतिदिन बदलने की वस्तु नहीं—जिसको एक बार शिष्यों ने अग्नि को साक्षात्कार करके आचार्य मान लिया हो वह केवल सञ्चालक-समिति की राय से छोड़ देने की वस्तु नहीं। यदि गुरु अधार्मिक हो तो सबसे पहले शिष्यों का ही अधिकार है कि वे ही सद्भावपूर्वक आचार्य की रक्षा करें और उसको बचावें। यदि शिष्य पतन की ओर जा रहा है तो आचार्य का ही अधिकार है कि वह उसको सँभाले रखे, जहाँ प्रतिदिन गुरु-शिष्य मिलकर—

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

(शिक्षोपनिषद् का शान्तिपाठ)

शान्तिपाठ पढ़ते हों और जहाँ आचार्य प्रतिदिन "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" कहकर शिष्यों को समझाता हो, वहाँ किसी प्रकार की आशङ्का ही नहीं होनी चाहिए।

बड़ी भारी बिल्डिङ्ग हो, जिसको देखने में दर्शक को घण्टा-डेढ़ घण्टा लगता हो, जिसमें सैकड़ों ब्रह्मचारी पढ़ते हों, जिसके पास प्रभूत धनराशि हो, वही 'गुरुकुल' हो, यह बात नहीं। जहाँ सच्चे भाव से एक गुरु व एक शिष्य भी पूर्वरूप उत्तररूप रहकर प्रवचन कर रहे हों वह भी 'गुरुकुल' है। स्वामी दयानन्द का 'गुरुकुल' जङ्गल में नहीं था, किसी बड़े विशाल भवन में नहीं था। एक छोटे से मकान में जो कि भरे बाज़ार में था, एक सच्चे गुरु को एक सच्चा शिष्य मिल गया, उत्तम पूर्वरूप के लिए उच्च कोटि का उत्तररूप मिल गया। 'मा विद्विषावहै' की रीति पर तेजस्वी गुरु ने तेजस्वी शिष्य को प्रवचन दिया और इस प्रकार तेजस्वी विद्या ने संसार में अद्भुत अर्थात् अभूतपूर्व कार्य किया। कौन कहेगा कि स्वामी दयानन्द का गुरुकुल गुरुकुल नहीं था ? क्या हुआ यदि मथुरा के बाज़ार में था ? क्या हुआ यदि टूटे-फूटे मकान में था ? क्या हुआ यदि गुरु प्रज्ञाचक्षु था ? क्या हुआ यदि उसके पास धन-राशि नहीं थी ? विरजानन्द सच्चा गुरु तो था ? दयानन्द सच्चा शिष्य तो था ? उनका प्रवचन तो तेजस्वी था ? बस, वहाँ गुरु-शिष्यों के बीच में कोई बाधक नहीं था, सिर पर सञ्चालन करनेवाली अज्ञ-विज्ञ-तज्ज्ञों की मिश्रित सभा नहीं थी; गुरु-शिष्यों में सौमनस्य था, और था निधिरूप गुरु विरजानन्द और निधिप रूप शिष्य दयानन्द। न तो कभी विरजानन्द ने मन-वचन-कर्म से और न दयानन्द ने मन-वचन-कर्म से परस्पर द्रोह किया, तब विद्या सफल क्यों न होती; तब विद्या तेजस्विनी क्यों न होती, तब वेद-शास्त्र तेजस्वी क्यों न होते ?

वर्त्तमान गुरुकुलों में पूर्वरूप=आचार्य, उत्तररूप=शिष्य, सन्धि अर्थात् विद्या, प्रवचन अर्थात् सन्धान—इनमें एक का एक से मेल नहीं।

आचार्य व शिष्यों को पता ही नहीं कि दोनों कब तक एक साथ रह सकेंगे। यही पता नहीं कि कब अलग होंगे, इच्छापूर्वक पृथक् होंगे, अनिच्छापूर्वक अलग होंगे अथवा बलपूर्वक अलग किये जायँगे।

आचार्य भी जानता है कि वर्त्तमान स्थिति में वह सर्वथा सुरक्षित नहीं है। वह आचार्य है पर उसकी इच्छाएँ नहीं चलने पातीं, उसको अन्यों के इशारों पर चलना पड़ता है, उसको दूसरों से भयभीत रहकर, आशङ्कायुक्त रहकर दिन व्यतीत करने पड़ते हैं, उसके मार्ग में अधिष्ठाता है। यदि आचार्य ही मुख्याधिष्ठाता है तो उसके सिर पर ऐसी कमेटी है, जिसके बनाने में दूसरों का हाथ है, जिसके बनाने में उसकी इच्छाओं का ध्यान नहीं रखा गया है। यदि उसके सिर पर विद्या-सभा है तो उसके सदस्यों के चुनने में भी आर्यसमाजों का हाथ है, जो धन के बल पर सभासद चुनती हैं। ऐसे वातावरण में गुरु-शिष्य जब तक निभे तब तक का मन्त्र जपकर दिनकटी करते रहें तो तनिक भी आश्चर्य नहीं।

इसीलिए विद्या सफल नहीं हो रही है, इसीलिए घोर परिश्रम के अनुरूप फल नहीं मिल रहा है। हम रात-दिन "धन धन धन" चिल्लाते रहते हैं; न्याय से-अन्याय से, असत्य भी बोलकर, आत्म-हनन भी करके, आडम्बर दिखलाकर भी धनोपार्जन करते रहते हैं; कुत्सित दान भी ले लेते हैं। फल यह है कि जितना सात्त्विक दान मिलता है उतना अच्छा काम हो जाता है; जितना राजस दान मिलता है उतने झगड़े-टण्टे, क्लेश-दुर्भाव फैलकर कार्य-कर्त्ता व गुरुजनों में दौर्मनस्य के भाव काम करने लगते हैं; जितना तमोगुण का दान आता है उतना ही किया-कराया काम चौपट हो जाता है। हम लोगों में दान लेने का विवेक नहीं रहा; हम लोगों में पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम हो गया; बड़े से बड़ा नेता, विद्वान् कार्यकर्त्ता सेठों

आर्य समाज के नेता निस्तेज हो गये

के पीछे गिड़गिड़ाता फिरता है; धन-बल ने विद्या-बल को दबा रखा है; धन-बल ने हमारी तेजस्विता को नष्ट कर डाला है। इसीलिए आर्यसमाज के नेता निस्तेज, विद्वान् निस्तेज, ब्रह्मचारी निस्तेज, गुरु निस्तेज हो गये हैं। अनुचित प्रतिग्रह से हम नष्ट हो रहे हैं।

"अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥"—

इस तत्त्व को भूल से गये; इसीलिए हमारा पग फिसल रहा है।

मैं गुरुकुल शिक्षा-प्रेमियों से, आर्यसामाजिक भाइयों से पूछना चाहता हूँ कि विचार करके बतलाइए कि—

"सह नौ यशः, सह नौ ब्रह्मवर्चसम्"—

इस प्रार्थना को गुरु-शिष्य बैठकर किस स्वतन्त्र प्रशान्त वातावरण में करें?

"श्रुतं मे गोपाय"

गुरु यह वचन किस शिष्य को किस प्रकार कहाँ कहे? गुरुजन, आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। यशो जनेऽसानि स्वाहा। इत्यादि प्रार्थना को किस स्थान में सच्चे हृदय से कहें?

यथापः प्रवता यान्ति यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मां ब्रह्मचारिणः धातरायन्तु सर्वतः॥

सच्चे गुरुजनों की यह प्रार्थना कैसे सफल हो?

आर्यजगत के जल, थल व नभस्थल में अभी तो मैं कोई ऐसा प्रशान्त स्वतन्त्र स्थान नहीं देख रहा। गुरुजन भी दुखी हैं, शिष्यगण भी दुखी हैं और विद्या भी दुखी है। ईश्वर हमको बल देवे, जिससे हम विद्या की रक्षा कर सकें।

३—नवसस्येष्टि

किसी-किसी युग में कोई-कोई बात प्रधान रूप से होती चली आई है। यदि सतयुग में तप प्रधान रहा तो त्रेता में ज्ञान का प्राधान्य रहा। द्वापर में यज्ञ-यागों की धूम रही तो कलि में केवल दान की महिमा बढ़ी।

प्राचीन समय में वह कैसा अपूर्व समय रहा होगा जब यज्ञ-यागों की धूम रहती होगी और उनके पवित्र धूम (धुआँ) से भारतवर्ष के कोने-कोने पवित्र होते रहे होंगे।

होली के दिनों में सर्वत्र भारत में नवसस्य अर्थात् नवीन अन्न का यज्ञ कराया जाता था। आजकल यह प्रथा सर्वथा नष्ट हो गई है। अभी वर्तमान भारतीय जनता ने यागों की महिमा को नहीं जान पाया। हमारे पुरातन पूर्वजों ने तो यज्ञों के महत्त्व को अच्छी तरह जान लिया था इसीलिए प्रत्येक पूर्णिमा, अमावस्या, प्रत्येक पर्व, प्रत्येक ऋतु की सन्धि आदि के अवसर पर वे कोई न कोई याग कर ही डालते थे। कोई-कोई यज्ञ वर्षों चलते थे। महाभाष्य में ऐसे यज्ञों के विषय में उल्लेख आया है जो वर्ष शतिक अर्थात् सौ-सौ वर्षों और वर्ष साहस्रिक अर्थात् सहस्र वर्ष तक अव्याहत रूप में चलते थे और फिर पूर्णाहुति होती थी। धर्म के तीन प्रधान अङ्ग हैं:—

१—दान, २—अध्ययन, ३—यज्ञ।

यज्ञों की महिमा ब्राह्मण ग्रन्थों में भली भाँति उपवर्णित है। यज्ञों से मनुष्यों के अभिवाञ्छित मनोरथों की पूर्ति होती है। यज्ञ एक प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। यज्ञ शब्द का व्यापक

अर्थ करने लगें तो कई प्रकार के यज्ञ इन भागों में विभक्त हो सकते हैं। एक द्रव्यमय यज्ञ, दूसरा अद्रव्यमय यज्ञ। दूसरे शब्दों में कहना हो तो ज्ञान-यज्ञ और द्रव्य-यज्ञ कह सकते हैं। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, किन्तु ज्ञान-यज्ञ साधारण पुरुषों से बन नहीं पड़ता। इसी लिए ज्ञान-यज्ञ को प्राप्त करने के लिए द्रव्यमय यज्ञों की सृष्टि ऋषि-मुनि-महर्षियों द्वारा हुई है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥गीता ४-२४॥

यह हुआ ब्रह्म-यज्ञ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥गीता ४-२५॥

यह हुआ दैव-यज्ञ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

यह हुआ संयम-यज्ञ।

शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ गीता ४-२६॥

यह हुआ इन्द्रिय-यज्ञ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ गीता ४-२७॥

यह हुआ आत्म-यज्ञ अथवा ज्ञान-यज्ञ।

(१) द्रव्य-यज्ञ, (२) तपोयज्ञ, (३) योग-यज्ञ, (४) स्वाध्याय-यज्ञ, (५) ज्ञान-यज्ञ आदि विविध यज्ञों को छोड़कर किसी भी अन्य प्रकार के यज्ञों में किसी प्रकार के द्रव्य अथवा सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती।

द्रव्यमय यज्ञों से भी जन-समुदाय अथवा राष्ट्र का बहुत उपकार होता है। द्रव्यमय यज्ञों के भी अनेक भेद हैं।

सांसारिक मनुष्यों की समस्त अभिकांक्षाओं की पूर्ति इन यज्ञों से हो सकती है। उनको ऐहिक और आमुष्मिक फल मिल सकते हैं।

नवसस्येष्टि यज्ञ जो कि होलिका के दिनों में होता था वह अन्न की दृष्टि से किया जाता था। इस यज्ञ के पश्चात् ही लोग नवसस्य को काम में लाते थे, इससे पूर्व नहीं। अब भी दक्षिण देश में इस यज्ञ को प्रथा विद्यमान है। ईश्वर की कृपा से हमारे देश में जो कि कभी यज्ञिय देश नाम से प्रसिद्ध था पुनः यज्ञ-यागों का प्रचार हो जिससे जनपद के रोगों की शान्ति और जनता की समृद्धि हो। इस छोटे से लेख में यज्ञ-जैसे महान् विषय पर भली भाँति प्रकाश डालना नितरां असम्भव है तथापि होली के उपलक्ष्य में स्थूल रूप कुछ दिग्दर्शन कराया गया।

सप्तम गुच्छक

१—हिमालय

यह नगाधिराज हिमालय न जाने कब बना ? सृष्टि के आदि में सबसे प्रथम दोधूयमान महाजल-राशि में से न जाने इसने कब ऊपर सिर निकाला ? हमारे शास्त्रों में जिस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति बतलाई गई है, उसके अनुसार महाप्रलय के पश्चात् जब ईश्वरीय अभिध्यान से सृष्टि-उत्पत्ति अथवा सर्ग का प्रारम्भ हुआ, तब सबसे प्रथम महान् जलराशि थी। जब वह अतिशय क्षुब्ध हुई तब पृथ्वी के परमाणुओं में भी उथल-पुथल हो गई और द्विसरेणु-त्रिसरेणु के रूप में शनैः-शनैः भीतर ही पृथ्वीपुञ्ज एकत्रित होता गया। जब महान् जलराशि हटती गई, पृथ्वी का भूभाग ऊपर निकलने लगा। सबसे प्रथम हिमालय का उच्च शिखर, उसके पश्चात् उसके सानुप्रदेश अर्थात् आस-पास की बग़ल की भूमि, उसके पश्चात् त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत का समतल प्रदेश जलराशि से बाहर निकला। सम्भवतः वहीं सबसे प्रथम मनुष्य-सृष्टि हुई। हम लोग तो ऐसा ही मानते चले आये हैं। उसके पश्चात् शनैः-शनैः जलराशि घटती गई और पृथ्वी के अन्य भूभाग, नदी, नाले, समतल प्रदेश, दृष्टिगोचर होते गये। पाश्चात्य सिद्धान्त, भूगर्भ-विज्ञान अथवा प्राकृतिक भूगोल के सिद्धान्त इसके विपरीत यह बतला रहे हैं कि गङ्गा आदि हिमप्रदेशस्थ नदियाँ हिमालय से बहुत प्राचीन हैं और उस समय ये नदियाँ दक्षिण से तिब्बत की ओर बहती थीं। उस समय हिमालय ने अपना सिर ऊपर नहीं निकाला था। जब इसने ऊपर सिर निकाला तब इन नदियों का रुख़ बदलकर दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया। हिमालय को सिर निकाले हुए लगभग दो करोड़ वर्ष हुए। उन पाश्चात्य भूगर्भ-विज्ञान-विशारदों अथवा प्रकृति-पण्डितों का यह भी कथन है कि किसी समय भी भूडोल आदि प्राकृतिक घटनाओं

के कारण हिमालय और भी छः-सात सहस्र फ़ुट ऊँचा हो सकता है। पाश्चात्य पण्डित हमारी तरह यह स्वीकार करते हैं कि किसी समय नगाधिराज समुद्र अथवा महान् जलराशि के मध्य में था और जलराशि के हटनेसे ही यह प्रदेश ऊपर निकल आया।

हमने इस विषय में बहुत विचार किया तो हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि काल-चक्र-वश वर्त्तमान समय में जहाँ-जहाँ समुद्र, महासमुद्र, महासागर आदि जलराशियाँ स्थित हैं, वह भी अपना स्थान छोड़कर नीचे-नीचे होती जायँगी और उस दशा में हिमालय स्वयं ही समुद्र-तल से छः-सात सहस्र फ़ुट और ऊँचा हो जायगा। यह तो शायद तभी होगा, जब कि सृष्टि-प्रलय के दिन आयेंगे। सबसे प्रथम सर्ग जलराशि से प्रारम्भ हुआ था। इसलिए सबसे पूर्व जलराशि ही शनैः-शनैः नष्ट होगी, फिर पृथ्वीपुञ्ज नष्ट होगा। फिर अन्य भूत विलीन होकर परमाणु-रूपमें महान् आकाशमें स्थित रहेंगे, जब तक कि अनन्त आत्माओं के कर्मफलानुसार अथवा अदृष्ट चक्र के अनुसार ईश्वरीय अभिध्यान से फिर परमाणुओं में संयोगानुकूल व्यापार प्रवृत्त न हो।

जिस पुरुष ने कभी हिमालय नहीं देखा, वह हिमालय की महत्ता, उत्तुङ्गता और विचित्रता को कभी समझ ही नहीं सकता। जिस हिमालय की कन्दराओं में असंख्य ऋषि-मुनि-महात्माओं की हड्डियाँ गल गईं, जो हिमालय संसार की समस्त दिव्य औषधि और वनस्पतियों का भण्डार है, उसकी महिमा को उसके चरणों में बैठे बिना कोई कैसे समझ सकता है? आज पाश्चात्य साहसी वीरों की यह उत्कट लालसा है कि वे इस नगाधिराज के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होकर संसार के अनुपम दृश्य देखें। कई वर्षों से उनका प्रयत्न चल रहा है और इस वर्ष तो वे लोग कामेट नामक समुद्र-तल से तेईस सहस्र फ़ुट ऊँचे शिखर पर चढ़कर अपने साहस का परिचय भी

दे चुके हैं। एक हम काहिल, साहस-हीन हैं,जो अपने हिमालय की दिव्य विभूतियों का अनुभव नहीं कर रहे हैं। इसीलिए हिमालय हमसे उदास है। वह चुपचाप भारतवर्ष की दासता को देख रहा है। वेदों, उपवेदों, ब्राह्मणों, अनुब्राह्मणों, वेदाङ्गों और वेदोपाङ्गों की सृष्टि जिसकी गोद में हुई, उस हिमालय नगाधिराज की महत्ता को कोई कैसे और किन शब्दों में वर्णन करे? जिसकी गोद में प्राचीन आर्य-संस्कृति का जन्म हुआ है, ऐसे हिमालय की गोद में किसीके जीवन के अन्तिम दिन निकल जायँ, तो वह पुरुष कितना बड़भागी होगा? पर यह हो कैसे? हमको अपनी मोह-माया से ही फ़ुरसत नहीं, हमको अपने राग-द्वेषों से ही छुट्टी नहीं। इतनी ठोकरें खाकर भी अभी हम संसार की आशा-पिशाचिकाओं के चङ्गुल में बराबर फँसे ही चले जा रहे हैं। जानते हुए भी हम विपज्जाल में फँसे ही जा रहे हैं। वेदों की बातें करते हुए भी हम सच्चे वेदान्त-सुख की प्राप्ति का ध्यान ही नहीं कर रहे हैं। हम जैसे निस्तेज आर्यों के वेद यदि कभी सतेज होंगे, तो वह तभी होंगे जब तपस्वी आर्य-जन हिमालय की गोद में बैठकर वेदार्थों पर गम्भीर विचार करेंगे, तभी अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा की दिव्य विभूति—ऋग्-यजु-साम-अथर्व—समझ में आवेगी। ओ हिमालय! ओ सर्ग के आदिकालीन दिव्य दृश्य देखनेवाले हिमालय नगाधिराज! अब तू हमपर कृपा-दृष्टि कर। हे उत्तर दिग् के देवतात्मा! अब तो भारतवर्ष अपनी करवट बदल रहा है, तू भी करवट बदल। वह दिन कब आवेगा जब कि भारतीय स्वतन्त्र वातावरण में तेरी गोद में बैठकर भारतवर्ष के ऋत्विग् उच्च स्वर से वेदध्वनि किया करेंगे।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
(यजु० ३१-१६)

२—हिमालय के उच्च शिखर से

[१]

संसार के संयोग-वियोग बहुत ही विचित्र होते हैं। जो इनके तत्त्वों को जानता है, जो इनके लिए सदैव तैयार रहता है—नहीं-नहीं, जो स्वयं ही स्वेच्छापूर्वक छोड़ देता है, वह सुख-दुःखों के वेगों से बच जाता है। जो मोह-माया-वश फँसा रहता है, जो संयोग-वियोग के चक्र के लिए तैयार नहीं रहता, वह पीछे से बहुत दुःख उठाता है। उसकी दशा दयनीय हो जाती है और जब ऐसे वियोग के प्रसङ्ग आते हैं, तब एक बार तो उसके सामने अँधेरा नज़र आता है। अपनी इच्छा से छोड़ो अथवा अनिच्छा से छोड़ो, छोड़ना पड़ेगा ज़रूर, तुम्हारे समस्त देवता मिलकर भी उस समय तुम्हें बचा नहीं सकते। जिनसे जन्म लिया उनसे पृथक् होना पड़ेगा, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों से पृथक् होना पड़ेगा, प्रिय से प्रिय वस्तु को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। बच नहीं सकते। 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः'—जितने भी संयोग हैं उनकी समाप्ति वियोग से है। 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः'—जितनी भी वृद्धियाँ हैं उनका अन्त पतन से है। राव से लेकर रङ्क तक, बड़े से बड़े चक्रवर्त्तियों से लेकर साधारण जन तक, कीट-पतङ्ग भी इस अटल नियम से बच नहीं सके, न बच सकते हैं। इस संयोग-वियोग की मीमांसा को समझकर धर्मशास्त्रों में गृहस्थों के लिए एक सुन्दर तात्त्विक उपदेश दिया है। वह यह है, 'गृहेष्वतिथिवद्वसेत्'—घर में अतिथि के सदृश रहता हुआ सब कार्य करता रहे। 'आश्रमादाश्रमं गच्छेत्'—यह उपदेश भी इस तत्त्व को ध्यान में रखकर किया गया है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (६-२५)

सांसारिक विषयों और बन्धनों से शनैः-शनैः हटे और जितना भी हटे सोच-समझकर हटे; फिर उधर की ओर देखे भी नहीं; इस तरह धीरे-धीरे हटता-हटता इतना हटे कि आत्म-तत्त्व की चिन्ता में लगने से उसको और किसी विषय का ध्यान न रहे—यह मार्ग है ध्यानयोगियों का, जो सर्वथा संसार के कार्यों से मुक्त होना चाहते हैं। दूसरा मार्ग है कि जिधर-जिधर से दुःख देखे उधर से हटता चला जाय और हटते-हटते सब ओर से हट जाय, इतना कि

यतो यतो निवर्तन्ते ततस्ततः प्रमुच्यते।
निवर्त्तनाद्धि सर्वतः न वेत्ति दुःखमण्वपि॥

दुःखों की बात ही जाती रहे। जिधर-जिधर से पुरुष हटेगा, उधर-उधर से छूट जायगा और जब सब तरफ़ से छूट जायगा, तब उसको दुःख कहाँ से होगा? एक मध्यम मार्ग है, वह है द्वन्द्वातीत होकर संसार में काम करते रहने का—दुःख-सुख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय, इनमें समबुद्धि रखकर, फलों की निरपेक्षता से काम करते रहने का; पर है यह बहुत कठिन मार्ग। अपने को दुःख पहुँचानेवाले का भी भला चाहना, उपकार के बदले भी अनुपकार करनेवाले के लिए 'भद्रं ते भूयात्' अथवा 'भद्रमस्तु ते' कहना, दिल से कहना, मन में तनिक भी विकार नहीं रखना—यह कोई सहज काम नहीं है। कर्म करते हुए भी विपरीत, अनिच्छित, अकल्पित फल के प्राप्त होने पर भी न घबराना और समबुद्धि से कार्य करते रहना—यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। मन से ईर्ष्या-द्वेष के भावों को निकाल फेंकना, मद-मत्सर से बचे रहना कोई साधारण पुरुष का काम नहीं। यह मार्ग कठिन हो या सहल, साधारण हो या असाधारण, जो इसपर आरूढ़ होगा वह ऊपर ही ऊपर चढ़ता

जायगा और इतना ऊपर चढ़ जायगा कि संसार और संसारी जन उस पद को देखकर कौतुक करेंगे।

अब रहा संसारी लोगों का मार्ग। फँसे रहो संसार में; उठाया करो दुःख; जला करो, दूसरे की उन्नति देखकर; बरबाद हो जाओ, उपकारों को भूलकर; कमाओ पापों को, आश्रितों को दुःख देकर; नष्ट किया करो शक्तियों को, राग-द्वेष में फँसकर; उछला करो और गिरा करो खाइयों में, छोटी-छोटी अपनी कल्पित कामयाबियों को देखकर। परमात्मा ऐसे लोगों से कभी सन्तुष्ट रह नहीं सकता। ऐसे लोगों के माथे पर विधाता की लेखनी से एक शब्द लिखा रहता है, वह है "अधःपतन"। ऐसे लोग थोड़े काल के लिए भले ही कामयाब नज़र आवें, अन्त इनका है दुःखद; परिणाम इनका है अति विकट। ऐसे लोगों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने की अपेक्षा करुण दृष्टि से देखना चाहिए। भगवान् से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि ऐसे लोगों को 'अग्ने नय सुपथा'।

मैं क्या लिखने लगा था, किधर चल निकला। पर संयोग-वियोग के चक्र के साथ इन बातों का उल्लेख भी अपरिहार्य है। कभी-कभी अदृष्ट-वश अच्छों से संयोग और कभी-कभी अनिष्टों से भी पाला पड़ता है। अनादि कर्म-चक्र की गति को कौन जानता है और उसके जानने के लिए यत्न करने पर भी आज तक कौन जान सका है? फिर तत्त्व क्या है? तत्त्व यह है कि जहाँ तक बने परोपकार में रत रहो। किसीका भला न कर सको तो बुरा भी मत चाहो या मत करो। शत्रु का भी कल्याण चाहो। राग-द्वेष के झमेलों से बचो; पर सत्कर्त्तव्य-पथ पर अड़े रहो, चाहे कितने ही कष्ट आवें, चाहे ऐसा करते हुए प्रिय से प्रिय वस्तु का भी विप्रयोग हो जावे। पुण्यात्माओं से मित्रता, पापियों से उदासीनता का भाव

रखो—यही श्रेय मार्ग है। परमात्मा ऐसे मनुष्यों को सङ्कटों से तार देता है। परमात्मा ऐसे मनुष्यों पर दया करता है। जब कभी ऐसा व्यक्ति निराशा के घोर बादलों से घिर जाता है और उसको कोई मार्ग नहीं सूझता, तब ईश्वर एकदम अन्दर से आवाज़ देता है कि, 'घबराओ मत' और हाथ पकड़कर मार्ग पर डाल देता है। संसार में दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर, यदि हम नीचे ही घिसटते गये, तो इस मनुष्य-देह से लाभ ही क्या है? साधारण मनुष्य यदि तत्त्वज्ञान के अभाव में, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन जाय, तो आश्चर्य नहीं; पर विद्वान् लोग भी जब जान-बूझकर मोह-माया में फँसते रहते हैं, तब भर्तृहरि के शब्दों में हम कह सकते हैं कि:—

विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलाः।
न मुञ्चामः कामान् अहह गहनो मोहमहिमा॥

सब पापों की जड़ मोह है। मोह से ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष में फँसा हुआ मनुष्य ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर सत्पथ से विचलित हो जाता है। यह संसार कितना विकट है! संसारी जनों के कल्याणार्थ ज्ञानी पुरुष को, विवेकी जन को, बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। जिनका हित साधने का यत्न करते हैं, वे ही स्वहिताहित को न समझकर अपने हितैषी जन पर टूट पड़ते हैं, उनको असह्य कष्ट पहुँचाते रहते हैं। पर ज्ञानी पुरुष का मार्ग ही ऐसा कठिन है कि उसको यह सब कुछ सहन करके भी रात्रि-दिन उसीकी हित-कामना में लगे रहना पड़ता है। तभी तो संसार का कल्याण होता है। ऐसे महापुरुष ही संसार के सच्चे मार्ग-दर्शक हैं। क्या तुम परोपकार करना चाहते हो? तो फिर अपनी खाल उधड़वाने के लिए तैयार रहो। क्या संयोग-वियोग के चक्र से बचना चाहते हो? यदि हाँ, तो समबुद्धि रखने का यत्न करो और द्वन्द्वातीत बनो। तात्त्विक

बात यह है कि यदि पुरुष तैयार रहे, तो संयोग की अपेक्षा वियोग ही अधिक सुखप्रद होते हैं। अनुभवी जनों का अनुभव यही बतला रहा है। यह आवश्यक नहीं और संसार का यह अनुभव भी नहीं कि सब संयोग सुख ही लाते हैं या सब वियोग दुःख ही देते हैं। फिर संयोग-वियोगों से घबराने की क्या बात है? परमात्मा हम सबपर दया करें, हमको समबुद्धि रखने की सुबुद्धि दें। जिसको एक बार थोड़ा-सा भी समबुद्धि का आनन्द मिलेगा और जो मानापमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ—इन द्वन्द्वों को पार करेगा, उसके आनन्द का क्या पारावार! उसके लिए सदैव, सब अवस्था में आनन्द-कोष खुला ही समझिए। आनन्दमय भगवान् का वरद हस्त सदैव उसके सिर पर बना रहेगा।

[२]

'मोक्ष' भी क्या बला है, जिसके लिए प्राणिमात्र लालायित रहता है? ऋषि-मुनियों ने इस मोक्ष के विषय में बहुत-कुछ प्रकाश डाला है। मोक्ष में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होती है या नहीं—इस विषय में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन सन्देह में हैं। यदि अत्यन्त दुःख-निवृति ही मोक्ष है तो फिर उसके लिए 'सांख्य' के शब्दों में अत्यन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यदि अत्यन्त दुःख-निवृत्ति ही मोक्ष है तो फिर वहाँ से लौटने की बात व्यर्थ है। स्वामीजी तो लौट आना मानते हैं; वेदान्ती लौट आना नहीं मानते।

यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते।
न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते॥

चाहे किसी मुक्तात्मा को लौट आना पड़ता हो या नहीं, मोक्ष की इच्छा सबको है। चाहे वह तदनुरूप अत्यन्त पुरुषार्थ करता रहता है या नहीं—यह और बात है। हमारे इतिहास-

पुराण मुमुक्षुजनों की गाथाओं से भरे पड़े हैं। यह मोक्ष एक जन्म-साध्य नहीं अपितु अनेक जन्म-परिश्रम-साध्य है। कौन प्राणी है जो दुःखों से नहीं घबराता? कौन प्राणी है जिसको जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा अच्छा नहीं लगता? कौन प्राणी है जिसको मृत्यु का भय नहीं सताता? योगिजन भी इस 'अभिनिवेश'=मृत्यु के भय से तङ्ग रहते हैं, साधारण पुरुष की तो क्या ही कथा?

यदि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है तो फिर सबसे प्रथम यह सोचना चाहिए कि दुःखों का आदि मूल कारण क्या है। न्याय-वैशेषिक के शब्दों में दुःख का कारण है 'मिथ्या ज्ञान'। सांख्य-योग के शब्दों में कारण है 'अविद्या'। वेदान्तियों के शब्दों में 'माया'। पूर्व मीमांसाकार के शब्दों में 'कर्म'। शब्द चाहे भिन्न-भिन्न हों सबका तात्पर्यार्थ अथवा मथितार्थ एक ही है। यदि कर्म-वासना अनादि है—पता नहीं कब से चली आ रही है—तो समझ लेना चाहिए कि दुःखों की बुनियाद भी वहीं से है। इसीलिए अल्पज्ञ जीव बार-बार मिथ्या ज्ञान में फँसता है; अनन्त काल तक किसी न किसी प्रकार का अज्ञान इसको लगा ही रहता है; अविद्या इसको घेरे ही रहती है; माया अपना जाल बिछाये ही रखती है; कर्म-बन्धन इसके पीछे पड़े ही रहते हैं। इन सबसे छुटकारा पाना—इतना छुटकारा पाना कि अनन्त काल तक ये फिर पीछा न कर सकें—यही मोक्ष है। जो लौट आना नहीं मानते—बात तो केवल मानने-न मानने की है—और जो लौट आना मानते हैं, दोनों अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति की बात मानते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति की बात को पहले तो अच्छी तरह समझना, फिर उनके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करना अत्यन्त कठिन है।

'योगदर्शन' के मनन से पता चलता है कि जन्म-परम्परा की कर्म-वासनाओं की कैसी विचित्र लीला है—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार वासनाएँ किस प्रकार तङ्ग करती रहती हैं ! वेदान्त-भाष्य भी जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की लीला का सुन्दर दिग्दर्शन कराते हैं। जब हम उनपर विचार करते हैं, मन घबरा जाता है, बुद्धि चकरा जाती है। यह जड़ कर्म चेतन आत्मा को किस तरह तङ्ग करके जन्म-मरण के बन्धन में डालकर फिराते रहते हैं—यह एक अनुभव करने की बात है। योगिजन ही योग-द्वारा पूर्व जन्म-कथा को जानकर कर्माशय को जड़ से निर्मूल करने में समर्थ हो सकते हैं।

यदि साधारण मनुष्य भी अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त जान सकते होते तो अनेक प्राणियों के परस्पर सम्बन्ध, पुराकालीन राग-द्वेषादि की कथा जानकर क्या-क्या उपद्रव कर डालते—भगवान् जाने ! यह भगवान् ने ठीक ही किया कि साधारण जन पूर्व जन्म-कथा जान नहीं सकते। यदि जान सकते तो संसार साक्षात् नरक हो जाता; क्योंकि पूर्व जन्म की बातों को जानकर आत्मोद्धार करनेवाले व्यक्ति विरले ही रहते और पुरातन राग-द्वेष की बातों को जानकर वैमनस्य की मात्रा जन-समुदाय में और भी बढ़ जाती। यह भी अच्छा ही है कि योगिजन भी बड़े साधनों के पश्चात् अपनी पूर्व कथाओं को जान पाते हैं। इतनी विवेचना के पश्चात् प्रश्न यह है कि दुःख कैसे दूर होगा ? दुःख दूर होगा मिथ्याज्ञान, अज्ञान के दूर होने से। दुःख दूर होगा अविद्या के मिटने से। मिथ्याज्ञान, अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान के दूर होने से मनुष्य के दोष अर्थात् राग-द्वेष-मोह दूर होंगे, इनके दूर होने से कुप्रवृत्तियों का अन्त होगा, इनके अन्त होने से जन्म-मरण के बन्धन दूर होंगे। फिर दुःख कहाँ ? दुःख नहीं तो फिर मोक्ष ही है।

मोक्ष में किस प्रकार का अनुभव होता है—इसको तो वही आत्माएँ अनुभव कर सकती हैं जो मोक्ष-सुख को प्राप्त करती हैं; किन्तु यह बात सत्य है कि वह आनन्द सांसारिक आनन्दों से सर्वथा भिन्न है। 'सुख' शब्द से उसका भान नहीं हो सकता। केवल 'दुःखाभाव' अथवा 'अत्यन्त दुःखाभाव' कहने से भी कुछ बोध नहीं हो सकता। उसको जो जानता है, वह कह नहीं सकता। वह तो 'गूँगे का गुड़' है। मनुष्यों का आनन्द, देवों का आनन्द, पितरों का आनन्द इत्यादि आनन्दों से वह आनन्द सर्वथा पृथक् है। हम सांसारिक जनों को साधारण दुःखों के छुटकारे से इतना बड़ा आनन्द मिलता है, तो त्रिविध दुःखों से मुक्त होनेवाली आत्मा को कितना आनन्द मिलता होगा—इसका त्रैराशिक कोई लगा सके तो लगा ले। हम तो उसकी कल्पना करने में भी असमर्थ हैं।

वैदिक शब्दों में विषयों के बन्धनों से मुक्त होकर इन्द्रिय-जय द्वारा निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने का नाम 'स्वाराज्य' है। इहलौकिक स्वतन्त्रता का नाम 'स्वराज्य' है। केवल एक मात्रा का भेद किन्तु दोनों शब्दों के अर्थों में महदन्तर है। मोक्ष भी कई प्रकार से मिल सकता है।

संसार छोड़कर ध्यान-योग द्वारा (उपनिषद्, योग)
संसार में रहकर कर्म-योग द्वारा (गीता)
संसार में रहकर अस्पर्श योग द्वारा (गौड़पाद)
संसार में रहकर—ईश्वर प्रणिधान (योग)
अत्यन्त पुरुषार्थ द्वारा (सांख्य)
माया के पञ्जे से निकलकर (वेदान्त)
अज्ञान, मिथ्याज्ञान को हटाकर (न्याय-वैशेषिक)
सत्कर्मों द्वारा, सत्कर्म करते-करते ऊपर उठना (पूर्वमीमांसा)

एक सिद्धान्त यह भी है (गीता) कि ज्ञान से ही मोक्ष होता

है। दूसरा सिद्धान्त कर्म से ही मोक्ष का है। जैसे पक्षी दो पङ्खों से ऊपर उड़ता है, जैसे गाड़ी दो पहियों के आश्रय से चलती है, इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के आश्रय से काम चलेगा। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जायगा वैसे-वैसे निचले कर्म छूटते जायँगे और अन्त में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के साथ ही सब कर्म विलीन होंगे। फिर ज्ञानी पुरुष को कर्म करने की आवश्यकता ही क्या है? संसार में रहते हुए लोक-संग्रहार्थ भले ही वह कर्म करना चाहे तो करे। ऐसा पुरुष पाप-पुण्यों से ऊपर उठता है। उसको सांसारिक द्वन्द्व नहीं सताते। ऐसे पुरुष को 'द्वन्द्वातीत', 'स्थितप्रज्ञ' आदि कह सकते हैं। ऐसे ही पुरुष विदेहमुक्त हैं।

राजा जनक, भगवान् कृष्ण, जैगीषव्य आदि इसी मार्ग पर चले गये। कुछ भी हो मोक्ष की प्राप्ति का प्रश्न 'स्वेन्द्रिय-जय' के ऊपर निर्भर है, चाहे वह संसार में रहकर प्रवृत्ति-मार्ग में हो, चाहे संसार छोड़कर निवृत्ति-मार्ग में हो। मृत्यु से तरने का, जन्म-मरण के बन्धनों से छूटने का, अतिमृत्यु होने का, अमृत-पुत्र कहलानेवालों के लिए सच्चे अर्थों में अमृत बनने का, यही मार्ग है। यह इन्द्रिय-जय इह लोक और परलोक दोनों का साधक है। पहले 'स्वराज्य' का अर्थ है अपने इन्द्रियों का राज्य अर्थात् 'इन्द्रिय-जय'। फिर यही इन्द्रिय-जय बढ़ते-बढ़ते 'स्वाराज्य' (मोक्ष) की ओर ले जायगा।

[३]

'अर्थ' शब्द में जितनी करामात है उतनी शायद न 'धर्म' शब्द में है, न 'कर्म' शब्द में, न 'मोक्ष' में, न 'काम' में। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबके अर्थ का समावेश 'अर्थ' शब्द में आ जाता है। संसार में आने का प्रयोजन है धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति। यदि इन चारों में से 'अर्थ' निकाल लिया जाय, तो

शेष तीनों बन नहीं सकते। 'स्व' के साथ जुड़ते ही 'अर्थ' 'स्वार्थ' हो जाता है। 'पर' के साथ जुड़ते ही 'परार्थ' हो जाता है। यही 'अर्थ' विपरीत पड़ने से 'अनर्थ' हो जाता है। इसी-लिए भगवान् शङ्कराचार्य 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' पर बहुत ज़ोर देते हैं और कहते हैं कि सदैव अर्थ-अनर्थ पर दृष्टि रखो। कौटिल्याचार्य धर्म का मूल अर्थ को बतलाते हैं। यदि धर्म से संसार के सब पदार्थ मिल सकते हैं, यदि धर्म से मोक्ष तक मिल सकता है और 'अर्थ' धर्म का मूल है तो 'अर्थ' ही सब कुछ हुआ। संसारी जनों का 'अर्थ' ही परमेश्वर है, 'अर्थ' ही सब कुछ हैं। यदि संसारिजन के पास अर्थ न हो तो वह परमेश्वर और परमार्थ को भी कुछ नहीं समझता। और दूसरी ओर अर्थ हो तो वह परमार्थ और परमात्मा की भी परवाह नहीं करता—इतना विलीन या मलिन हो जाता है।

१ पहले हो अर्थ; २ फिर बने स्वार्थ; ३ फिर सधे परमार्थ।

यह संसारिजनों के सूत्र हैं। इनकी व्याख्या करना ऐसा ही है जैसे संसार भर की व्याख्या करना। जो लोग दूसरों को कष्ट दिये विना, अभिद्रोह के विना, स्वार्थ साध लेते हैं वे पुरुष भले हैं। जो पुरुष स्वार्थ को ऊपर उठाते-उठाते परार्थ को ही स्वार्थ बना लेते हैं, वे धन्य हैं। पर जो पुरुष अपना स्वार्थ भी नहीं साधते और परार्थ में बाधा डालते हैं, उनका वह बाधा डालना ही स्वार्थ बन जाता है और ऐसी प्रवृत्ति के लोग राक्षसी प्रवृत्ति के लोग होते हैं। गीता में स्थान-स्थान पर 'अनभिद्रोहेण भूतानां' की बात कही गई है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि संसार में सब काम करते हुए अनभिद्रोह का सदैव ध्यान रखे। फिर वह पुरुष सुखी रह सकेगा। फिर उसका आत्मा ऊपर उठ सकेगा।

यस्तु सर्वाणि भूतन्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ यजु० ४०-६ ॥

जो पुरुष समस्त भूतस्थ आत्माओं को अपनी आत्मा के सदृश जानता है, वह फिर अर्थ-अनर्थ के चक्र में नहीं फँसता—'महाभारत' में 'आनृशंस्य' बतलाया है। यह भी अनभिद्रोह का सुन्दर मार्ग है। हम जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों से चाहते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार दूसरों से करते रहना और अपने साथ जिस प्रकार का बर्त्ताव नहीं चाहते, उस प्रकार का बर्त्ताव दूसरों से न करना—यही अर्थ-अनर्थ से बचने का, अनभिद्रोह का मार्ग है। वैशेषिक दर्शन में 'अर्थ' शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म लिये गये हैं। यदि इसकी शास्त्रीय परिभाषा छोड़ दी जाय और सांसारिक अर्थ किया जाय, तो यह कहते बनेगा कि जिसके पास चाहे वह व्यक्ति हो, जाति हो, राष्ट्र हो, द्रव्य, गुण, कर्म अर्थात् सत्पुरुषार्थ न हो, वह व्यक्ति, वह जाति, वह राष्ट्र किसी काम का नहीं, उसकी संसार में सत्ता ही नहीं, महत्ता क्योंकर हो। उस व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की अभिव्यक्ति ही वृथा है। क्योंकि संसार के सब कार्य द्रव्य, गुण, कर्म पर निर्भर रहते हैं—इस सिद्धान्त को कौन नहीं मानेगा? निरुक्तकार ने 'अर्थ' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'अर्थः कस्मादर्त्तेः। रिच्यते प्रयतः।' अर्थ क्यों? इसलिए कि मरने के पश्चात् वह पीछे ही पड़ा रह जाता है, साथ नहीं जाता, परलोक में साथ नहीं देता। यहीं पीछे रह जाता है। जो वस्तु परलोक तक नहीं जाती, शरीर के छूटते ही पीछे छूट जाती है, जो नश्वर अर्थ यदि विपरीत पड़ जाय तो अनर्थ करे, ऐसी वस्तु के पीछे संसार कितना पड़ा रहता है और उस परमात्मा को जिसके द्वारा समस्त संसार के पदार्थ बनते हैं, किस प्रकार भूलता है—यह एक देखने की बात है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि मनुष्य के पास अर्थ हो और उसका धर्मानुकूल प्रयोग हो, तो लोक और परलोक साधने में वह एक साधन बन जाता है; पर जब उसका सम्बन्ध धर्म से छूट-कर स्वतन्त्र हो जाता है, तब वह जो कुछ अनर्थ करे, वह थोड़ा है। इसीलिए 'वित्तैषणा' को छोड़ने का विधान है। जब 'अर्थ' स्वतन्त्र होकर नङ्गा नाच नाचने लगता है, तब वह सब कुछ बिगाड़ देता है। इसलिए अर्थ का प्रयोग अनभिद्रोह-युक्त स्वार्थ अथवा परार्थ की ओर करते रहना चाहिए। जब देश के पुण्य से यह अर्थ देश में ही रह जाता है, तब वह देश की समृद्धि का कारण होता है और जब वह बाहर निकल जाता है, पराये हाथ में फँस जाता है, तब वह दासता और पराधीनता के रूप में हमारा ही नाश करता रहता है। जिसने 'अर्थ' के यथार्थ 'अर्थ' को समझ लिया, वह फिर अनर्थों में कभी नहीं फँसता—कभी नहीं फँसता। जब यह अर्थ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष के पीछे चलता है, तब व्यक्तियों की क्या कथा, बड़े-बड़े राष्ट्रों को नष्ट कर डालता है। भारतवर्ष का अर्थ छिन गया, सात समुद्र पार गया, इसलिए भारतवासियों के स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ सब नष्ट हो गये। इसी अर्थ की प्राप्ति के लिए आज-कल भारतवर्ष उद्योगपर्व में लग रहा है। अर्थ हो तो धर्म बने। धर्म हो तो अर्थ बने। धर्म-अर्थ दोनों हों तो काम अर्थात् सांसारिक पदार्थों की पूर्त्ति हो। धर्म-अर्थ-काम तीनों यथा-प्रमाण हों तो मोक्ष बने। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों का झमेला इतना विचित्र है कि क्या कोई समझावे और क्या कोई समझे। यह भी एक झमेला ही है कि धर्म करने पर भी 'अर्थ' नहीं मिलता। प्रायः सरस्वती के भक्त, हमारे-जैसे लोग श्री के कृपा-पात्र नहीं होते। लक्ष्मी-पुत्र सरस्वती से

घबराते हैं। इसलिए मानना पड़ता है कि विद्या के भाग्य और अर्थ अर्थात् धन के भाग्य पृथक्-पृथक् होते हैं। संसार में प्रतिक्षण यही अनुभव मिल रहा है। जो पुण्यात्मा सरस्वती व लक्ष्मी दोनों के कृपा-पात्र हैं—बहुत विरले ही मिलते हैं; उनको देखकर प्रमुदित होना चाहिए। उसको उनकी तपस्या का अपूर्व फल समझना चाहिए। तत्त्व तो यह है कि मनुष्य नामक प्राणी कर्म-बन्धनानुसार इह लोक में फल भुगतने व उनको भुगतकर हो सके तो फिर बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए है। जो संसार में आकर, फँसकर इसी चक्र में फँसे रहते हैं, उनकी दशा अनुकम्पनीय है। जो आकर, सम्हलकर, भुगतकर, इस भूल-भुलैयाँ से पार निकल जाते हैं, वे धन्य हैं। इसलिए संसार में आकर धर्मोपार्जन करना चाहिए, अर्थ का सदुपयोग करना चाहिए, परोपकार में संलग्न रहना चाहिए, अनभिद्रोह-पूर्वक स्वार्थ साधना चाहिए। काम-वासनाओं में अर्थात् तृष्णा के पीछे नहीं मरना चाहिए। मनुष्य-जन्म का उद्देश्य सांसारिक वासनाओं में फँसने का नहीं, अपितु कर्मफलानुसार संसार-यात्रा को समाप्त करके कहीं आगे—ऊँचे स्थल पर जाने का है, जहाँ पहुँचकर संसार, सांसारिक सुख तुच्छ दिखलाई पड़ते हैं और जहाँ पहुँचकर आनन्दमय पुरुष के दिव्य दर्शन हो जाते हैं।

३—भक्ति की टटोल में

जब हम मूर्त्तिपूजक थे, हमारे घर में जब मूर्त्तिपूजा हुआ करती थी, तब बड़े-बूढ़ों की बात को देखते हुए हम भी (तब हम अबोध बालक थे) अपने अभीष्ट देव 'विष्णु' की घण्टों तक पूजा करते थे। तब हम पूने में थे। पूजा-अर्चा में घण्टों लग जाया करते थे। इष्ट देवता को स्नानादि कराकर 'नैवेद्यं समर्पयामि' तक जिस भक्ति-भाव से समय कटता था, वह हमको अब तक याद है। पाठकों को हम यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा वंश कट्टर वैष्णव धर्म का अनुयायी और माध्व-सम्प्रदायी रहा है। हमारे पूज्य पिता स्व० श्री राबसाहब पण्डित श्रीनिवासराव यद्यपि स्व० पण्डित लेखरामजी के सत्सङ्ग से सामाजिक विचार के हो गये थे, तथापि उन्होंने अपने कुलाचार को कदापि नहीं छोड़ा। उनमें केवल इतना ही अन्तर पड़ गया था कि घर के पूजा-पाठ और आचार-विचार और पद्धति में वे कोई दखल नहीं देते थे। हमारी माता श्रीमती कृष्णाबाई हद दर्जे की कट्टर विचार की थीं। अन्त समय तक वह अपने विचारों में दृढ़ रहीं। कभी भी पूजा-पाठ बन्द नहीं हुआ। सारांश पूज्य पिताजी घर की बातों में दखल नहीं देते थे और श्री माताजी श्रीपिताजी के काम में दखल नहीं देती थीं। इस तरह हमारे घर में दुहरा धर्म चलता रहा। घर में कट्टर सनातन धर्म और घर से बाहर आर्य समाज।

भक्तियुग से तर्कयुग में

श्री पिताजी ने दक्षिण से एकदम हमको उत्तर में भेज दिया और तब से हमारा कोमल मस्तिष्क तर्क युग के वायु-

मण्डल से प्रभावित होने लगा और होते-होते जिस प्रकार बड़े होते गये, सामाजिक कट्टर तर्कशास्त्रियों से पाला पड़ा, तब यह भान होने लगा कि भक्ति और तर्क दोनों का एक साथ रहना असम्भव है और अनुभव ने इस बात की पुष्टि भी की। धीरे-धीरे मूर्त्ति छूटी, मूर्त्ति-पूजा छूटी, वैष्णव धर्म और माध्व-सम्प्रदाय छूटा और दर्पण लेकर जो देखा तो हमको स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि हममें घोर परिवर्त्तन हो गया है। हम निरापद सरल 'भक्ति-मार्ग' से निकलकर सापद कण्टक-मय 'तर्क-मार्ग' में आ गये। अब काट में आनन्द आने लगा। परदेश में होने से हम सर्वथा अपनी कौटुम्बिक परिस्थिति से दूर हो गये, सर्वथा एक नये वायु-मण्डल में हमारी लालना-पालना, पोषणा-धारणा होने लगी। थोड़े काल पश्चात् पूज्य माता चल बसीं—प्रेम का एकमात्र सहारा टूटा। थोड़े वर्ष पश्चात् पिता जी दिवङ्गत हुए—यह भी छत्रच्छाया दूर हुई। अब हम अकेले रह गये। एक बार अपने सब इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों से मिलने देश गये थे, तो हमारे पूज्य मामाजी ने हम-से प्रश्न किया।

प्र०—तुम अद्वैतवादी तो नहीं हुए ?

उ०—नहीं।

प्र०—सच कहो, तुम शाङ्कर मत को तो नहीं मानते ? सुना है उत्तर में शाङ्कर मत का ज़ोर है।

उ०—नहीं।

प्र०—ख़बरदार, यदि अद्वैत के फन्दे में पड़े तो !

उ०—मैं फन्दे में पड़ूँ या न पड़ूँ, संसार तो शङ्कर-फ़िलासफ़ी पर लट्टू है।

वहाँ से चलते समय उन्होंने माध्व-सम्प्रदाय का भाष्य दिया और कहा कि इसीका मनन करना। हमने कहा कि

पहले से ही हमने इसको पढ़ा है और आपकी आज्ञा का ध्यान रखूँगा। इस प्रकार के कट्टर टाइप के हमारे मामाजी थे। इधर उत्तर में वृन्दावन को छोड़कर शायद ही कहीं माध्व-सम्प्रदायी वैष्णव हों।

हम निखिलतन्त्र स्वतन्त्र

अब घर की ओर से हमको रोक-टोक करनेवाला कोई नहीं रहा। इधर पढ़-लिखकर समझदार हो गये थे। उधर तर्क-युग ने दिमाग़ बदल दिया था। फिर क्या था, तर्क के बल पर हम लोगों को दिक़ करने लगे। किसी ने ज़रा बात की कि झट काट की—इसीमें आनन्द आने लगा। हम मानते हैं कि उस समय हमारी बातों में सत्-तर्क की अपेक्षा मिश्रित तर्क ही अधिक रहा करता था और लोग हमसे दिक़ हुआ करते थे। जब हम पूरे समझदार हुए, तब समाज में शास्त्रार्थ-युग बड़े वेग पर था। जिधर देखो, उधर शास्त्रार्थों की धूम-धाम रहती थी। शास्त्रार्थ के नाम पर बात-बात में सहस्रों लोग एकत्रित हो जाते थे। ख़ूब तर्क-कुतर्क-वितर्क हुआ करते थे। हार-जीत का प्रश्न प्रमुख रहता था। इन शास्त्रार्थों में वितण्डा का भाग अधिक रहा करता था—अब हमें यह प्रतीत हो रहा है। उस समय तो हम भी पाँच सवारों में गिने-माने जाते थे। उस समय का हमारा अज्ञान देखिए, इटावा-निवासी स्व० श्री पं० भीमसेनजी शर्मा के पीछे-पीछे बीस ग्रामों में गये कि इनसे शास्त्रार्थ हो जाय। भला विद्वत्ता की दृष्टि से देखा जाता तो कहाँ श्री पं० भीमसेनजी और कहाँ अबोध हम! पर तर्क-युग का भूत हमारे सिर पर चढ़ा हुआ था। हम तर्कान्ध हो रहे थे। जा सिरसा (रोहतक) पछाड़ पं० देवदत्त को, जा मुरादाबाद हरा पं० ज्वालाप्रसाद को, चल गुहावर झपट सनातनियों की ओर, चल सहारनपुर लिपट पं० छाजूराम के

साथ—एक तूफ़ान था! इस समय तो हमको यह सब अज्ञान-सा प्रतीत हो रहा है। फिर समाज में यह शास्त्रार्थ-युग कुछ ढीला पड़ गया और जिस प्रकार हमारे ज्ञान-कणों में वृद्धि होती गई हम भर्तृहरि के निम्नलिखित श्लोकार्ध को अनुभव करने लगे। हमारा मन अपने से ग्लानि करने लग गया कि शास्त्रार्थ के नाम पर हमने कितनों का निरादर किया; तर्क के नाम पर किस प्रकार कुतर्क चलाया; विजय-लालसा से हमने कितनों के चित्तों को दुखाया। भर्तृहरि ने क्या ही अच्छा कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मुझे चार अक्षर आते थे, तब मैं मदान्ध हाथी की तरह झूमता रहा। तब मैंने समझा कि मेरे-जैसा कौन है। पर जब धीरे-धीरे बड़े-बूढ़ों का सङ्ग हुआ, विद्वानों की चरण-रज को माथे पर लगाने का अवसर मिला, उनसे थोड़ा-थोड़ा यथार्थ ज्ञान मिलने लगा, तब मैंने समझा कि ओ हो! मैं तो नितान्त मूढ़ हूँ। मेरा मद ज्वर की तरह एकदम उतर ही तो गया।

जब मैं ग्वालियर, काशी, कलकत्ता, नदिया गया, फिर कुछ वर्ष पश्चात् काञ्ची आदि भी देख आया, तब मैं समझ सका कि विद्वत्ता क्या बला होती है। केवल इस बात का दुःख रहता रहा कि ऐसे धुरन्धर विद्वान् भी किसी-किसी विषय में आँखें मूँदकर चलते हैं, सतर्कता से काम नहीं लेते, युग-रूप बनकर संसार को मार्ग नहीं दिखाते। अन्यथा इन विद्वानों की तितिक्षा, विद्वत्ता, शान्ति, धर्मभीरुता देखकर मैं मुग्ध रह जाता था। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं स्वतन्त्र वृत्ति का हो गया था। मेरे मन में प्रकाश पड़ रहा था कि असली

धर्म वाद-विवाद की वस्तु नहीं है। वह जय-पराजय अथवा मानापमान की वस्तु नहीं है। वह वितण्डा अथवा घोर तर्क की भी वस्तु नहीं है। वह किसीसे घृणा करने वा किसीके उपहास करने की भी वस्तु नहीं है। धर्म तो वहाँ ठीक बैठता है, वहाँ ठीक चलता है, वहाँ सुख पहुँचाता है, जहाँ भक्ति और तर्क दोनों एक साथ रहते हों। तर्क-शून्य भक्ति तो यदाकदाचित्, यथाकथंचित् थोड़ा-बहुत आनन्द देती भी है, पर भक्ति-शून्य कोरा तर्क किसी काम का नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में स्पष्ट कहा है कि वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और हो भी कैसे ? वहाँ पहुँचकर जब आनन्द में ग़ोते लगते होंगे—अपने को तो इस विषय का अनुभव नहीं—तब तर्क उस आनन्द-सागर में डूबने के भय से अपने प्राण बचाकर भाग जाता होगा।

संसारी जनों के लिए भक्तिमार्ग आवश्यक

मैं वर्षों के अनुभव के पश्चात्, गीता का बार-बार मनन करने और संसारी जनों की दशा देखने के पश्चात् यह बात समझ सका कि किसी प्रकार के कर्म में लगे हुए अज्ञानियों में बुद्धि-भेद क्यों न डालना चाहिए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ (गीता ३-२६)

मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा। लोकमान्य तिलक बार-बार यही कहा करते थे, वह बात अनुभव से समझ में आने लगी। जब तक अज्ञ प्राणी के हाथ में एक अच्छी वस्तु न दो तब तक उसके हाथ में जो कुछ भी है, चाहे निकृष्ट है, उसको निकाल लेने का हमको कोई अधिकार नहीं है; नहीं तो वह 'उभयभ्रष्ट' होकर न इधर का रहेगा न उधर का।

जैसे पक्षी एक पङ्ख से ठीक-ठीक नहीं उड़ सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी भक्ति और ज्ञान दोनों के आश्रय से ही भवसागर को पार कर सकता है। 'ज्ञाने सर्व समाप्यते'—इस वाक्य में ज्ञान से मतलब भक्ति-शून्य ज्ञान नहीं है। ज्ञानी की भक्ति उत्तरोत्तर ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञान में मिलकर एकरूप हो जाती है; पर यह ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है, अज्ञानी नहीं। इसीलिए अज्ञानी संसारी-जन ज्ञानमार्ग की बातों को भक्तिमार्ग से प्राप्त कर लेते हैं।

भक्तिशून्य धर्म किसी काम का नहीं

किसी धर्म के कितने ही ऊँचे सिद्धान्त हों, पर जिसमें श्रद्धा-भक्ति का समावेश नहीं वह धर्म निरर्थक, निरानन्द है। यह जो आर्य-धर्म अनन्त काल से अव्याहत रूप में चला आ रहा है, आज इस गिरी दशा में भी संसार भर को धर्मक्षेत्र में 'एष आदेशः', 'एष निदेशः', 'एतदनुशासनम्'—कहने की शक्ति रखता है; वह ज्ञान के बल पर है ही, पर यह ज्ञान भी हिन्दुओं की भक्ति पर सुदृढ़ खड़ा है; नहीं तो अब तक हिन्दू-धर्म नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-विच्छिन्न, स्खलित-विस्खलित हो गया होता। हिन्दुओं की श्रद्धा-भक्ति ने ही हिन्दू-धर्म और हिन्दुओं को जीवित रखा है—यह बात निर्विवाद है। इस विषय में विद्वानों में दो विभिन्न मत हो नहीं सकते।

श्रद्धाशून्य आर्यसमाज

मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास में, (यद्यपि मैं नहीं मानता कि वह सर्वथा अन्ध-विश्वास है पर प्रायः शिक्षित-वर्ग उसको अन्ध-विश्वास कहकर हँसी उड़ाता रहता है) उनकी श्रद्धा-भक्ति में मुझे जो आनन्द आया, वह आर्यसमाज के प्रखर तर्क-युग में, किसी-किसी अंश में गृहनाशक तर्क-युग में, श्रद्धा-भक्ति-

विरहित तर्क-युग में नहीं आया। हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास ने हिन्दुओं को बनाये रखा, उनका प्राण-सर्वस्व धर्म किसी न किसी रूप में बना रहा, जिसका संशोधन हो रहा है; पर आर्य-समाज का सुजाखा विश्वास, चलता-पुर्ज़ा विश्वास, भक्तिशून्य कोरा शुष्क विश्वास, हृदयान्तस्तल में दृढ़ रूप व भावना में न रहनेवाला, ऊपर से ऊपर ही समाज-मन्दिर अथवा आर्य-गृह की चहारदीवारी के बाहर-बाहर चक्कर काटनेवाला विश्वास आर्यसमाज और वेद-शास्त्र को दृढ़ नहीं बना रहा। अन्ध-विश्वासी हिन्दुओं में वेदों के लिए प्राण देनेवाले बहुत मिल जायँगे। किन्तु तर्कशास्त्री आर्यसमाजी के सामने यदि कोई वेदों की पुस्तक का अपमान करे या उसको जला डाले तो "क्या है, पुस्तक है, जल गई सो जल गई, दूसरी मँगा लेंगे।" कहकर सन्तोष कर लेनेवाले आर्यों की संख्या कम नहीं है। श्रद्धाशून्य आर्यसमाज आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी लोगों को काटने के लिए आ रहा है। भक्ति-शून्य समाज में आकर्षण कहाँ है? मैं तो इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुओं की अनुपम, उज्ज्वल भक्ति और सिद्धान्त, समाज के—आर्य-धर्म के—दोनों का सम्मिश्रण हो तो काम बने। वह दिन आ रहा है जब कि सनातनियों का ढोला पन्थ और आर्यसमाजियों की काट खानेवाली भयङ्कर कट्टरता दोनों न रहकर एक मध्य मार्ग पर दोनों चलेंगे। चलेंगे क्या चलने लग गये हैं—देखने-वालों को स्पष्ट दीख रहा है। तब भारत का पूर्ण उद्धार होगा। तब आर्यसमाज का नाम रहे या न रहे, काम सब वही होगा, जिसको समाज चाहता है, जिसको स्वामी दयानन्द चाहते थे; पर होगा श्रद्धा के साथ, भक्ति-भाव के साथ। हिन्दुओं की श्रद्धा, विशेषतः हिन्दू ललनाओं की श्रद्धा का अक्षय्य भण्डार अव्याहत रूप में प्रवृत्त रहे, जिससे संसार अपूर्व आनन्द का

लाभ उठाता रहे। इनकी श्रद्धा को देखकर मैं कह सकता हूँ कि हिन्दू-धर्म पर कितने ही सङ्कट आवें, हिन्दू-धर्म—आर्य-धर्म मिट नहीं सकता।

हिन्दू बचे कैसे ?

जब स्वधर्म का पोषक स्वराज्य, साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य—जो कुछ कहिए हिन्दुओं के सिर पर नहीं रहा, तब हिन्दू-धर्म की रक्षा कैसे होती ? कौन और कैसे करता ? तब हमारे पुरातन पूर्वजों ने 'कौर्मीवृत्ति'=कछुये की सी अङ्ग सिकोड़कर जीने की वृत्ति स्वीकार की। उस समय जब कि चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, पर-चक्र चल रहा था, तब और क्या हो सकता था ? उस कौर्मीवृत्ति के अवसर पर काल-धर्म-वश यदि हिन्दू-धर्म की पीठ पर गर्द जम गई, तो आश्चर्य क्या ? सिर तो बचा रहा; अङ्ग-प्रत्यङ्ग तो बचे रहे। अब समय पलट गया है। हिन्दू भी अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग, सिर बाहर निकाल रहे हैं; पीठ की गर्द झाड़ रहे हैं। अब चिन्ता की कोई बात नहीं रही है।

आर्यसमाजियों की यह बहुत घातक प्रवृत्ति रही है—पर अब हर्ष का विषय है कि मिट रही है—कि हिन्दुओं से अपने आपको पृथक् करके अपने को पृथक् सिद्ध करने की चेष्टा करना। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक का यही सदुद्देश्य रहा कि समाज द्वारा हिन्दुओं को जगाकर उनके द्वारा ही संसार का कल्याण साधना। हाँ, तो मैं लिखता-लिखता किधर जा पहुँचा।

श्रद्धा-भक्ति का आवाहन

मैं भक्तिपूर्वक श्रद्धादेवी का आवाहन करता हूँ। हे भक्ति देवी, हे श्रद्धा देवी, तू कहाँ है ? आर्य-मण्डल से तू इतनी उदासीन क्यों है ? तुझे हिन्दुओं के तीर्थों में, मन्दिरों में, मठों में, गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी, श्रीकेदार, श्रीबदरीनाथ, द्वारिकाजी, रामेश्वर, जगदीशपुरी में क्यों आनन्द आ रहा है, जो सदैव वहाँ

सानन्द क्रीड़ा करती रहती हो? मदरास की त्रिपति में, राजपूताने के नाथद्वारे में, काश्मीर के अमरनाथ में, नर्मदा के उद्गम-स्थान अमरकण्टक में, लङ्का के बौद्ध मन्दिरों में, जैनियों के तीर्थों में, काशी, माया, मथुरा, गया, कामाक्षा में मैं तेरे सौम्य दर्शन कर चुका हूँ। मदूरा (मदरास), विष्णुकाञ्ची, शिव-काञ्ची, चिदम्बरम्, सुब्रह्मण्यं, त्रिचनापल्ली, श्रीरङ्गम् के गगनचुम्बी मन्दिरों में तेरा अनुपम नृत्य देख चुका हूँ। श्रद्धे! बतला तो सही तू इस आर्यसमाज से ही क्यों रूठी है? मैंने भारतवर्ष के सब स्थान देखे, सब मठ-मन्दिर देखे, सब तीर्थ फिर आया, सब जगह तेरे दर्शन हुए; पर एक आर्यसमाज ही अभागा है, जहाँ तेरे चरण नहीं आये। तेरा थोड़ा-सा भी सहारा मिले, तेरी थोड़ी-सी भी कृपा-कटाक्ष हो जाय, तो आर्यसमाज संसार भर में उथल-पुथल कर सकता है; क्रान्ति मचाकर संसार की भ्रान्ति मिटा सकता है; उत्क्रान्ति का तीव्र प्रवाह चला सकता है; संक्रान्ति के संयोग से समय-चक्र को ठीक-ठीक गति दे सकता है। श्रद्धे! चाहे थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो, एक वार तो दर्शन दे। हम तेरा स्वागत करने के लिए सद्भावपूर्वक सन्नद्ध हैं। लेखक ने श्री भगवान् व्यास के निम्नलिखित सारगर्भित वचन को अनुभव कर लिया है और उसको अब उदार धर्म में आस्था रखने और उदार बुद्धि बनाने में आनन्द आ रहा है। सङ्कुचित भाव, सङ्कुचित क्षेत्र, सङ्कुचित धर्म, सङ्कुचित आचार-विचार, सङ्कुचित मान-मर्यादा से बचकर उच्च वातावरण में उड़ने में हो अकल्पित अननुभूत आनन्द आ रहा है; क्योंकि वह श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक भक्तिदेवी के चरणों में जा पड़ा है। वही लेखक का उद्धार करेगी—ऐसा पूर्ण विश्वास है।

'धर्मे ते धीयतां बुद्धिः मनस्ते महदस्तु च।'

अष्टम गुच्छक

१—प्राचीन व नवीन सभ्यता

प्राचीन सभ्यता को मोटे शब्दों में यदि किसीकी उपमा दी जा सकती है तो वह रेलगाड़ी की, और नवीन सभ्यता को ऐसा समझना चाहिए जैसे मोटर। रेलगाड़ी में फ़र्स्ट क्लास के डब्बे होते हैं; सेकण्ड क्लास भी रहता है; थर्ड क्लास के डब्बे भी रहते हैं; दो-एक मालगाड़ी के डब्बे भी लगे रहते हैं; एक-आध पार्सल लगेज-वान भी लगा रहता है। सब पसेञ्जर, चलानेवाला ड्राइवर, निरीक्षक गार्ड एक ही समय स्टेशन से चलते हैं और निर्दिष्ट स्थल पर एक ही समय पर पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन सभ्यता सब प्रकार के लोगों को, उच्च-नीच-अधम कोटि के लोगों को, एक ही साथ लेकर चलती है और सबको एक साथ पहुँचाती है। ब्राह्मण को वेद पढ़ने-पढ़ाने से मोक्ष मिलता है; क्षत्रिय को स्वधर्म से मोक्ष मिलता है; वैश्य को वाणिज्यादि धर्मों को यथार्थ रीति से पालन करने से मोक्ष मिलता है; शूद्र को यथार्थ सेवा-भाव ही से मोक्ष साध्य है; योगिजन को अष्टाङ्ग-साधन से मोक्ष प्राप्य है। इसलिए—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

इस वाक्य पर ज़ोर दिया गया है। जो जिस धर्म में है अथवा धर्म पर है, वह फल की आकांक्षा को छोड़कर, निरीह बनकर, स्वधर्म-कर्त्तव्य को करता जाय, फिर उसको उसीसे मोक्ष-पद मिल जायगा; वह उसीसे भवसागर को तर जायगा।

हिन्दू धर्म के इस ध्येय को, आर्य-संस्कृति के इस उच्च तत्त्व को लोगों ने कम समझ पाया है। इसीलिए लोग भटकते रहते हैं; इसीलिए केवल उच्च-नीच भाव मन में लाकर परस्पर घृणा करते रहते हैं; इसीलिए लोग आत्मिक साम्यवाद को भुलाकर ऊपरी समानता के लिए मर रहे हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता ५-१८)

गीता-वाक्य के भावों को नहीं समझ रहे हैं; सम-बुद्धि के तत्त्व को नहीं जान रहे हैं। उपर्युक्त गीता-श्लोक का यह अर्थ है कि विद्या और विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ती, श्वान, चाण्डाल—इन सबमें ऊपर की आकृति-विकृति में भले ही भेद हो, किन्तु भीतर वह आत्म-तत्त्व एक ही है। इसी प्रकार सब प्राणियों में समझिए। जिसने इस आत्म-तत्त्व की बात को समझा, फिर वह किसीसे घृणा नहीं करेगा; फिर वह प्राणिमात्र के सुख-दुःख को अपना-सा समझेगा, किन्तु वाह्य व्यवहार तो सबसे अलग-अलग ही रहेगा।

इस प्रकार नानात्त्व और एकत्त्व देखने की बात को भारत के शिक्षित लोग भूल गये, इसीलिए रूस का बोल्शेविज़्म, जर्मनी का सोशियालिज़्म उनको अच्छा लगने लगा है।

नवीन सभ्यता ऐसी है, जैसे मोटर-कार। मोटर वेग से जाती है, जिसके वेग को देखकर विस्मय होता है। मोटर में बैठनेवालों को भी खूब आनन्द मिलता है, वे शीघ्र गति से इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं, किन्तु मोटर वेग से तो जाती है पर जाते-जाते पिछले आदमियों पर धूल फेंकती जाती है—इस बात को सब अनुभव करते हैं। आज-कल के रिफ़ार्मर प्रायः मोटरकार रिफ़ार्मर हैं—वे वेग से चले जाते हैं, अनुयायियों के लिए ज़रा ठहरते भी नहीं और उनपर धूल फेंकते जाते

हैं। प्राचीन रीति-नीति के सुधारक सबको साथ लेकर चलते हैं, सबको साथ लेकर पहुँचते हैं।

वे मनुष्य-स्वभाव को, त्रिगुणात्मक (सत-रज-तम) प्रकृति को खूब समझते हैं, इसीलिए अधिकार-भेद से व्यवस्था-भेद भी रखते हैं। नवीन सभ्यता मनुष्य को चुस्त और चालाक तो बना देती है; किन्तु वह उसकी आत्मा को सदैव अशान्त रखती है। प्राचीन सभ्यता में ईश्वर-विश्वास, उसकी न्याय-परायणता, कर्म-फल में दृढ़ विश्वास आदि के कारण मनुष्य की आत्मा को शान्ति मिलती रहती है। इस प्रकार की समाधान-सामिग्री न होती, तो हिन्दू-जाति कभी की मिट गई होती।

'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरेज़माँ हमारा॥"

नवीन सभ्यता धर्म को हेय (त्याज्य) समझकर छोड़ती है। वस्तुतः धर्म हेय अर्थात् छोड़ने की वस्तु नहीं है। जिसको नई सभ्यता वाले धर्म समझ बैठे हैं, वह धर्म के छिलके हैं, असली धर्म नहीं है। संसार में इस समय जितने भी झगड़े हैं, धर्म के नाम पर जितने भी कलह-अत्याचार-अनाचार आदि हो रहे हैं, वह धर्म-तत्त्व के न समझने ही के कारण हो रहे हैं। प्राचीन सभ्यता में यह विशेष बात है कि मनुष्य अथवा प्राणि-मात्र के प्रत्येक हित-सम्बन्धी बात का धर्म में समावेश है। नवीन सभ्यता ने धर्म को अङ्ग-विकल कर छोड़ा है। उनकी शिक्षा धर्म से पृथक् है, दान धर्म से पृथक् है, उनका धर्म तो केवल रविवार को कुछ काल के लिए गिरजाघर में जाकर आँखें मूँदकर कृत्रिम ध्यान की वस्तु है।

प्राचीन सभ्यता सूर्य की भाँति है, पर आश्चर्य है कि उसको छोड़ लोग गैस की लाइट को, किटसन की लाइट को देखने के

लिए दौड़ते हैं। मनुष्य का कुछ ऐसा ही स्वभाव है कि वह स्वाभाविक वस्तुओं को छोड़कर अपनी आविष्कृत नूतन कृत्रिम वस्तुओं के चमत्कार की ओर दौड़ता रहता है। प्राचीन सभ्यता दिन में स्पष्ट दीखने की वस्तु है; नूतन सभ्यता अन्धकार में दिखाई देनेवाला सिनेमा का चित्रपट है। लोग प्रकृति के निःसर्ग सौन्दर्य को छोड़कर सिनेमा के चित्रपट को क्यों पसन्द करते हैं—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। नूतन सभ्यता महँगी और कृत्रिम है।

२—लोक-परलोक

लोक और परलोक का नितान्त सम्बन्ध है। धन्य हैं वे जो लोक और परलोक साध लेते हैं। किसीका यही लोक सधता है, परलोक नहीं। किसीका परलोक सधता है, यह लोक नहीं। यह कर्मकी विचित्र अथवा गहन गति है। शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर "इह चामुत्र" (यहाँ और वहाँ) की बात कही है। वह लोक और परलोक की ही बात है। लोक और परलोक की बात सुनते ही ऐसा ख़याल होने लगता है कि एक लोक (यह संसार) है और एक हो परलोक। किन्तु वस्तुतः यह बात नहीं। यह लोक तो एक है; किन्तु परलोक में अनेक लोक-लोकान्तरों का समावेश है। कोई कर्मों द्वारा 'अन्धन्तम' लोक में जाते हैं, कोई चन्द्रलोक में जाते हैं, कोई सूर्यलोक में, कोई ब्रह्मलोक में जाते हैं। सारांश परलोक में नाना लोक-लोकान्तरों का समावेश है। उपनिषद्-वर्णित देवयान-पितृयान सूर्य-चन्द्रलोक के द्योतक हैं।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ यजु०४०-१२॥

यह तथा अन्य उपनिषदों के वाक्य 'अन्धन्तम' लोक को बतलाते हैं। जो आत्मघाती हों, वे अन्धकारमय लोकों में जाते हैं।

"यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते
न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।"

इस वाक्य से स्पष्ट है कि ब्रह्मलोक उनके लिए है, जो ब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्मज्ञ हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी कर्म-गति के अनुसार वार-वार इस लोक के जन्म-मरण के चक्र में आता है। कभी शुभ कर्मों द्वारा चन्द्रलोक की सैर करके फिर इस लोक में आता है। कभी विशेष पुण्य के कार्य करके सूर्यलोक तक धावा मार आता है; पर जो ब्रह्म में लगा रहता है, वह ब्रह्मलोक में जाकर कब तक रहता है और कब लौटता है—इस विषय पर अनेक मत हैं। एक मत यह है कि ब्रह्मलोक में पहुँचकर मुक्तात्मा कभी लौटता ही नहीं। दूसरा मत यह है कि वह ईश्वरीय प्रेरणा से संसार में आता है और जिस कार्य के निमित्त वह भेजा जाता है उसे करके लौट जाता है। तीसरा मत यह है कि जब जीव अल्पज्ञ है तब उसके सान्त शुभ कर्मों का फल अनन्त नहीं हो सकता इसलिए मुक्तावस्था से लौट आता है।

मनुष्य नामक प्राणी ने जब से उसका पूर्ण विकास हुआ है तब से बराबर इस बात के जानने का भरसक यत्न किया है कि परलोक क्या है, वे लोक कितने हैं, किस-किस कर्मवाले वहाँ जाते हैं, उनकी क्या अवस्था रहती है इत्यादि। सच्चा योगी ही लोक-लोकान्तर की गाथा को यथार्थ रूप में जानता है। इस लोक में रहनेवाला साधारण जन-समुदाय यह जानता है कि शुभ कार्यों से शुभ लोक व अशुभ कार्यों से अशुभ लोक मिलता है। इसीलिए उसकी यही अभिकांक्षा रहती है कि मरनोत्तर अच्छा लोक मिले। इसी इच्छा से वह यज्ञ, दान, तप करता रहता है। इसी इच्छा से वह पाप से बचने की चेष्टा करता है। यदि वह पाप से बच न सका तो उसके प्रायश्चित्त-रूप में अन्य पुण्य-कर्म करता है। मनुष्य को यह पूर्ण विश्वास है कि एक न एक दिन उसको इस लोक से कूच करना पड़ेगा। वह जानता है, मृत्यु सबके लिए समान

है, वह किसी का लिहाज़, पक्षपात नहीं करता। जब यहाँ से चलना अपरिहार्य है, तब मनुष्य का ध्यान परलोक की ओर रहे तो आश्चर्य ही क्या है? किन्तु ईश्वर ने भी प्रकृति को इतना आपातरम्य बना रखा है कि मनुष्य को उसकी मोहकता ही मारे डालती है। जब मनुष्य अत्यन्त दुःखी होता है, तभी उसका दूसरी ओर ध्यान जाता है; नहीं तो वह इस प्रकृति की मोहकता में ही उलझा रहता है। इसीमें उलझे रहने के कारण वह 'सत्य' को नहीं समझता है। सचाई का मुख चमकदार ढक्कन से ढका रहता है। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं उसीके लिए यह ढक्कन खुल जाता है और वह 'सत्य' स्वरूप को समझकर फिर इस संसार के झञ्झट में नहीं फँसता। ऐसा पुरुष लोक-लोकान्तरों से भी उपरत होकर केवल सच्चिदानन्द पुरुष की शरण में जाता है और अन्त में ब्रह्मानन्द का अनन्त सुख भोगता है।

३—विश्व-दर्शन

हमारे इतिहास-पुराणों में दो ही विश्व-दर्शन प्रसिद्ध हैं। महाभारत-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् अवशिष्ट कौरव व पाण्डवों को भगवान् व्यास द्वारा कराया हुआ इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों का दर्शन तथा महाभारत के आरम्भ में विषादयोग में ग्रस्त अर्जुन को श्री भगवान् कृष्ण द्वारा कराया हुआ 'आत्म-दर्शन'। आज हम श्री भगवान् व्यास द्वारा कौरव-पाण्डवों को कराये हुए "विश्वदर्शन" के विषय में दो शब्द लिखेंगे।

परलोक-विद्या-विशारदों का मत है कि हम इसी लोक में इसी जीवन में परलोक-गत इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों से बात-चीत कर सकते हैं, उनके मनोभावों को जान सकते हैं, उनके सन्देश ले सकते हैं और उन्हें सन्देश दे सकते हैं। इस विषय में उनका अव्याहत उद्योग चल रहा है। वे इस उद्देश्य की पूर्त्ति में सर्वात्मना संलग्न हैं। वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि में नाना प्रकार के पुष्ट प्रमाण उपस्थित करते रहते हैं। लेखक ने इस विषय की एक बड़ी पुस्तकमाला पढ़ी है। उस ग्रन्थमाला का नाम है—"व्हॉट विल पीपल से"— 'लोग क्या कहेंगे ?' अस्तु।

जब महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ, तब उभय पक्ष के अवशिष्ट जनों ने श्रीभगवान् व्यासजी से प्रार्थना की कि वे उनके इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों को मिला देने की कृपा करें। भगवान् व्यास ने उनकी इस प्रार्थना को स्वीकार किया और सबको गङ्गाजी पर ले गये और जल में प्रवेश करके सावधान खड़े होने की आज्ञा दी और कहा कि जब वे 'ॐ तत्सत्' कहें तभी सब गङ्गाजी में ग़ोता लगावें। सबने ऐसा ही किया और आश्चर्य की बात कि ग़ोता लगाते ही क्या देखते हैं कि उनके इष्ट-मित्र, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव सबके सब एक-एक करके

सामने आ गये हैं। फिर क्या था, सब सबसे गले लगाकर मिले। युद्ध के कारण उपस्थित हुए वियोग-जन्य दुःखों को भूल गये। पति पत्नी से मिला; भाई भाई से मिला; मित्र मित्र से मिला। उस आनन्द को कौन वर्णन कर सकता है? खूब मिलाई हुई। तब श्रीभगवान् व्यास ने सबको आदेश दिया कि वे पूर्ववत् हो जायँ। सबने उस आदेश को मान लिया। इस मिलाई का नाम विश्व-दर्शन है अर्थात् सब बिछुड़े हुए परस्पर मिले।

संसारी लोग प्रायः जहाँ आत्मा व शरीर का सम्बन्ध छूटा, तभी समझ बैठते हैं कि शरीर तो हाथ से गया किन्तु आत्मा भी गया; वह कभी नहीं मिलेगा। किन्तु जो लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानते हैं, संस्कारों की महिमा को जानते हैं, वे कभी निराश नहीं हो सकते; क्योंकि संस्कार कभी नष्ट नहीं होते। वे ही संस्कार फिर जन्म-जन्मान्तरों में बिछुड़े हुओं को कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में मिला ही देते हैं। इसलिए हमारे इष्ट-मित्र, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव जो हमको छोड़ जाते हैं वे चाहे जिस योनि में हों सर्वथा हमको भूल जाते हैं—ऐसा मानना अनुचित होगा। हाँ, मिलने तक वे प्राचीन संस्कार प्रसुप्त दशा में भले ही रहें, किन्तु साक्षात्कार होते ही फिर जाग्रत हो जाते हैं। काश कि श्रीभगवान् व्यास-जैसे महर्षि आज हमको, भारतवर्ष को, विश्व-दर्शन कराने के लिए उपस्थित होते तो फिर क्या होता—कौन कह सकता है?

भारतवर्ष में विश्व-दर्शन करानेवाले ऋषि-मुनि, महर्षियों-योगियों, अध्यात्म-विद्या-विशारदों का अभाव खल रहा है। भगवान् की अपार कृपा से भारतवर्ष में पुनरपि अध्यात्म-विद्या का प्रसार होकर उभय लोकविद् तत्त्ववेत्ताओं का प्रादुर्भाव हो—यही उस जगन्नियन्ता से प्रार्थना है।

४—वेदनिधि दयानन्द

—:o:—

स्वामी दयानन्द सच्चे अर्थों में वेदनिधि='वेदों के निधि'= वेदों के रक्षक थे। निरुक्त की परिभाषा में, धर्मशास्त्रों के शब्दों में 'निधि' वह कहलाता है जो उस विद्या की रक्षा करता है। स्वामी दयानन्द वेदों के रक्षक थे, वेदों के निधि-निधान थे। वेदों की रक्षा ही उनका परम धर्म था। उसीके उद्धारार्थ उनका जन्म हुआ। उसीके प्रचार व प्रसार में उनका जीवन समाप्त हुआ। हमारे देश में जन्म-दिन मनाने की प्रथा है, मृत्यु-दिन मनाने की नहीं। हम 'मृत्युञ्जय दयानन्द' की 'निर्वाण अर्द्ध शताब्दी' यदि इसलिए मना रहे हैं कि हम मृत्युञ्जय का पाठ पढ़ें, हम भी मृत्यु पर विजय पाना सीखें, तो अच्छी बात है। स्वामी दयानन्द ने अपने पर विजय पाई थी, इसलिए उन्होंने संसार पर भी विजय पाई। स्वामी दयानन्द ने मृत्यु पर विजय पाई थी, इसलिए वे संसार में भी विजयी हुए। उनके लिए मृत्यु ऐसी थी जैसे चोला बदलना, पुराना-फटा कपड़ा, बदलकर नया पहनना। तपोधन पुरुषों से मृत्यु भी डरता रहता है। तपोधन पुरुषों को मृत्यु भी प्यार करता रहता है। तपोधन पुरुष मृत्यु से डरता नहीं, वह तो उसका स्वागत करता है। तेजस्वी दयानन्द ने निस्तेज भारत में तेज का सञ्चार किया। तेजस्वी गुरु के निस्तेज भीरु अनुयायी संसार में क्या करना चाहते हैं? स्वामी दयानन्द के जीवन से—जन्म, जीवनकाल व मृत्यु से—एक ही ध्वनि आती रही है, वह है "तप तप तप"। स्वामी दयानन्द के प्रत्येक कार्य से एक ही ध्वनि आती रही है—"वेद वेद वेद"। 'तप' वेदों के लिए और वेद 'तप' के

लिए। वेद है तो आर्यसमाज है, आर्य-धर्म है, आर्य-संस्कृति है, वेद नहीं तो कुछ नहीं। स्वामी दयानन्द ने डाँटकर पश्चिमाभिमुखी भारतवर्ष को कहा कि

'हटो पीछे, चलो वेदों की ओर !'

क्या उनका अनुयायी आर्यसमाज उस उग्र तप को तप रहा है, जिस तप के आश्रय से संसार में उसे आर्य-संस्कृति के निवेश में प्रवेश करना है ? मैं तो 'नहीं' में ही उत्तर दूँगा। क्या आर्यसमाज में वेदों के लिए वह आस्था है, वह प्राण देने की शक्ति है, जिससे संसार वेदाभिमुख हो सके ? इसका उत्तर भी मैं 'नहीं' में ही दूँगा, क्योंकि उग्र तप होता तो इनके वेद भी तेजस्वी होते, अथवा वेद के लिए परम आस्तिक भाव रहता तो ये स्वयं उग्र तप तपते। आर्यों को अधिकतर सन्तान वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में पल रही है। आर्यों का अधिकतर धन विदेशी, अस्वाभाविक एवं अहितकर शिक्षा के प्रचार व प्रसार में व्यय हो रहा है। प्राचीन विद्योद्धारक 'गुरुकुल' नामक संस्थाओं और स्कूलों और कालेजों की संख्या, उनमें पढ़नेवाले आर्य छात्र, उनपर होनेवाले व्यय इत्यादि की तुलना करने से पता चलेगा कि आर्यों को वेदों से कितना प्रेम है ? केवल 'वेद', 'वेद' कहते अथवा रटते रहने से 'वेद' रक्षा नहीं करेंगे। जब आर्यों के बच्चे भूखे रहकर भी वेद पढ़ेंगे तब उद्धार होगा। जब आर्यों के बच्चे सांसारिक प्रलोभनों की अपेक्षा 'वेदों' की अधिक परवाह करेंगे तभी वेद आर्यों की रक्षा करेंगे। तभी वेद निस्तेज आर्यों में प्राण-सञ्चार करेंगे। जहाँ तप और वेद दोनों का अभाव हो गया हो वहाँ से बहुत आशा नहीं, वह समाज संसार का उपकार भी नहीं कर सकेगा। अब तक आर्यसमाज ने जो कुछ कार्य किया है

वह केवल प्रचारात्मक, शिक्षात्मक, कुरीतिनिवारणात्मक अथवा गृह-संशोधनात्मक कार्य किया है। वेदों की ओर उसने अच्छी तरह ध्यान नहीं दिया। अर्द्धशताब्दी में अजमेर जानेवाले आर्य यदि वहाँ से यही प्रतिज्ञा करके लौटें कि वे अपने वंश के किसी होनहार बालक को वेदाध्ययन-निमित्त ही अर्पण करेंगे तो भी लेखक अर्द्धशताब्दी को सफल समझेगा। आर्य-समाज की बागडोर प्रायः आङ्ग्ल-शिक्षित अथवा नवयुग-प्रभावित लोगों के हाथों में ही है, जो स्वयं वेद व प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में विश्वास नहीं रखते और अपने बच्चों को विदेशी शिक्षा देते रहते हैं। यह दुर्बल मनोवृत्ति ही समाज का नाश कर रही है। इस बात को आर्य जनता जितना शीघ्र अनुभव कर सके, उतना ही अच्छा है। प्राचीन शिक्षा व वेद का काम उन्हींके हाथों में हो, जिन्हें वेद में विश्वास हो। यदि आर्य-समाज ने वेद छोड़ दिया तो फिर इसकी आवश्यकता ही क्या रहेगी? इसकी स्थिति भी ब्राह्म व प्रार्थना समाज की भाँति रह जायगी। ईश्वर आर्यसमाज को अविश्वास व अश्रद्धा की खाई से बचावे, आर्यों को वेदों में श्रद्धा बढ़े, उनमें सच्चे आस्तिक भाव का सञ्चार हो—यही हार्दिक अभिलाषा है।

५—दयानन्द-निर्वाण

'निर्वाण' शब्द का अर्थ है बुझना, शान्त होना, ऐसी दशा में जाना जिससे फिर लौट न सके। आज आर्य-जनता जिस महापुरुष की निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी मना रही है वह स्वयं तो क्या बुझता, उसकी सिलगाई हुई भट्टी प्रतिदिन अधिक वेग से भभक रही है। वह शान्त भी नहीं हुआ, क्योंकि 'वेद-भाष्य को आगामी जन्म में पूरा करूँगा'—ऐसे अनेक संस्कार लेकर गया है। वह ऐसा भी नहीं गया, जो फिर लौट कर न आ सके। वह स्वयं मुक्ति तक से लौट आने के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मान व लिख गया है। उसकी मृत्यु एक विजयी की मृत्यु है अर्थात् वह मर के अमर हो गया है। क्या वह मर गया? झूठी बात। भला ऐसे महापुरुष मरा थोड़े ही करते हैं? उनका मरण भी तृतीय जन्म होता है।

'तदस्य तृतीय जन्म' [ऐतरेयोपनिषद्]

मुक्त जीव भी ईश्वर की प्रेरणा से संसार में आते हैं और विशेष उद्देश्य से आते हैं और उसको पूरा करके लौट जाते हैं। स्वामी दयानन्द विशेष उद्देश्य से आये और अपना काम कर गये। आज उनके निर्वाण-काल को पचास वर्ष होते हैं। इन पचास वर्षों में उनके अनुयायियों ने अपनी शक्ति भर उद्योग किया, ज़ोर लगाया कि संसार का उपकार हो। किन्हीं अंशों में वे सफल हुए, किन्हीं अंशों में विफल रहे। अकेले स्वामी दयानन्द ने अपने तपोविद्या-बुद्धि-बल से जो कार्य अपने जीवन-काल में किया, उसका शतांश कार्य भी इतना बड़ा आर्य-समुदाय न कर सका। उन्होंने

अपने प्रवर्त्तक की जन्म-शताब्दी मथुरा में मना ली और निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी अजमेर में मना रहे हैं। स्वामी दयानन्द का तपोबल, श्रद्धाबल, विद्याबल, बुद्धिबल विचित्र था। वेदों के लिए तो उनका जीवन ही था। ऐसा अपूर्व गुरुभक्त कि गुरु-दक्षिणा में चला संसार का उपकार करने। वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है—यह उसकी प्रबल धारणा थी। क्या हम, लोगों की ऐसी अटल धारणा है? क्या ऐसी अटल धारणा रहती तो हम यहीं पड़े रहते, जहाँ हैं? अब तक संसार में चाँदना न हो गया होता? स्वामी दयानन्द मन, वचन, कर्म से एक थे। क्या हम ऐसे हैं? होते, तो आज सर्वत्र विजय-पताका न फहरा रही होती? हम इसीलिए पूर्ण रूप से कृतकार्य न हो सके कि हमारा कार्य केवल वाचिक रहा है। वचन व कृति का मेल नहीं बैठा है। जितना बोले हैं उसका सहस्रांश भी नहीं कर सके हैं—यही कमी रही है। अस्तु; आज हम स्वामी दयानन्द के नाम पर श्रद्धा के फूल चढ़ाना चाहते हैं; क्योंकि आपकी शिक्षा-दीक्षा से ही हमारे जीवन में अद्भुत परिवर्त्तन हुआ था। आपके प्रकाश से ही हम कुछ प्रकाशित हुए हैं। हे दयानन्द, भगवन्! आप भारतवर्ष में ऐसे समय में आये जब कि आप जैसे-तेजस्वी महापुरुष की आवश्यकता थी। आपने वह अद्भुत कार्य किया, जिसकी सराहना सकल संसार मुक्तकण्ठ से कर रहा है। इसलिए हम आपके कृतज्ञ हैं, भारत आपका कृतज्ञ है, संसार आपकी बात को अब समझने लगा है और आपकी ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से देख रहा है। केवल खेद इतना ही है कि हम अनुयायी आपकी बतलाई हुई सार्वभौम कल्पना को भुलाते जा रहे हैं। हमारी दृष्टि सङ्कुचित होती जा रही है। भगवन्, इसका फल यह हुआ कि सार्वभौम वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए जिस

आर्यसमाज की सृष्टि आपने की थी, वह आर्य-समाज अन्य मतों की भाँति एक मत-सा हो चला है। भगवन्, तो भी आपका मिशन रुकेगा नहीं। आपका काम पीछे हटेगा नहीं। कोई उसको रोक सकेगा नहीं। आप कामयाब हुए, आपका मिशन कामयाब हुआ; किन्तु आपके अनुयायियों द्वारा नहीं, अपितु आपके तपोबल द्वारा। आपके अनुयायी निस्तेज अनुयायियों की भाँति स्वकर्त्तव्य को भुला बैठे हैं। इनमें तपोबल, श्रद्धाबल, विद्याबल की न्यूनता है। इनमें दिव्य सत्वगुण का अभाव है। ये रजोगुण द्वारा गृह-कलह में नष्ट हो रहे हैं। विदित नहीं आप कहाँ हैं? किन लोक-लोकान्तरों की सैर कर रहे हैं? ईश्वर हम लोगों को सुमति दें जिससे हम स्वकर्त्तव्य को समझकर उसके अनुरूप कार्य कर सकें। हे तपोनिष्ठ दयानन्द! इस समय भारतवर्ष में आप-जैसे महापुरुष की आवश्यकता फिर भास रही है। आइए, फिर अपने प्रिय भारत को उठाइए, उसकी निराशा को दूर करके आशा का सञ्चार कीजिए। इस समय भारतवर्ष अगतिक हो रहा है। इसको आध्यात्मिक ज्योति की नितान्त आवश्यकता है। अभी इसकी बौद्धिक दासता दूर नहीं हो सकी है। अभी तक यह परमुखापेक्षी ही रहा है। अभी तक इसमें आत्म-विश्वास की प्रबल मात्रा उत्पन्न नहीं हुई है। अभी इसको स्वरूप व स्वशक्ति का यथार्थ बोध नहीं हो पाया है। वैसे जग गया है, आँखें खोलकर देख भी रहा है, कभी थोड़ा-बहुत चल भी लेता है, कभी वेग से दौड़ भी लगा लेता है, पर जल्दी थक जाता है, जल्दी हिम्मत हार बैठता है। इसकी औषधि आपके पास है।

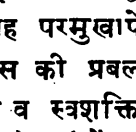

६—स्वर्गीय श्री १०८ स्वामी शुद्धबोधतीर्थ

कुलपति महाविद्यालय, ज्वालापुर

:०:

दिवसास्ते महान्तस्ते संपदस्ता क्रियाश्च ताः।
सर्वं स्मृतिपथं यातं यामो वयमपि क्षणात्॥
वातान्तर्दीपशिखालोलं जगति जीवितम्।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये॥
(योगवासिष्ठ)

श्री १०८ शुद्धबोधतीर्थजी महाराज आचार्य तथा कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर के निधन से महाविद्यालय अनाथ, आर्य-जगत् सूना और विद्वन्मण्डल उदास हो गया है। अनवरत चालीस वर्ष तक तप तथा स्वाध्याय द्वारा बराबर ऋषि-तर्पण करनेवाली मूर्त्ति अब कहाँ देखने को मिलेगी? आपके सैकड़ों शिष्य और प्रशिष्य अब किसका मुख निहारेंगे? आपने गीर्वाण-वाणी के उद्धार में अच्छे-अच्छे शास्त्र-निष्णात पण्डित तैयार करके आर्य-जगत् की शोभा बढ़ाने में जितना प्रबल प्रयत्न किया उतना किसीने नहीं किया। आप शान्त, दान्त, तितिक्षु विद्वान् थे। आप लोकैषणा से दूर रहते थे और चुपचाप ठोस कार्य करते रहने में ही प्रसन्नता प्राप्त करते थे। आडम्बर व अख़बारी दुनिया से आप बहुत घबराते थे। नवीन, प्राचीन व्याकरण-शास्त्र पर आपका पूर्ण अधिकार था। आर्य-मण्डल में आप ही अष्टाध्यायी व महाभाष्य के अद्वितीय पण्डित थे। आप

ज्योतिष-शास्त्र में भी निष्णात थे। वैद्यक-विद्या आपको पैतृक सम्पत्ति थी। बहत्तर वर्ष की पकी आयु में आपका देहावसान हुआ।

संक्षिप्त परिचय

बुलन्दशहर राजवाट के पास किसी समय एक बड़ा भारी बिल्व-वन था। यह स्थान बेला भवानी के लिए प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष यहाँ दो वार बड़े मेले लगते हैं। वर्त्तमान समय में यह स्थान बेलोन-नाम से बोला जाता है। यहीं स्वामीजी का जन्म हुआ था। आपके पिता निपुण वैद्य थे और उनका नाम था पं० हेमराज वैद्य। स्वामीजी सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपके भाई पं० कन्हैयालाल पुजारी थे।

विद्याध्ययन

स्वामीजी की बाल्यावस्था बेलोन में ही व्यतीत हुई और यहाँ के मदरसे में चौथे दर्जे तक पढ़ने के पश्चात् खुर्जा भेज दिये गये। किशोरावस्था में वहाँ पं० किशोरीलाल ज्योतिषी से व्याकरण तथा ज्योतिष पढ़ते रहे। इनमें यह दोष था कि चौथे दिन घर चले जाते थे। इनके भाई पुजारी कन्हैयालालजी इस बात से अप्रसन्न रहते थे। एक दिन उन्होंने गङ्गादत्तजी (स्वामीजी का जन्म-नाम) की मरम्मत भी की। गङ्गादत्तजी ने भाई से कहा कि मुझे काशी भेज दो। भाई ने ताना दिया—"ज़रूर-ज़रूर, काशी जाकर महाभाष्य पढ़कर आ जायगा।" गङ्गादत्त भी क्रोधी तथा मनस्वी जीव थे। उनको इतना ताना कहाँ सह्य था? बस, मौक़ा साधकर विना किसीसे पूछे ही घर से चल पड़े। पैदल ही अलीगढ़ पहुँचे। चलते-समय उनके पास केवल दो पैसे थे। अलीगढ़ से पैदल ही मथुरा गये। वहाँ श्री पं० उदयप्रकाशजी महाराज (स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी) से सवा वर्ष तक अष्टाध्यायी पढ़ते रहे। वहाँ से कभी पैदल व

कभी पैसे मिले तो रेल में, इस प्रकार काशी पहुँचे। वहाँ आठ वर्ष तक घोर परिश्रम करके नवीन तथा प्राचीन व्याकरण, वेदान्त, न्याय और ज्योतिष का अध्ययन करते रहे। घरवाले इनको बहुत बुलाते रहे, पर गङ्गादत्तजी यही कहकर टालते रहे कि "अभी महाभाष्य समाप्त नहीं हुआ।" पुजारी कन्हैयालाल जी (स्वामीजी के भाई) का देहावसान भी हो गया, किन्तु यह काशी से तब तक नहीं लौटे, जब तक महाभाष्य समाप्त नहीं हुआ और गुरुजनों ने प्रसन्नता-पूर्वक अनुमति नहीं दी।

स्वामीजी के गुरुजन

स्वामीजी के पुण्य-प्रताप से उनको गुरुजन भी ऐसे मिले थे, जो काशी में उस समय प्रसिद्ध थे। श्री ६ षट्शास्त्री पं० काशीनाथ जी (बलिया-निवासी), श्री भाष्याचार्य्य पं० हरनामदत्तजी गौड़, श्री सीतारामशास्त्री द्रविड़ नैयायिक इत्यादि स्वामीजी के गुरु थे। स्वामीजी काशी-निवास-काल में ही वहाँ अच्छे पण्डित समझे जाते थे और छात्र-वृन्द इनके पास विविध विद्याध्ययनार्थ आता रहता था। स्वामीजी जिस समय काशी में थे, तब स्वामी दर्शनानन्द (पं० कृपाराम शर्मा) वहाँ तिमिरनाशक प्रेस चलाते रहते थे। वहीं दोनों का परिचय हुआ और इसी परिचय का यह फल हुआ कि स्वामी श्रद्धानन्द (म० मुंशीराम) तथा स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती की प्रेरणा से यह सन् १८९४ ई० में जालन्धर पहुँचे।

आर्य-जगत् में प्रवेश

यहाँ आर्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब द्वारा स्थापित वैदिक आश्रम के मुख्याध्यापक बने। यहाँ तथा गुजरानवाला में मिलकर छः वर्ष रहे। फिर महात्मा मुंशीरामजी ने गुरुकुल खोलने की ठानी और सन् १९०१ में गुरुकुल काँगड़ी खुला। तब स्वामी

शुद्धबोधतीर्थ ही इसके प्रथमाचार्य थे और स्वामी श्रद्धानन्द व स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी के अकथ परिश्रम का ही यह फल था कि प्रथम पाँच वर्ष में ही गुरुकुल की धाक सर्वत्र जम गई। इन पंक्तियों के लेखक को भी स्वामीजी के शिष्यों में से एक तुच्छ शिष्य होने अथवा कहलाने का गौरव है। स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा साहित्याचार्य, स्व० पं० भीमसेन शर्मा मुख्याध्यापक महाविद्यालय ज्वालापुर भी स्वामीजी के शिष्य थे। हम सब लोग काँगड़ी में ही थे और स्वामीजी तथा म० मुंशीरामजी का हाथ बँटाते रहते थे। सन् १६०५ तक स्वामीजी गुरुकुल के आचार्य रहे, फिर वहाँ से हृषीकेश गये। वहाँ दो वर्ष तक तप तपने के पश्चात् आप स्वामी दर्शनानन्द द्वारा संस्थापित महाविद्यालय ज्वालापुर में पधारे और हम लोगों को भी यहाँ आना पड़ा। तब (१६०७) से अन्तिम दिन तक (ता० २३ सितंबर सन् १६३३ ई०) स्वामीजी ने महाविद्यालय की समुन्नति के लिए जो कुछ किया, वह सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। आपके सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य समस्त उत्तर-भारत में यत्र-तत्र देश और धर्म का कार्य कर रहे हैं।

आपने एक वार आर्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब की आज्ञा से मदरास प्रान्त का दौरा भी किया था। जब स्वामीजी महाविद्यालय में पधारे थे, तब महाविद्यालय के पास केवल तीन बीघे ज़मीन तथा ग्यारह छात्र थे। आज महाविद्यालय भारतवर्ष की नामी संस्थाओं में से एक है और निःशुल्क प्राचीन संस्कृत-विद्या का केन्द्र होने के कारण सहस्रों ग़रीब छात्रों का कल्याण कर सका है।

सन् १६१५ में आपने गोवर्द्धनपीठ (जगन्नाथपुरी) के श्री १०८ सुब्रह्मण्यदेवतीर्थ जो महाराज (पूर्वनाम श्री ६ पं० कुलयशस्वि शास्त्री) उर्फ़ पण्डितस्वामीजी से संन्यास लिया

था। संन्यास लेने पर भी आप महाविद्यालय का कार्य करते रहे। आपने अपने गुरु के आदेशानुसार कनखल-नहर के पुल के पास मुक्तिपीठ नामक एक आश्रम खोला था, जिसमें दण्डी-स्वामियों के निवासादि का सब सुभीता था। यही आश्रम अब मुरादाबाद के दण्डीस्वामी श्री १०८ गोपालतीर्थजी के नाम कर दिया गया है। स्वामीजी जून ता० २६ सन् १६०० में पञ्जाब से हरद्वार आये थे, तब से अब तक बराबर दो गुरुकुलों में कार्य करते हुए ही जीवन समाप्त हुआ। अब गुरुकुल काँगड़ी गङ्गा-पार से उठकर यहीं महाविद्यालय ज्वालापुर के पास आ गया है। दोनों गुरुकुलों की हदें आपस में सट गई हैं। सौभाग्यशाली स्वामी जी ने अन्तिम समय में दोनों गुरुकुलों को एक ही भूमि में, आपस में, सटे हुए देखा।

आर्य-जगत् में अब ऐसे शान्त, दान्त, तितिक्षु, गीर्वाणवाणी के भक्त तथा शक्ति-उपासक, यति, व्रती, विद्वान् कहाँ देखने को मिलेंगे? संसार में आकर कोई न स्थिर रहा और न रह सकेगा। सबको किसी-न-किसी दिन काल की कराल अनन्त उदर-दरी में जाना पड़ेगा। किन्तु जो पुरुष संसार का कल्याण करके चले जाते हैं, उनकी कीर्त्ति अजरामर है। आर्य-जगत् में स्वामी श्री १०८ शुद्धबोधतीर्थजी का नाम तब तक रहेगा, जब तक आर्य-जगत् जीवित रहेगा। स्वामीजी द्वारा उपकृत विद्वानों, शिष्य-प्रशिष्यों का कर्त्तव्य है कि वे स्वामीजी की इच्छा को पूर्ण करें, वे संस्कृत-विद्या के सत्र को अव्याहत-रूप में चलाये रखें। इसीसे वे अपने गुरु-ऋण से उऋण हो सकेंगे। तथास्तु।

७—दयानन्द-युग

स्वामी दयानन्द इस शताब्दी के महापुरुषों में से एक हैं। इस शताब्दी में तीन ही महापुरुष हुए हैं—स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक व महात्मा गान्धी। इन तीनों में इतना ही भेद है कि स्वामी दयानन्द आर्य-संस्कृति के विशुद्ध फल थे और लोकमान्य तिलक व महात्मा गान्धी यद्यपि आर्य-संस्कृति की गोद में जन्मे थे, तो भी इनपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा ही था। उनको पौरस्त्य व पाश्चात्य संस्कृति का मिश्रित फल कह सकते हैं। स्वामी दयानन्द को पाश्चात्य संस्कृति का सम्पर्क भी नहीं हुआ था, तो भी धार्मिक जगत् में उन्होंने केवल स्वसंस्कृति के बल पर इतना उथल-पुथल कर डाला—यह उनकी विशेष विशेषता है। स्वामी दयानन्द पौरस्त्य रीति-नीति-संस्कृति के कट्टर उपासक थे, और इसीलिए वह वेद-शास्त्रों को नहीं छोड़ सकते थे। यदि वह वेद-शास्त्रों को छोड़ देते, तो उनकी भी दशा ब्राह्म-समाज के नेताओं की सी हो जाती। उनका दृढ़ विश्वास था कि संसार में जिस धर्म में सत्य अथवा सत्यांश है, वह सब वेदों का ही उच्छिष्ट है, इसीलिए आपने वेदों के पढ़ने-पढ़ाने पर इतना बल दिया है। स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना 'संसार का उपकार'-जैसे महान् उद्देश्य से की थी। आज उस संस्थापक के निर्वाण को पचास वर्ष हो गये। उनके पीछे आर्य-समाज ने अब तक हिन्दू-समाज के संशोधन में घोर प्रयत्न किये। उसका समस्त समय शिक्षा-प्रचार, धर्म-प्रचार, कुरीति-निवारण, गृह-संशोधन में ही गया, और इस दृष्टि से मानना

पड़ेगा कि आर्य-समाज ने बहुत बड़ा कार्य किया। आर्य-समाज के संस्थापक का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि वह समाज एक मत बन जाय। आर्य-समाज द्वारा हिन्दुओं में जागृति हो, वे स्वकर्त्तव्य को समझ सकें, उनको स्वरूप का ज्ञान हो जाय, उनमें स्वधर्म, स्वकर्म, स्वशिक्षा, स्वरीति, स्वनीति का ज्ञान हो जाय और हिन्दू-धर्म पुनरपि स्वकीय उच्च आसन पर अधिरूढ़ हो जाय—बस, यही स्वामीजी की हार्दिक इच्छा थी। उनका विशेष-कार्य यही है कि उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में तर्क-युग का प्रवेश करा दिया, जिससे बौद्धिक दासता का जाल हट जाय। आर्य-समाज के इस कार्य से हिन्दुओं में अपूर्व जागृति हो गई है और यह दृढ़ आशा है कि हिन्दू अपना घर सँभालने के योग्य हो जायँगे। नहीं तो हिन्दू ऐसा लावारिस माल बन गये थे कि इसका कोई रक्षक ही नहीं रहा। जैसे खेत की रक्षा के लिए कँटीली बाड़ की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार और कुछ काल तक आर्य-समाज की भी आवश्यकता रहेगी। स्वामी दयानन्द के जीवन-काल में हिन्दुओं ने जिन बातों को स्वीकार नहीं किया था, आज पचास वर्ष पश्चात् प्रायः सभी हिन्दू उनकी सब बातों को मान गये हैं। स्वामी दयानन्द अब केवल आय-समाज अथवा केवल हिन्दुओं के ही नहीं रहे, अपितु वह जगत् के महापुरुषों में आ गये हैं। मैं तो कह सकता हूँ कि प्रायः उत्तर भारत में दयानन्द-युग का ही प्रभाव है। आर्य-समाज का सङ्गठन प्रजातन्त्र का सा सङ्गठन है और आश्चर्य है कि प्राचीनता के कट्टर उपासक व प्रवर्त्तक द्वारा धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार का सङ्गठन कैसे बना व कैसे चला? समाज में जो जागृति है, इसी सङ्गठन की वजह से है और जो दोष आ गये हैं, उनका कारण भी यही सङ्गठन है, जिसमें अज्ञ व

विज्ञ दोनों का मत तुल्य माना जाता है और कभी-कभी अज्ञों का मत विज्ञों की बात को भी नहीं मानता। वस्तुतः धार्मिक क्षेत्र में विज्ञों की ही बात मानी जानी चाहिए। एक भी विज्ञ पुरुष जिस बात को कहे, वह प्रामाणिक और सहस्र मूर्ख जिस बात को कहें, वह अप्रामाणिक होनी चाहिए। इस सङ्गठन-दोष को छोड़ दिया जाय और आर्य-समाज के सामुदायिक कार्य पर दृष्टि डाली जाय, तो मानना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द का मिशन सफल होता जा रहा है। आर्य-समाज प्राचीन धर्म, रीति-नीति, सभ्यता के पुनरुज्जीवन का अभिलाषी है। वह यह सब कार्य वेद-शास्त्र, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रथों में प्रदर्शित संस्कृति के आधार पर करना चाहता है। उसका विश्वास है कि केवल भौतिक शास्त्र पर निर्भर रहनेवाला विज्ञान-युग संसार को सुख-शान्ति व समृद्धि नहीं दे सकेगा। उसका विश्वास है कि प्राचीन संस्कृति में ही ऐसी शक्ति है कि वह संसार की जटिल-से-जटिल समस्या को सुलझाकर उसको सुख-शान्ति, समृद्धि, ऋद्धि-सिद्धि का आगार बना सके। आर्य-समाज कोई नई बात नहीं चलाना चाहता, वह कोई नया मत बनना नहीं चाहता। जैसे क्रिश्चियनों में प्रोटेस्टेन्ट अथवा कैकर हैं, इसी प्रकार हिन्दुओं में आर्य-समाजी समझिए।

जैसे गङ्गोत्तरी में गङ्गा का स्रोत निर्मल, पवित्र रहता है और उत्तरोत्तर उससे नदी-नाले मिलकर बढ़ता भी जाता तथा गँदला भी होता जाता है; यही दशा धार्मिक क्षेत्रों की है। प्रत्येक धार्मिक आन्दोलन का स्रोत निर्मल ही रहा है, किन्तु जब वह स्रोत बढ़ता गया, तब वह उसका असली स्वरूप नहीं रहा। यही सामान्य नियम समाज पर भी लागू हो रहा है। समाज का वह प्रारम्भिक स्वच्छ, पवित्र स्रोत अब कुछ दूषित होता जा रहा

है, क्योंकि आर्य-समाज में प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्थापक, धर्माचार्य बनता जाता है और कोई एक नियामक शक्ति ऊपर नहीं रही है। कोई-कोई तो यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि वेद-शास्त्रों को तिलाञ्जलि देने तक का परामर्श दे रहे हैं; यज्ञोपवीत आदि पवित्र संस्कारों को ढोंग बतला रहे हैं और स्वामी दयानन्द के लेखों से वे बातें निकालना चाहते हैं—उनके मुख से ऐसी बातें कहलवाना चाहते हैं—जिनके विषय में अपने जीवन-काल में स्वयं स्वामीजी को स्वप्न भी नहीं हुआ था! यह उच्छृङ्खल वृत्ति जितनी शीघ्र बन्द हो जाय, अच्छा है। वस्तुतः वेद-शास्त्र, स्वसंस्कृति व स्वसभ्यता को छोड़कर हिन्दू-जाति जीवित भी नहीं रह सकती। उस दशा में 'हिन्दू' नाम भले ही बना रहे, किन्तु केवल नाम से कुछ बनेगा नहीं। लेखक इस दयानन्द-युग का इसलिए स्वागत करता है कि इसने हिन्दुओं को जाग्रत अवस्था में लाने का महान् प्रयत्न किया है। इस युग ने संसार के सम्मुख हिन्दू-धर्म का उज्ज्वल स्वरूप रखा है। इस युग ने संसार के अन्य धर्मों को ललकारा है कि यदि शक्ति है, तो आओ सामने। इस युग ने पाश्चात्य सभ्यता के पैर उखाड़ दिये हैं। इस युग ने कोरे विज्ञानवादियों को, कोरे भौतिक शास्त्र के उपासकों को बतलाया है कि वे जिन बातों को मानते हैं, उससे भी ऊपर कुछ और चमत्कार है। हम इस दयानन्द-निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर श्री स्वामी दयानन्दजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं और यह ईश्वर का परम अनुग्रह समझते हैं कि स्वामीजी का जन्म भारत में तब हुआ, जब पाश्चात्य सभ्यता भारतवर्ष में पैर रखने लगी थी। स्वामी दयानन्द कार्यक्षेत्र में जब आये, तब उसके पैर जम चुके थे और भारतवर्ष पश्चिमाभिमुख होकर चकित हो रहा था। ऐसे समय केवल वेद-शास्त्र, स्वशिक्षा, स्वसंस्कृति,

स्वतपोबल के आश्रय से स्वामी दयानन्द ने पाश्चात्य सभ्यता के पैर उखाड़े। यह एक ऐसा अनुपम कार्य है, जिसके लिए भारत स्वामी दयानन्द का तब तक ऋणी रहेगा, जब तक सूर्य व चन्द्रमा संसार में रहेंगे। स्वामी दयानन्द ने जहाँ स्वधर्म का उद्धार किया, वहाँ वह देश की हीन, दीन व दयनीय दशा को दूर करके स्वराज्य के भी इच्छुक थे। केवल अन्तर इतना ही है कि उनके स्वराज्य के 'स्व'-शब्द में वैदिक समग्र के समस्त अर्थ निगूढ़ थे। आज-कल के स्वराज्य के 'स्व'-शब्द में वे सब अर्थ नहीं आते। स्वामी दयानन्द के पश्चात् भारतोद्धार का गुरुतर भार लोकमान्य राष्ट्र-सूत्रधार बाल गङ्गाधर तिलक व महात्मा गान्धी पर आ पड़ा। यह बात अच्छी हुई कि इन दोनों महापुरुषों ने स्वामी दयानन्द से धर्म के विषय में विभिन्न मत रखते हुए भी स्वसंस्कृति व स्वराज्य पर बहुत बल दिया। इसीलिए आँग्ल शिक्षा की गोद में लालित-पालित-पोषित होने पर भी वह भारतीय जन-समुदाय के हृदय-सम्राट् हुए। स्वामी दयानन्द का भारत को सन्देश था—"'स्वसंस्कृति' व 'स्वधर्म' को सँभालो।" लोकमान्य कह गये कि "स्वराज्य के विना स्वधर्म कहाँ?" महात्मा गान्धी कह रहे हैं—"सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह (जो हिन्दू-संस्कृति के प्रधान अङ्ग हैं) के विना स्वराज्य कहाँ?" सारांश यह कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित 'स्वधर्म' का आन्दोलन कभी स्वसंस्कृति के रूप में, कभी महात्माजी के सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह के रूप में चलता ही जा रहा है और हिन्दू-धर्म का सिर फिर संसार में ऊँचा उठ रहा है—यह अभिनन्दन की बात है।

८—समाज का सङ्गठन पूर्ण कब होगा ?

:o:

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्री स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में तीन सभाओं का उल्लेख किया है—राज-सभा, धर्म-सभा और विद्या-सभा। मानवधर्म-शास्त्र में भी इसका उल्लेख आया है और उसीके आधार पर स्वामीजी का विवरण है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी सोसाइटी का सङ्गठन तब तक पूर्ण नहीं होगा अथवा नहीं माना जायगा, जब तक कि उसमें उपर्युक्त तीन प्रकार की सभाएँ न हों। यदि एक भी सभा न रही, तो वह सोसाइटी मृत-तुल्य है। वस्तुतः आर्यसमाज में किसी न किसी अंश में—मानवधर्म-शास्त्र में वर्णित अथवा श्री स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित पूर्ण अर्थों में तो नहीं—विद्या-सभा और धर्म-सभा का नाम सुनाई देता है अथवा यों कहिए कि आर्यप्रतिनिधि सभाओं अथवा सार्वदेशिक सभा ने ही दोनों काम अपने हाथों में ले रखे हैं। विद्या-सभा दो प्रकार की दिखलाई पड़ रही हैं। एक तो प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के उपासकों की विद्या-सभा, जिनके अधीन भिन्न-भिन्न, गुरुकुल, विद्यालय अथवा महाविद्यालय हैं—वे सशुल्क हों अथवा निःशुल्क, इस विषय में विचार करने का यह स्थान नहीं है। दूसरे प्रकार की विद्या-सभाएँ वह हैं, जिनके अधीन ऐसी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ हैं जिनमें कुछ धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध है पर अधिकतर जिनकी शिक्षा-प्रणाली वर्त्तमान शासकों द्वारा प्रवर्त्तित पाश्चात्य ढङ्ग की है। धर्म-सभा और धर्म-प्रचार का काम आर्यप्रतिनिधि सभाएँ अथवा आर्य प्रादेशिक सभाएँ करती रहती हैं और एक प्रकार से धर्म-सभाएँ कहलाती हैं। मन्वादि वर्णित धर्म-सभा के दो प्रकार बतलाये गये हैं:—

त्रयवरा परिषद्

जिसमें तीन सदस्य होते हैं—एक ऋग्वेद का जाननेवाला, दूसरा यजुर्वेद का, तीसरा सामवेद का; अथवा तीनों सदस्य एक अथवा अनेक वेदों के विज्ञ हों। ऐसी परिषद् को ही धर्म-निर्णय करने का अधिकार है। दूसरी परिषद् का नाम है—

दशावरा परिषद्

जिसमें दश सदस्य होते हैं। तीन सदस्य तीनों वेदों के विज्ञ, एक पूर्ण विद्वान् संन्यासी, एक पूर्ण विद्वान् वानप्रस्थ, एक पूर्ण ब्रह्मचारी तथा इसी प्रकार के चार अन्य सदस्य। धर्म-संशयों को मिटाने का, धर्म-निर्णय करने का इन्हीं दो परिषदों को अधिकार था।

आर्यसमाज में भी इसी प्रकार की धर्म-सभाएँ बननी चाहिए थीं। यही शास्त्रीय पद्धति है। वर्त्तमान समय में जिस प्रकार की प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्था बन गई है, वह सच्चे अर्थों में धर्म-सभा नहीं है; क्योंकि उसमें सब प्रकार के लोगों का, अज्ञ और विज्ञों का, सम्मिश्रण रहता है और कभी-कभी बहुमत से अज्ञ-जन-समुदाय विज्ञों पर प्रभुत्व जमाकर अनर्थ करा सकता है। यह तो नित्यप्रति के अनुभव की बात है।

अब रही विद्या-सभा की बात। विद्या-सभा की बात तो सर्वथा विद्वानों की, उन-उन विषयों के विज्ञ विद्वानों की बात है। विद्या की बात विद्वानों के ही अधीन रहनी चाहिए। वहाँ अज्ञ पुरुष का क्या काम? इस विषय में आर्यसमाज की संस्थाओं ने अपनी-अपनी विद्या-सभा बनाकर अपना गौरव रख लिया है। यदि ऐसी विद्या-सभाएँ न बनी होतीं तो आर्य-समाज के शिक्षणालयों की बड़ी हानि हो जाती; फिर भी आर्यप्रतिनिधि सभाओं और अन्य सभाओं (जिनके अधीन

कि यह शिक्षणालय हैं) का प्रभुत्व इन विद्या-सभाओं पर रहता ही है। अच्छा काम तभी होगा, जब कि विद्या-सभाएँ पूर्ण स्वतन्त्र हों और सब विद्या-सभाओं पर एक केन्द्रित विद्या-महासभा हो। वर्त्तमान समय में यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

अब राज-सभा की बात लीजिए। आर्यसमाज ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। आर्यसमाज के कतिपय उत्साही पुरुषों ने 'आर्य-स्वराज्य-सभा क़ायम की थी। वह कुछ कार्य कर रही है, पर समष्टि रूप में आर्यसमाज ने न तो कभी विचार किया और न समीप भविष्य में आशा ही है।

इस एक अङ्ग के अपूर्ण रहने से आर्यसमाज संसार के सम्मुख जिस पूर्ण रूप में आना चाहिए था, नहीं आ सका। आर्यसमाज के सहस्रों व्यक्ति कांग्रेस-कार्य में भाग लेकर देश-कार्य को साध रहे हैं—यह और बात है।

आर्यसमाज व्यष्टि रूप में राज-सभा का निर्माण नहीं कर सकता—इसका और भी एक कारण है। आर्यसमाज के सञ्चालन-सूत्र प्रायः ऐसे लोगों के हाथों में हैं, जिनका हाथ किसी-न-किसी रूप में सरकार के हाथ के नीचे दब रहा है। चलो, न सही; किन्तु दूसरी ओर आर्यसमाज में आध्यात्मिकता का प्रवेश भी हुआ होता, तो भी दूसरी ओर से बहुत कार्य हो जाता। यह भी विचारणीय विषय है कि आर्यसमाज में आने-वाले लोग आध्यात्मिक जीवन बनाने की ओर रुचि क्यों नहीं रखते ? तर्क का काम तर्क ने अच्छी तरह कर दिया। अब कुछ आगे बढ़ने की आवश्यकता है। 'नैषा तर्केण मतिर पनेया'—केवल तर्क का आश्रय लेकर बुद्धि को लक्ष्य-स्थल से च्युत अथवा उससे दूर नहीं करना चाहिए।

आर्यसमाज अब रजिस्टर भरने व सभासदों की संख्या-

वृद्धि को दिखलाने का ध्यान छोड़कर यदि आध्यात्मिक जीवन की ओर ध्यान देगा, तो भविष्य में संख्या की भी कमी नहीं रहेगी। आर्यसमाज का अब तक का काम बहुत उज्ज्वल रहा है और इसका भविष्य अब तो एक ही बात पर निर्भर है और वह है 'आध्यात्मिक जीवन।' आर्यसमाज यदि समष्टि रूप से राज-सभा के निर्माण द्वारा सीधे कार्य-क्षेत्र में आ सकता, तो फिर भारतवर्ष उसीके पीछे हो लेता; क्योंकि प्राचीन अति पुरातन भावों को उद्दीप्त करने की शक्ति, 'स्व'-'पर' के तत्त्व के समझाने की शक्ति, जितनी आर्यसमाज में है, उतनी भारतवर्ष की किसी भी सोसाइटी में नहीं है। आर्य-समाज आर्य-संस्कृति का पोषक है, इसीलिए भारतीय भव्य भावनाएँ उसके साथ हैं। इतनी बड़ी संस्कृति के पृष्ठपोषक होते हुए भी यदि आर्यसमाज निर्बल रहा, तो समझ लेना चाहिए कि इसकी मशीन में कोई ख़राबी आ गई है। मैं आशा करता हूँ कि समाज के विचारशील विद्वान् इस विषय में पूर्ण विचार करेंगे और समाज के रक्षक सच्चे अर्थों में होंगे। आर्यसामाजिक कौन है? जो आर्यसमाज की रक्षा करता है वही है आर्यसामाजिक पुरुष—"आर्यसमाजं रक्षतीति आर्य-सामाजिकः"। जो पुरुष समाज की रक्षा नहीं करता वह आर्य-सामाजिक नहीं कहलाया जा सकता। असली रक्षा सच्चे अर्थों में धर्म-सभा, विद्या-सभा तथा राज-सभा स्थापन करके भारत के अभ्युदय द्वारा संसार का कल्याण साधने में ही है। संसार का उपकार करना आर्यसमाज का परम धर्म है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का मर्म धर्म-सभा, विद्या-सभा और राज-सभा में ही है। तभी आर्यसमाज का सङ्गठन पूर्ण होगा। तब तक यह अधूरी गाड़ी लुढ़कती रहेगी।

९—अजमेर की स्मृतियाँ

बहुत कम लोग जानते होंगे कि मैं कभी अजमेर में रहा हूँ। जब दक्षिणापथ से उत्तरापथ को चला था, पूने से बम्बई होकर लाहौर गया था (नवम्बर १८९४ ई०) तब अजमेर में भी ठहरा था। उस समय हमारे पिता श्री पं० श्रीनिवासराव और हम तीन भाई सब साथ थे। पातूर ज़ि० आकोला (बरार) के प्रसिद्ध रईस श्री० ठा० गोविन्दसिंहजी मनसबदार भी हमारे साथ थे। तीन दिन अजमेर में ठहरे थे। यही अजमेर का प्रथम दर्शन था। उसी समय अजमेर का दर्गाहशरीफ़, ढाई घर का झोंपड़ा, तारागढ़, पुष्कर, बूढ़ा पुष्कर, आनासागर, स्वामी दयानन्दजी की अन्त्येष्टि जहाँ हुई थी वह स्थान, डी० ए० वी० स्कूल, दयानन्द अनाथालय, वैदिक प्रेस आदि स्थान देखे थे।

डी० ए० वी० स्कूल के हेडमास्टर थे श्री० मौस्टर कन्हैयालालजी बी० ए०। वैदिक प्रेस के मैनेजर थे स्व० बा० शिवप्रसादजी। स्व० रायबहादुर श्री रामविलासजी शारदा भी वैदिक प्रेस कमेटी के प्रमुख सदस्य थे। सन् १९०० ई० के लगभग (समय ठीक याद नहीं) वैदिक प्रेस ने प्रथम-प्रथम 'शतपथ ब्राह्मण' छपाने की ठानी थी। इस कार्य के लिए जर्मनी से 'शतपथ' मँगाया गया था और वैदिक प्रेसवालों ने महात्मा मुंशीराम को लिखा था कि शतपथ के संशोधनार्थ किसी पण्डित को भेजें। महात्मा मुंशीरामजी ने स्वा० शुद्धबोधतीर्थजी (जो उस समय पं० गङ्गादत्तजी शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे व महात्माजी के सहकारी थे) से कहा व उन्हींकी प्रेरणा से मैं अजमेर वैदिक

प्रेस की हेड-संशोधकी पर पहुँचा था। यह हुए अजमेर के द्वितीय दर्शन।

मैं वहाँ लगभग एक वर्ष रहा। मुझे जहाँ अनेक ग्रन्थों के संशोधन का सौभाग्य प्राप्त हुआ वहाँ स्वामी दयानन्दजी के हस्त-लिखित ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश आदि) व उनका पत्र-व्यवहार देखने को मिला था। स्वर्गीय पं० भीमसेनजी इटावा-निवासी ने आर्यसमाज को छोड़कर जब शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया, तब मैं अजमेर से स्वामीजी का (इनके विषय का) सब पत्र-समुदाय लेकर सिकन्दराबाद पहुँचा था। वहीं पं० भीमसेनजी आ गये थे। फिर शास्त्रार्थ न हो सका, मुन्शी समर्थदानजी के भी हस्त-लिखित पत्र मैं ले गया था।

मेरे समय के अब तो वहाँ मा० कन्हैयालालजी अकेले ही विद्यमान हैं; औरों का पता नहीं। हाँ, श्री हरविलासजी शारदा भी हैं। बा० शिवप्रसादजी, पण्डित वंशीधरजी वकील, बा० रामविलासजी शारदा, बा० पद्मचन्दजी इत्यादि महानुभाव न जाने किस लोक-लोकान्तर में विराज रहे हैं। वैदिक प्रेस के उस समय के मैनेजर श्री० डाक्टर केशवदेवजी शास्त्री भी इस लोक में नहीं हैं। हाँ, दूसरे बा० केशवदेवजी गुप्त हैं जो मेरे पुराने साथी हैं। मैं जब लाहौर में पढ़ता था और वैदिक आश्रम में रहता था, तब श्री केशवदेव गुप्त भी वहाँ बोर्डर थे। मैं भूल गया मास्टर वज़ीरचन्द्रजी भी उस समय डी० ए० वी० स्कूल में मास्टर थे। अजमेर के सभी लोग मुझसे प्रेम करते थे, विशेषतः बा० रामविलासजी शारदा व बा० शिवप्रसादजी। बा० रामविलासजी ज़रा कड़े मिज़ाज के थे, पर थे सहृदय। बा० शिवप्रसादजी की मिल-जुलकर काम लेने की पद्धति प्रशंसनीय थी। वैदिक प्रेस में प्रेस सम्बन्धी कार्यों के परिचय व संशोधन-कार्य से मुझे भविष्य में बड़ी सहायता मिली। बा० पद्मचन्दजी शान्त पुरुष थे।

जब मुझे फ़ुरसत मिलती थी तब मैं तारागढ़ के नीचे उस भाग में जाया करता था, जहाँ स्वामीजी का देह-संस्कार हुआ था। वहाँ बैठे-बैठे मुझे यही ख़याल आता था कि आर्य लोग भी कैसे विचित्र हैं कि अपने गुरु, मार्ग-दर्शक, प्रवर्त्तक का एक भी उपयुक्त स्मारक न बना सके—गुरु के नाम पर एक भी विजय-स्तम्भ न खड़ा कर सके। यदि ऐसा प्रवर्त्तक अन्य धर्म में होता अथवा स्वामी दयानन्दजी अन्य देश में हुए होते तो लोग उनके नाम पर 'सुवर्ण का विजय-स्तम्भ' खड़ा करते। आर्य लोगों को यही भय रहा प्रतीत होता है कि कहीं ऐसा करने से मूर्त्तिपूजा न समझी जाने लगे। उसके पश्चात् मैं कई वर्ष पूर्व मेवाड़ की यात्रा को गया था। तब अजमेर के तृतीय दर्शन हुए। मैंने उस समय के अजमेर में व इस समय के अजमेर में बहुत अन्तर पाया। जहाँ पहले एक समाज था, वहाँ दो समाज देखे। दोनों में व्याख्यान देना पड़ा। केसरगञ्ज समाज के पुराने सब अधिकारी दूसरी समाज में मिले। अब सुन रहा हूँ एक और तीसरा समाज भी बन गया है। अस्तु; राजस्थान की वीरभूमि, मुग़ल व राजपूतों की युद्धभूमि, स्वामी दयानन्द की समाधि-भूमि अजमेर को बार-बार नमस्कार है। इस वर्त्तमान युग में अजमेर की कीर्त्ति स्वामी दयानन्द के कारण ही सर्वत्र भूमण्डल में प्रसरित है। दयानन्द-निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी में, यह पहला अवसर है कि आर्य-जनता अधिक से अधिक संख्या में एकत्रित होगी। वह एकत्रित होकर क्या करती है, वहाँ से क्या लाती है—यही एक देखने की बात होगी।

१०—जागरण

अति निद्रा तमोगुण का लक्षण है। कभी-कभी अति जागरण भी हानिप्रद होता है। जागरण के समय निद्रित होना और स्वास्थ्य के लिए उपयोगी निद्रा के समय जागरण करना भी हानिप्रद है। इसीलिए शास्त्रकारों ने अपरिहार्य समझकर यह नियम बना दिया है कि—

'रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।' (मनु)

रात्रि तो प्राणिमात्र के सोने के लिए और दिन प्राणिमात्र के काम करने के लिए है। निद्रा और जागरण का बैलेन्स ठीक होना चाहिए। यही नहीं, आहार-व्यवहार भी समतोल होने चाहिएँ, तभी स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। कोई-कोई मक्कारी से सोने का बहाना बनाकर जागते रहते हैं—यह भी ठीक नहीं है। कोई-कोई जागते हुए भी अन्ध-सदृश रहते हैं, निद्रालु-अवस्था में रहते हैं अर्थात् देखते हुए भी नहीं देखते। उनका जागना भी सोने के बराबर रहता है। ऐसे पुरुष भी दयनीय हैं।

मनुष्य की तीन दशाएँ होती हैं—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। जागृत अवस्था में मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार जगत् के धन्धों को करता रहता है। स्वप्नावस्था में (निद्रा-दशा में) दिन में अथवा कर्म-काल में मन में पड़नेवाले संस्कारों के कारण अथवा कल्पना-सृष्टि के प्रभाव के कारण अथवा अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् सात्विकी, राजसी, तामसी प्रकृति के

कारण अनेक प्रकार के स्वप्नों को देखता है। स्वप्न सब झूठे ही होते हैं, सो बात नहीं। स्वप्न सच्चे भी होते हैं, झूठे भी निकलते हैं। मन, वचन और कर्म से एक रूप में रहनेवाले महापुरुषों के स्वप्न सच्चे ही उतरते हैं। साधारण पुरुष के कोई-कोई स्वप्न ठीक व कोई-कोई मिथ्या होते हैं। वात, पित्त और कफ़-प्रकृति वाले पुरुषों के स्वप्न भिन्न-भिन्न होते हैं। वैशेषिककार ने इस विषय में सुन्दर प्रकाश डाला है।

सुषुप्ति अवस्था में तो ब्रह्मानन्द का-सा आनन्द मिलता है, कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती। ब्रह्मानन्द की उपमा सुषुप्ति से दी जाती है।

'समाधिः सुषुप्तिषु मोक्षरूपिता'—

इसी शास्त्र-वचन से यह स्पष्ट है।

आज हम निद्रा व सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं को छोड़कर केवल जागृत अवस्था पर विचार करना चाहते हैं। जब रात्रि के समय लोग सोते रहते हैं, तब 'जागते रहो' कहकर रातभर चिल्लाते रहनेवाले चौकीदारों का क्या अभिप्राय होता है?

जब ईश्वर ने सोने के लिए रात्रि बनाई, तब सोते समय निद्रा भङ्ग करनेवाले यह चौकीदार कौन होते हैं? वे लोग इतना चिल्लाते भी रहते हैं, कान भी फोड़ डालते हैं, तो भी लोग सो ही लेते हैं। चौकीदार जागते-जगाते रहते हैं तो भी चोर अपना हाथ मार ही लेते हैं। दिन-दहाड़े उपदेशक व महोपदेशक लोग श्रोतृवृन्द को जागते रहने का उपदेश देते रहते हैं, तब उनका क्या अभिप्राय होता है? जब वह कहते हैं कि क्यों सो रहे हो, तब उनका क्या मतलब रहता है? गीता-वर्णित—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २-६९)

जिस समय सब प्राणी सोते रहते हैं, तब वह संयमियों का, योगियों का जागरण का समय है और जब सब जागते हैं, तब संयमियों की वह निशा—रात्रि है। इस वाक्य का क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय यह है कि सांसारिक लोगों की जागृत-अवस्था योगियों की दृष्टि में निद्रा-तुल्य है; क्योंकि संसारी पुरुष मिथ्या प्रवृत्ति में फँसे रहते हैं। इसी तात्त्विक दृष्टि से संयमी की रात्रि व दिन संसारी लोगों की रात्रि व दिन से विभिन्न है। कर्त्तव्य-पथ पर चलते हुए जागृत रहने का अभिप्राय भी तात्त्विक दृष्टि से ही समझ लेना चाहिए।

प्रिय पाठक, मैं इस लेख को लिखते हुए प्रवाह में तत्त्वज्ञान की ओर चल पड़ा। मैं आपको इतने गहरे जल में नहीं ले जाना चाहता कि जहाँ आपके पैर ही न टिक सकें।

मैं अब आपसे सीधे शब्दों में पूछना चाहता हूँ कि क्या आप जग रहे हैं? मैं आपसे सीधे शब्दों में पूछना चाहता हूँ कि क्या आपका देश जग रहा है? क्या आपका और आपके देश की निद्रा का क्षय हो गया है? अज्ञानावस्था में पड़े रहने का नाम भी निद्रा ही है। ज्ञानावस्था में आने का नाम जागरण है। यद्यपि अति जागरण बुरा है तथापि विपत्ति के आ पड़ने पर, शुभ कृत्यों के अवसर पर, महत्त्वयुक्त बात के आ पड़ने पर, अति जागरण भी श्रेयस्कर ही है। लौकिक उक्ति भी है कि 'अमुक ने उस कार्य के करने में दिन-रात एक कर दी' इत्यादि। आप देश के लिए दिन-रात एक कर रहे हैं क्या? क्या आप उपर्युक्त प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर दे सकेंगे? मुझे दो प्रकार का उत्तर चाहिए। एक व्यक्तिगत दृष्टि का उत्तर व दूसरा समष्टिगत दृष्टि का उत्तर। क्या ऐसा तो नहीं हो रहा है कि कुछ जाग रहे हैं, कुछ सो रहे हैं, अथवा कुछ जाग रहे हैं, अधिक लोग सो रहे हैं? क्या ऐसा तो नहीं हो

रहा है कि अधिक लोग तन्द्रा में हैं, कोई सोकर जाग रहा है, कोई जागकर फिर सो रहा है ? कोई जाग रहे हैं और खिन्न हैं कि सोने वाले लोग अभी तक देश की परिस्थिति को नहीं समझ रहे हैं ? इन सब बातों पर पूर्ण विचार करके मुझे बतलाइए कि आप सो रहे हैं कि जाग रहे हैं ?

भारतीय नेता, राष्ट्रपुरुष सम्मिलित स्वर से—

'जगा दे भारत को करतार'

गा रहे हैं, तो भी असंख्य पुरुष, नर-नारी जग नहीं रहे, सो रहे हैं। इसका क्या कारण है ? ज़रा सोचो तो सही। सो रहे हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी आँखें खुली नहीं हैं, उनको दीखता नहीं है। मतलब यह है कि देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। देश के राष्ट्रपुरुष, देश के पुरोहित वैदिक शब्दों में कह रहे हैं कि जब तक ये नहीं जगते तब तक हम ही सावधान रहें, बराबर जगते-जगाते रहें, बस हम पुरोहितों का यही काम है—

'राष्ट्रे वयं जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा' (अथर्व८)

लोगो, देश के चौकोदार अति जागरण के मारे विह्वल हो रहे हैं। तुम इनपर कब दया करोगे अर्थात् कब जागोगे, जिससे वे कुछ काल तक तो विश्रान्ति का लाभ ले सकें ?

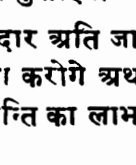

११—नवयुवकों की नासमझी

भारं वहसि दुर्बुद्धे ! गर्दभेनापि दुर्वहम्।
शिखायज्ञोपवीताभ्याम् कस्ते भारो भविष्यति ?
(शङ्कर-दिग्विजय)

शङ्कराचार्य के समय में जब कि वे एक वार मण्डनमिश्र के गृह पर गये थे तब उनको शिखा-सूत्र-विहीन देखकर मण्डनमिश्र ने उपर्युक्त वाक्य कहा था। शङ्कराचार्य संन्यस्त दशा में थे, इसलिए उनको शिखा-सूत्र की आवश्यकता नहीं थी। परस्पर शास्त्रार्थ छिड़ गया था, तब शास्त्रार्थ की गरमी में शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र को और मण्डनमिश्र ने शङ्कराचार्य को जो-जो मन में आया कह डाला। उपर्युक्त वचन संन्यास की निन्दा में है। मण्डनमिश्र ने कहा, "हे शङ्कर, दुर्बुद्धे ! अपने साथ ग्रन्थों का इतना बड़ा बोझ बाँधकर फिर रहे हो, जिसको एक गधा भी बड़ी कठिनता से उठा सकता है, फिर शिखा और सूत्र ही रख लेता तो तुझपर कौनसा बोझ बढ़ने लगा था ?"

आज-कल के कुछ नवयुवकों के लिए भी मण्डनमिश्र का वचन वर्त्तमान अर्थों में लागू हो सकता है। इनका सारा बल, इनकी सारी तर्क-शक्ति शिखा-यज्ञोपवीत के विरुद्ध लगी रहती है। अरे बाबा, जब संन्यस्त दशा में आओ, तब शिखा-सूत्र उठाकर फेंक देना; किन्तु एक ओर ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की प्रतिज्ञा करते हो, दूसरी ओर शिखा-सूत्र को तिलाञ्जलि दे रहे हो, यह क्या ? आर्य-संस्कृति में पलनेवालों की, आर्य-धर्म को संसार भर में फैलाने की इच्छा करनेवाले नवयुवकों की, यह कुचेष्टा अवश्य ही सहस्र मुख से निन्दनीय है। केवल अँगरेज़ी स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले नवयुवक, जो चौबीसों घण्टे पर-शिक्षा के प्रभाव में रहते हैं, जिनको दूसरी

ओर अपने धर्म-कर्मों की ओर देखने का अवसर नहीं है, वे यदि अज्ञान-वश ऐसा करें तो एक बार क्षम्य हो सकता है; पर स्वधर्म में रहकर स्वसंस्कृति के उद्धारार्थ स्वशिक्षणालयों में स्वदेश की जनता के व्यय से पलनेवाले नवयुवकों को इन स्वसंस्कृति के विपरीत भावों के लिए कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग कह बैठते हैं कि क्या शिखा-सूत्र की आवश्यकता है? हम पूछते हैं कि क्या शिखा-सूत्र की आवश्यकता नहीं है? फिर प्रश्न किया जाता है कि आर्य-संस्कृति में यदि शिखा-सूत्र न रहें तो क्या हानि है? इसके लिए हमारा यही उत्तर है कि प्रत्येक धर्म में जब विशेष बात के लिए दीक्षा लेनी पड़ती है तब विशेष संस्कार और विशेष पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है। आर्य-संस्कृति के उपासकों का शिखा और सूत्र—यह विशेष चिह्न है। इसकी रक्षा अवश्य होनी चाहिए। दूर से देखते ही स्वयंसेवक पहचाना जाय—इसलिए विशेष चिह्न लगाये जाते हैं। उनमें भी विशेष-विशेष अधिकारियों का पता चल जाय—इसलिए भी और विशेष चिह्न लगाये जाते हैं। इसी प्रकार शिखा के देखते ही पता चल जाता है कि यह आर्य-संस्कृत का उपासक है; यज्ञोपवीत के देखते ही पता चल जाता है कि यह द्विज है। अत्यन्त पुरातन काल से आर्य-संस्कृति के उपासकों ने अनन्त परम्परा-द्वारा इसकी रक्षा की है और संसार भर में आर्य-संस्कृति के उपासकों का यह चिह्न प्रसिद्ध हो गया है। जैसे 'आर्य' नाम प्रसिद्ध है अथवा 'हिन्दू' नाम प्रसिद्ध है, उसी प्रकार की यह बात है।

शिखा-सूत्र के विरोधी कहते हैं कि इन चिह्नों को छोड़कर और कोई नया चिह्न बनाया जाय, तो कैसा? मैं कहता हूँ फिर उसमें भी कोई आपत्ति करे और एक नया चिह्न

चलाने लगे तो क्या होगा ? जो चला-चलाया आ रहा है, वही रहे तो कैसा ? "अजी यह तो व्यर्थ का बोझ है !" अरे भोले भाई ! आठ-आठ स्लीपर, चार-चार बूटों की जोड़ियाँ, कङ्घा-शीशा और अनेक भोग-विलास की, फ़ैशन की चीज़ें साथ बाँधने, लटकाने में तुम्हें बोझ प्रतीत नहीं होता, केवल शिखा-सूत्र के पीछे हो पड़े रहते हो—यह तुम्हारी कैसी नासमझी है ?

हम तो वेद-शास्त्रों के कट्टर अनुयायी हैं; प्राचीन संस्कृति के परमोपासक हैं। हम तो उनके आधार पर चलाई हुई सब बातों को मानते हैं। तुमने यह क्या रूप बनाया है,न शिखा है न सूत्र, न तुम हिन्दू दिखलाई पड़ते हो, न मुसलमान, न ईसाई ? इस तरह न घर के रहोगे न घाट के—समझे मेरे भाई ! तुम्हारा जन्म जिस संस्कृति में हुआ, जिसमें तुम पल रहे हो, जिसके उद्धार की तुम्हें चिन्ता है, उसीके अनुसार आचार-विचार, वेष-भूषा रखो तब तो तुम्हारी उत्तमता को समझकर अन्य धर्मावलम्बी तुम्हारी संस्कृति में आना चाहेंगे, अन्यथा तुममें और उनमें भेद क्या है ? काल-चक्र के प्रभाव से, आर्य-संस्कृति के पोषक और रक्षक आर्य-पद्धति के स्वराज्य के अभाव में बहुत-कुछ नष्ट हुआ, बहुत-कुछ उलट-पलट हुआ, चिह्न-मात्र शेष रहा है, वह भी तुम छोड़े देते हो, कैसे दुःख की बात है ! स्वामी दयानन्द का उपकार कि उन्होंने ठीक मार्ग बतलाकर तुमको इस योग्य बनाया कि स्वसंस्कृति का उद्धार कर सको और इधर देखो तो तुम्हारी यह दशा ! ज़रा उन लोगों की ओर दृष्टि डालो जिन्होंने यवन-काल में स्ववेद, स्वसंस्कृति, स्वशास्त्र, स्वशिखा और यज्ञोपवीत की रक्षा के निमित्त क्या क्या कष्ट नहीं सहे। आज तुम्हें ज़रा चार अक्षर आ गये, ज़रा ज़बान खुलने लगी तो घर को ही बरबाद करने की सूझी।

'घर से बैर, अपर से नाता। ऐसी बहू मत देउ विधाता॥'

आर्यों की सन्तान और उसकी यह शोचनीय दशा! आज शिखा-सूत्र उतरे, कल वेद गये, परसों वेष गया, तरसों और कुछ हो गया, किसी दिन आर्य नाम भी गया; बस, यदि आर्य-युवकों में ऐसे युवकों की ही अधिक संख्या होती गई, स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृङ्खलता होती गई तो हो चुका संसार का उपकार! आर्यो, लपेट रखो वेदों को और शास्त्रों को, समझे!

कुछ लोग कहते हैं कि सबसे पहले स्वराज्य की चिन्ता करनी चाहिए; धर्म-कर्मों की आवश्यकता नहीं। हम पूछते हैं, स्वराज्य के लिए प्राण तक दे दो, कौन मना करता है? पर धर्म-कर्म भी सँभले रहें और स्वराज्य के लिए भी यत्न करते रहो, तो कैसा? स्वराज्य के काम के लिए तुम्हीं नहीं रहे हो! शिखा-सूत्र-धारी लो० तिलक, गोखले, रानडे, मालवीय आदि काम कर गये और कर रहे हैं, महात्मा गान्धी ने भी शिखा नहीं छोड़ी, हम भी स्वराज्य का काम कर रहे हैं। तुम यह किसी तरह सिद्ध नहीं कर सकते कि शिखा-सूत्र स्वराज्य-प्राप्ति में बाधक हैं। शिखा-सूत्र क्यों रखना चाहिए—इसके विपुल प्रमाण धर्मशास्त्रों में देखो। नये ढङ्ग से बात कर रहे हो, इसलिए नये ढङ्ग के उत्तर दे रहे हैं। इस तरह यदि तुमने शिखा-सूत्र का परित्याग किया तो पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग इनसे पृथक् जिस प्रकार नपुंसक लिङ्ग तृतीया प्रकृति होती है उस प्रकार तुम भी निराली प्रकृति के लोग कहलाये जाओगे और तुमको न हिन्दू अपनायेंगे, न आर्य, न मुसलमान, न ईसाई और न कोई और। तुम न 'हीयों' (He) में समझे जाओगे और न 'शीयों' (She) में और संसार में न्यूट्रल जेंडर (नपुंसक लिङ्ग) की कोई क़द्र नहीं होती।

१२—श्री द्विवेदीजी के साथ डेढ़ मास

जब महाविद्यालय बाल्यावस्था में था—इस बात को बारह वर्ष का एक युग माना जाय तो दो युग बीत गये—तब स्वर्गीय श्री पं० पद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से श्री द्विवेदीजी स्वास्थ्य-सुधार के लिए महाविद्यालय में पधारे थे। आप कोई डेढ़ मास तक यहीं महाविद्यालय में रहे थे। 'सरस्वती'-सम्पादक आ रहे हैं और उनको आराम कैसे पहुँचेगा—यही चिन्ता थी। उस समय महाविद्यालय में एक भी पक्का मकान नहीं था, हम सब झोंपड़ियों में ही रहते थे। श्री द्विवेदीजी आये तब वे भी प्रसन्नता-पूर्वक देवाश्रम की एक कुटिया में रहने लगे। द्विवेदीजी ने झाँसी से चलते समय तार दिया था कि, 'Reaching Jwalapur manage conveyance fifteen hours.'—मैं ज्वालापुर आ रहा हूँ, सवारी का प्रबन्ध करो, पन्द्रह बजे; अर्थात् रेलवालों की परिभाषा में तीन बजे दिन के। तार बाबू ने ऊपर के तार में 'अवर्स' की जगह 'हार्सेज़' (घोड़े) भूल में लिख लिया अथवा न जाने करेन्ट में क्या भूल रह गई कि 'अवर्स' (घण्टे) के स्थान में 'हार्सेज़' (घोड़े) लिखा गया। मैं चिन्ता में पड़ गया कि द्विवेदीजी पन्द्रह घोड़ों को लेकर क्या करेंगे ? वैसे एक सुन्दर तांगे का प्रबन्ध मैंने कर लिया था। जब द्विवेदीजी स्टेशन पर पहुँचे, तब मैंने वह तार उनको दिखाया, तो बड़े खिल-खिलाकर हँसे और तार बाबू से जाकर विनोद-पूर्वक कहा—वाह बाबूजी, खूब किया ! तार बाबू खिसियाना-सा रह गया। द्विवेदीजी का रहन-सहन सादा

था। स्वभाव के मिलनसार और विनोदी थे; इसलिए वे महाविद्यालय के परिवार में झट मिल गये, पराया भाव तनिक भी नहीं रहा। द्विवेदीजी को उन्निद्र रोग था। रात में कभी निद्रा उचट जाती, तो फिर बड़ी कठिनता से आती थी। यह रोग सम्भवतः अति विचार के कारण था। श्री द्विवेदीजी महाविद्यालय में आये, तो 'सरस्वती' का हेडक्वार्टर भी यहाँ बना। यहीं ज्ञान हुआ कि श्री द्विवेदीजी 'सरस्वती' का सम्पादन कैसे करते हैं। सब छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े लेख को आद्योपान्त सावधानी से पढ़कर उनको ठीक करना, प्रत्येक पत्र का उत्तर देना, रद्दी से रद्दी लेख को अच्छा रङ्ग-रूप देकर उसके अभिप्राय को स्थिर रखते हुए सुन्दर बनाना इत्यादि बातों में द्विवेदीजी की तुलना कोई सम्पादक न कर सकेगा।

अमेरिका तक से लेख आते थे। जब मैंने श्री द्विवेदीजी से कहा कि आप ऐसे-ऐसे रद्दी लेखों का भी स्वागत करते हैं—यह क्या बात है, तब आपने मुस्कराकर उत्तर दिया कि द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना परम धर्म है और जिन महानुभावों को बार-बार लिख-लिखकर लेख मँगाया जाता है, उनका तो आदर आवश्यक ही है। 'सरस्वती' की सफलता का रहस्य द्विवेदीजी की एकतानता में ही है। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के लिए जिस प्रकार दिन-रात एक किये, उतना परिश्रम अब कौन कर सकता है? द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' को कोई आद्योपान्त पढ़ता, तो उसे स्पष्ट भान हो जाता था कि उसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही लेखनी कहीं-न-कहीं फिर गई है। द्विवेदीजी अपनी निर्द्धारित प्रणाली, नीति-रीति के विरुद्ध 'सरस्वती' में एक शब्द भी नहीं आने देते थे। इस विषय में उन्होंने अपने प्रगाढ़ मित्रों को भी रुष्ट कर दिया; पर अपनी नीति पर अटल रहे। श्री पद्मसिंह शर्मा

की 'सतसई संहार' नामक लेख-माला एक वर्ष तक इसीलिए 'सरस्वती' के कार्यालय में पड़ी रही, न छप सकी। श्री द्विवेदीजी के पश्चात् श्रीबक्षीजी के कार्य-काल में छपी। श्री द्विवेदीजी शर्माजी की शैली में परिवर्त्तन करना चाहते थे। शर्माजी इस बात पर डटे थे कि एक अक्षर भी इधर का उधर न किया जाय—समस्त लेख-माला अविकल रूप में, जैसी लिखी गई, वैसी ही छपे। दोनों वीर अपनी-अपनी बात पर डटे रहे।

श्री द्विवेदीजी स्वाभिमानी महापुरुष हैं। कहते हैं कि महात्मा मुंशीरामजी ने द्विवेदीजी को कहीं किसी प्रसङ्ग में अभिमानी कहा अथवा लिख डाला था। बस, द्विवेदीजी महाविद्यालय में, काँगड़ी के इतने पास रहे; पर बुलावा आने पर भी नहीं गये। प्रो० रामदेव हरद्वार में इन्हें बुलाने आये थे। द्विवेदीजी ने हँसकर उत्तर दिया—'यदि मैं काँगड़ी गया, तो अभिमानी नहीं रहूँगा। एक महात्मा का वचन मिथ्या सिद्ध होगा; इसलिए नहीं जा सकता।'

श्री द्विवेदीजी प्रतिदिन ब्रह्मचारी तथा अध्यापक-वृन्द के साथ नहर की पहाड़ी पर टहलने जाते थे, तब उनके अनुभव सुनने में बड़ा आनन्द आता था। श्री द्विवेदीजी संस्कृत के भी अच्छे कवि हैं। जब लहर आती, तभी अनुष्टुप आदि छन्द बना डालते।

एक बार एक ब्रह्मचारी ने अभिवादन किया, तो उसी समय संस्कृत में आशीर्वादात्मक श्लोक कह डाला। आपका विद्याभ्यासङ्ग, वाचन प्रबल था। कौनसा विषय था, जिसपर आप प्रकाश न डाल सकते थे?

जब द्विवेदीजी ने यहाँ आने के पूर्व 'सरस्वती' में 'आर्य-लोग खेतिहर की सन्तान हैं'—इस विषय पर लेख लिखे थे, तब मैंने दो-एक लेखों में द्विवेदीजी की युक्तियों का खण्डन

किया था। जब यहाँ पधारे, तब मुस्कराकर बोले—'शास्त्रीजी, तब आपने हमारे लेखों का खण्डन किया था। अब हम स्वयं आ गये हैं, हमारा खण्डन कीजिए।" मैंने भी मुस्कराकर उत्तर दिया—'आप हमारे पूज्य अतिथि हैं। हम आपका खण्डन नहीं कर सकते।'

द्विवेदीजी डाक के मामले में बड़े पक्के रहते थे। सब डाक, डाक-विभाग के नियमानुकूल भेजते थे; क्या मजाल कि रत्ती भर भूल हो। यदि डाक-विभाग की ओर से कोई भूल रह जाती, तो उसकी भी ख़बर ले डालते। डाक-विभाग के नियम पालने में इतने सख़्त थे कि एक बार किसी मित्र के पास जूते का नाप भेजना था; अतएव आपने मित्र को लिफ़ाफ़ा अलग भेजा, जिसमें हिदायतें थीं। दूसरे लिफ़ाफ़े में नाप का धागा भेजा। मैंने कहा—यह क्यों? कहने लगे—वैसा भेजना नियम-विरुद्ध होता; इसलिए पृथक्-पृथक् भेजा गया।

एक हलकी-सी छोटी-सी तराज़ू द्विवेदीजी के साथ बराबर रहती थी। क्या मजाल कोई भूल रह जाय। सब काम नपा-तुला होता था। द्विवेदीजी का जीवन-रहस्य उनके प्रत्येक व्यवहार के नपे-तुले होने में ही है। मैं उस डेढ़ मास को कभी नहीं भूल सकता—कभी नहीं भूल सकता। यहाँ से चले जाने के पश्चात् फिर श्री द्विवेदीजी कानपुर में ही मिले थे। ता० २ मई को द्विवेदीजी का सार्वजनिक अभिनन्दन है। हिन्दी-जगत् अपनी कृतज्ञता प्रकट करेगा—यह सर्वथा उचित ही है। पुराने परिचय के नाते मैं भी श्री द्विवेदीजी का अभिनन्दन करता हुआ जगन्नियन्ता से प्रार्थना करता हूँ कि वह द्विवेदीजी की आयु को सुखकर बनाये और द्विवेदीजी से राष्ट्र तथा राष्ट्र-भाषा को अनुपम और आशातीत लाभ पहुँचे।

नवम गुच्छक

१—आर्यसमाज और प्राचीन संस्कृत-शिक्षा

[१]

आर्यसमाज का जन्म ही प्राचीन रीति-नीति, शिक्षा-दीक्षा की रक्षा के लिए हुआ था। आर्यसमाज के प्रवर्तक ने अपने जीवन-काल में, तत्पश्चात् उनके अनुयायियों ने भरसक इसी बात के लिए उद्योग किया। पहले तो आर्यसमाज के अग्रणी लोगों ने समाज-सिद्धान्तों के प्रचार की ओर ध्यान दिया था, पश्चात् यह सोचकर कि जब तक आर्यसमाज में विद्वानों की संख्या न बढ़ेगी तब तक आर्यसमाज का महान् उद्देश्य कदापि पूर्ण न हो सकेगा, गुरुकुलों का श्रीगणेश किया। उस समय यह समझा गया था कि इस प्रकार से, इस प्रणाली से, आर्य-मण्डल में विद्वानों का अभाव जाता रहेगा और आर्य-समाज की धाक बैठती जायगी। अब गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का 'परीक्षात्मक प्रयोग' जगत् के सम्मुख रखा जा चुका है। हम इस प्रणाली में अनेक अंशों में सफल हुए, अनेक अंशों में असफल भी रहे; क्योंकि हमारे नेताओं ने प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के साथ-साथ कुछ पाश्चात्य ढङ्ग की भी सामग्री जुटाई थी।

जब गुरुकुलों के पूर्व डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हुई थी, तब उस समय के अग्रेसरों का विचार था कि इसीसे सब कार्य सिद्ध हो जायगा; किन्तु यह देखकर कि वर्त्तमान व प्राचीन दोनों प्रणालियों का एक साथ चलना कठिन होगा,

उन्होंने सीधा संसार का मार्ग लिया और प्राचीन शिक्षा गौण पड़ गई। वहाँ आर्यसमाज के सिद्धान्तों की शिक्षा धर्म-शिक्षा के रूप में दी जाने लगी और शेष अंशों में सरकारी वर्त्तमान युग व पद्धति का आश्रय लिया गया। अब उस प्रणाली के छः-सात बड़े-बड़े कालेज हैं और हाईस्कूलों की तो कोई शुमार नहीं। यह हुई पञ्जाब की बात। संयुक्त प्रान्त में भी दो डी० ए० वी० कालेज हैं और एक दर्जन डी० ए० वी० स्कूल होंगे। पञ्जाब और संयुक्त प्रान्त के इन स्कूलों व कालेजों द्वारा आर्यसमाज का खूब प्रचार हुआ। इनमें शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या डेढ़ लक्ष तक पहुँच गई है। यद्यपि आर्यसमाज का प्रचार खूब हुआ, तथापि वहाँ के छात्र आँग्ल-पद्धति के प्रभाव से बच न सके; और बचते भी कैसे, जब एक ओर नाम-मात्र की धर्म-शिक्षा और दूसरी ओर पाँच-पाँच घण्टे दूसरे प्रकार की शिक्षा ? परिणाम जो होना था, वही हुआ।

जब यह दशा हुई तो प्राचीन शिक्षा के कट्टर उपासकों ने स्वामी दयानन्द-प्रदर्शित पथ के अनुसार गुरुकुल-प्रणाली का परीक्षण प्रारम्भ किया। वर्त्तमान समय में कई स्थानों में इसके प्रयोग किये गये। कई गुरुकुलों व महाविद्यालयों को इस शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग करते-करते पचीस से लेकर पैंतीस वर्ष तक हो चुके हैं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस प्रणाली से आर्यसमाज को सैकड़ों-सहस्रों नवयुवक विद्वान् तो मिलते गये, किन्तु इनमें भी प्राचीन प्रणाली के कट्टर उपासक थोड़े ही रहे—इतने थोड़े कि गिनने लगें तो दो-चार मिनट में ही नाम-निर्देश समाप्त हो जाय। इसका कारण कुछ ही हो, है यह बात सोलह आने ठीक। कहाँ तो कार्य स्वामीजी की विशुद्ध प्रणाली के अनुसार होना चाहिए था, और कहाँ उसके साथ पाश्चात्य ढङ्ग के मिलने से शिक्षा और ही रूप पकड़ गई!

जब यह दशा हुई और नई पीढ़ी के प्राचीन संस्कारों की हड़ताल हुई, तब यह ढङ्ग और भी विकृत हो गया। ब्रह्मचारी—गण प्राचीन ढङ्ग के पीछे न चल सके, किन्तु ब्रह्मचारियों की शक्ति व इच्छा और वाह्य जगत् के प्रभावानुसार ढङ्ग बदलता ही गया। वह प्राचीन अष्टाध्यायी अब कहाँ है? वह अष्टाध्यायी की तीन आवृत्तियाँ कहाँ हैं? वह सम्पूर्ण महाभाष्य की पढ़ाई कहाँ है? महाभाष्य का पठन-पाठन नवाह्निक तक सीमित रह गया है। पहले नीचे से लेकर ऊपर तक सबको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ रहती थी, अब गुरुकुलों में अष्टाध्यायी दो-दो अध्याय करके, तोड़-तोड़कर, कण्ठस्थ कराई जाती है। परिणाम यह है कि अगली श्रेणी में अगले दो अध्यायों में पहुँचने तक पिछले दो अध्यायों की सफ़ाई हो जाती है! यह है प्राचीन व्याकरण की दशा! दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तक ही पठन-पाठन सीमित है। ब्रह्मचारीगण न्याय-वैशेषिक को कठिन समझकर सांख्य-योग से ही सन्तुष्ट हो लेते हैं। वेदान्त को कोई-कोई ही लेता है। मीमांसा को तो कोई छूता भी नहीं। वेद की श्रेणी में छात्र देखो तो दो-चार और वैद्यक-श्रेणी में देखो तो पचासों! वेदालङ्कार, वेदशिरोमणि और वेदभास्करों की अपेक्षा अब आयुर्वेदालङ्कार, आयुर्वेदशिरोमणि अथवा आयुर्वेदभास्करों की अधिक भरमार रहती है। दर्शन-शास्त्र व व्याकरण-शास्त्र साधारणतया पढ़कर छोड़ दिये जाते हैं। आकर ग्रन्थों को सम्पूर्ण रूप से पढ़ने, एक विषय को पूर्ण रूप से पढ़कर उसमें निष्णात होने की चाल ही नहीं रही। पल्लवग्राही पाण्डित्य बढ़ रहा है।

आर्यसमाज-मण्डल में विद्वान् तो बढ़ रहे हैं, पर उस ढङ्ग के नहीं बन रहे हैं, जो कि आर्यसमाज के महान् उद्देश्य के अनुरूप उसका सिक्का बिठा दें। स्कूल-कालेजों से और प्रकार

के छात्र निकलें तो आश्चर्य नहीं, किन्तु प्राचीन प्रणाली के कट्टर उपासकों के शिक्षणालयों से यदि श्रद्धा-शून्य छात्र निकलें तो आश्चर्य—महदाश्चर्य की बात है व रहेगी।

बात यह होनी चाहिए थी कि गुरुकुलों में ऐसे ही ब्रह्मचारी प्रविष्ट किये जाते, जिनको सांसारिक बातों का ध्यान न होता और जिनका एक-मात्र उद्देश्य शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् शिक्षा व धर्म-प्रचार होता। तब अभीष्ट टाइप के ब्रह्मचारी मिलते। सैंकड़ों-सहस्रों ब्रह्मचारी पढ़ते-पढ़ाते, तब एक-एक विषय के पचासों अच्छे निष्णात विद्वान् मिलते। तब आर्य-समाज की रङ्गत देखते।

मुसलमान, जैन, बौद्ध बराबर अपने ढङ्ग के विद्वान् तैयार कर रहे हैं और स्व-शिक्षा के विषय में स्व-अभीष्ट-प्राप्ति में इतने अधिक सफल हुए हैं कि हम नहीं हो सके हैं। मुसलमानों का जगत्प्रसिद्ध देवबन्द का मदरसा देखकर कौन चकित न होगा? मत-भेद रहते भी केवल धर्म-प्रचारार्थ शिक्षा पानेवाले ६०० विद्यार्थियों को देखकर कौन प्रशंसा नहीं करेगा? जैनियों की मुरार (ग्वालियर) की-सी दार्शनिक पाठशालाओं को देखकर कौन प्रसन्न न होगा? लङ्का की बौद्ध पाठशालाओं के छात्रजनों की अपार श्रद्धा व गुरुजनों की स्व-ध्येय में अटूट भक्ति को देखकर कौन विस्मित न होगा? मैं जब एक बार इनपर दृष्टि डालता हूँ और दूसरी ओर आर्यसमाज के शिक्षणालयों पर दृष्टि डालता हूँ, तो विवश मुख से यही शब्द निकलते हैं—'ऊँ हूँ,अभी हममें बहुत कसर है।' वे लोग अपने सिद्धान्तग्रन्थों का, दर्शन-शास्त्रों का किस वेग से उद्धार कर रहे हैं—यह तभी समझ में आ सकेगा, जब हम उनके शिक्षणालयों को देखेंगे।

[२]

क्या आर्यसमाज में ऐसा नहीं हो सकता कि सैकड़ों-सहस्रों नवयुवक इसी उद्देश्य से घर से निकलें कि वे प्राचीन संस्कृत-शिक्षा का काम बड़े वेग से करेंगे; सहस्रों केवल व्याकरण-शास्त्र को लेकर अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा अन्य आकर ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन में ही जीवन लगा देंगे; सैकड़ों न्याय-वैशेषिक का ही अध्ययन करेंगे; कोई टीका-ग्रन्थ, कोई भाष्य, विना मथे नहीं छोड़ेंगे; इसी प्रकार सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा-शास्त्र, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, वेदों को मथ डालेंगे ? तब देखिए आर्यसमाज की शान कैसी बढ़ती है, कितनी बढ़ती है !

गुरुकुलों के द्वार ऐसे ही ब्रह्मचारियों के लिए मुक्त होने चाहिएँ। ऐसों के लिए ही भोजनाच्छादन, अन्न-वस्त्र-पुस्तकों का मुफ़्त प्रबन्ध होना चाहिए। यदि बीस वर्ष भी यह प्रकार रहा तो आर्यसमाज को किसी विषय के विद्वानों, पण्डितों की कमी नहीं रहेगी।

इस समय समस्त गुरुकुलों व महाविद्यालयों के ब्रह्मचारियों की संख्या एक सहस्र से अधिक नहीं है। इनमें भी उत्तम कोटि के सौ-डेढ़ सौ व मध्यम कोटि के कुछ सौ होंगे। शेष निकृष्ट बुद्धि के ही हैं। गुरुकुलों के प्रारम्भ के दिनों में जो आस्थावान्, श्रद्धावान् छात्र प्रविष्ट होते थे, जैसे बुद्धिमान छात्र मिलते थे, वैसे अब नहीं मिल रहे हैं। न माता-पिताओं के विशुद्ध भाव हैं, न ब्रह्मचारियों के और न गुरुकुल-सञ्चालकों के ही वैसे भाव हैं। स्कीमों में भी आकाश-पाताल का अन्तर है।

वर्त्तमान समय का ऐसा प्रभाव चल पड़ा है कि स्नातक होकर भी सरकारी परीक्षा के लिए लालायित रहते हैं। पचासों ब्रह्मचारी दशम श्रेणी तक पढ़कर बीच में ही चले जाकर स्कूलों

की शरण ले लेते हैं। कई गुरुकुलों में गुरुकुल तथा सरकारी शिक्षा-प्रणाली का मिश्रण है और फल यह है कि सरकारी परीक्षाएँ मुख्य विषय व अन्य शिक्षा गौण विषय हो बैठी हैं। यह सब अपरिहार्य था और हो गया; क्योंकि गुरुकुल ब्रह्मचारियों के पीछे चलने लगे, न कि ब्रह्मचारी गुरुकुल के पीछे-पीछे चलते। गुरुकुल संसार के पीछे-पीछे चलने लगे; संसार को प्रसन्न करना उनका उद्देश्य हो गया, न कि संसार को अपने पीछे लाना। संसार तो पीछे-पीछे तब दौड़ता, जब कि गुरुकुल उग्र तपस्या द्वारा उसको आकृष्ट करते। ड्राइङ्ग, साइन्स और इसी प्रकार के पचासों विषयों की शिक्षा-दीक्षा के लिए क्या आर्यों के अथवा सरकारी स्कूल-कालेज थोड़े हैं, जो हम अपना पैसा लगावें और दूसरों के अनुकरण में मर-मिटें?

मैं तो यह कहने के लिए तैयार हूँ कि आज-कल लोगों का यह ख़याल हुआ है कि आडम्बर के विना धन नहीं मिलता, धन के विना आडम्बर नहीं चलता, लोग नहीं खिंचते और लोगों के खिंचे विना धन नहीं मिलता; इसलिए हमारे शिक्षणालय जिस तरह भी धन आवे वही बात कहने-करने लग गये हैं। यह पतन का श्रीगणेश है। आर्यसमाज के विद्वान् से विद्वान् सञ्चालक धनियों के पीछे-पीछे लगकर "त्वं ब्रह्मा, त्वं विष्णुः, त्वमर्कः" कहकर धन-राशि के लिए गिड़गिड़ाते दिखलाई पड़ रहे हैं! शिक्षणालयों की सफलता ही उसके चन्दे व उसके वार्षिक समारोह के अवसर पर एकत्र होनेवाली धन-राशि पर निर्भर रखी गई है। जिन संस्थाओं के पास धन नहीं है, चाहे जितनी उपयोगी संस्था क्यों न हों, धनवान गुरुकुल और जनता उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहते हैं। धनवान गुरुकुलों के ब्रह्मचारी भी अन्य गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों से मिलना-जुलना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। यह सब

समय का प्रभाव है। जिस संस्था के हाथ में देखो माँगने का ठीकरा है ही। धन ही जब सफलता की कुञ्जी ठहरी, तब धन के लिए परस्पर निन्दा भी अपरिहार्य वस्तु हो गई; क्योंकि माँगने-वाले वे ही, देने वाले वे हो, लेने वाले वे ही—क्या करें? इस प्रकार आर्यजगत् के शिक्षणालय ट्रेडिङ्ग कम्पनी के रूप में विज्ञापन, धन-प्रलोभन में लगकर स्वपथ से कुछ-कुछ च्युत हो चले हैं। यह सब वाञ्छनीय न था और न है। यदि गुरुकुलों में ऐसा परिवर्त्तन किया जाय, जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, तो कायापलट हो सकता है।

कहाँ १९०८ ई० में मैंने आर्यसमाज में देखा था कि स्कूलों व कालेजों के छात्र भी श्रद्धा-पूर्वक वैसे ही अष्टाध्यायी धोखा करते थे, कहाँ यह देखा करता था कि आर्यसमाज के बड़े-बूढ़े भी अष्टाध्यायी को पवित्र पुस्तक समझकर सदैव अपने पास रखते थे, कहाँ आज वही अष्टाध्यायी, वही महाभाष्य, वही दर्शन-शास्त्र, गुरुकुलों में सङ्कट में पड़े हुए हैं। प्रायः वर्त्तमान ब्रह्मचारियों में व्याकरण-भीरु छात्रों की संख्या अधिक रहने लगी है। इन्हींके सुभीते के लिए व्याकरण-शास्त्र तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है। जब व्याकरण में जी नहीं लगता तो साहित्य की ओर दौड़ते हैं! जब वेद नहीं भाते तब आयुर्वेद की ओर झुकते हैं! क्या करें बेचारे? यह तो रही विद्याध्ययन की बात। अब लीजिए रहन-सहन की बात।

ब्रह्मचारियों का कोई तो इत्थम्भूत लक्षण होता, कोई तो विशेष वेश होता, अब तो स्कूल-कालेज वालों और गुरुकुल वालों की वेश-भूषा में कोई भेद ही नहीं। धोतियों का स्थान नीले निकर लेना चाहते हैं। पीली धोती तो गई अपना-सा मुँह ले बेचारी! महोत्सवों के तीन-चार दिनों में तो उसके दर्शन

हो जाते हैं, शेष दिन वह कहाँ रहती है—यह ईश्वर ही जाने। रहन-सहन में घोर परिवर्त्तन हो गया। इसलिए कहना पड़ेगा कि समय के प्रभाव से हमारे शिक्षणालय भी न बच सके।

हमारे शिक्षणालयों में एक और विचित्र बात आ गई है। जब प्राचीन शिक्षणालय हैं तो कम से कम इनके आचार्य संस्कृत के तो विद्वान् होते; किन्तु दो-चार गुरुकुलों को छोड़कर आचार्य प्रायः अँगरेज़ी के विद्वान् हैं। वर्त्तमान् ढङ्ग के स्कूलों व कालेजों में भी इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि उनके प्रिन्सिपल उसी ढङ्ग के हों और उसी प्रकार के विद्वान् हों, फिर आर्य-समाज के शिक्षणालयों के आचार्य संस्कृत-ज्ञान-विहीन हों—यह कितनी लज्जास्पद बात है! फिर आचार्य भी शिष्यों के चुन लेने की वस्तु है, किन्तु आज-कल आचार्य शिष्यजनों की इच्छा के विरुद्ध लादे जाते हैं। वस्तुतः गुरु-शिष्यों के बीच में किसी अन्य के आने की आवश्यकता नहीं; लेकिन वर्त्तमान ढङ्ग में गुरु-शिष्यों के बीच में कमेटियाँ आती रहती हैं; जिससे गुरु-शिष्यों में न तो विश्वास है और न प्रेम। शिष्यों को यह पता ही नहीं कि उनका आचार्य कब बदल जायगा, उनका आचार्य कब छिन जायगा; आचार्य को भरोसा ही नहीं कि वह कब तक आचार्य रहेगा। फिर बतलाइए कि 'आचार्यः पूर्वरूपम्' 'अन्तेवास्युत्तररूपम्' 'प्रवचनं सन्धानम्'—यह शिक्षोपनिषद् की बात कब पूरी उतर सकेगी और वेद-शास्त्रों का पूरा-पूरा प्रचार व प्रसार किस प्रकार पूर्ण रूप से पूरा होगा।

इन सब बातों को विज्ञ पाठकों के विचारार्थ यहीं छोड़कर नम्रता-पूर्वक अनुज्ञा लेता हूँ। क्या सब शिक्षणालयों के सञ्चालक कहीं एकत्र हो गम्भीर भाव से इसपर विचार करेंगे?

२—साम्यवाद

"परधर्मो भयावहः"

आज-कल फिर साम्यवाद की बात ज़ोरों से जनता के सम्मुख आ रही है। साम्यवाद का अर्थ क्या है और उसका प्रचार तथा प्रसार किस प्रकार होगा—इस बात का यथार्थ निरूपण जनता के सामने नहीं आया है। कोई कह रहा है, "मज़दूर और किसानों का राज"—यही साम्यवाद है। कांग्रेस के भीतर भी एक साम्यवादी दल बड़े वेग से उठ रहा है। वह सर्वत्र अपनी शाखाओं को स्थापित करने की चिन्ता में है। जिसमें किसान व मज़दूर दो ही वर्ग सन्तुष्ट रहें, शेष को दुःखी रहना पड़े, वह साम्यवाद कैसा ?

अनुभव बतला रहा है कि यह साम्यवाद की पुकार अधिकतर आङ्ग्ल-शिक्षित लोगों की पुकार है। जिनको अभी अँगरेज़ी की गन्ध भी नहीं लगी, उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि यह साम्यवाद कैसा है। सब एकसा खावें, सब एकसा पीवें, सब एकसी पहनें, सबके पास एकसा धन हो, एकसी सामग्री हो—ऐसा साम्यवाद, अथवा रूस से कुछ अंशों में उधार लिया हुआ साम्यवाद—ऊपर-ऊपर से मन को भानेवाला—मन को लुभानेवाला—साम्यवाद, अभी लोगों की समझ में नहीं आ रहा है। क्योंकि, भारतवर्ष के लोग ईश्वरीय न्याय में अटल विश्वास रखते हैं, कर्म-फल में पूरा भरोसा रखते हैं, प्रारब्ध अथवा दैव को पूर्ण रूप से मानते हैं—इन तीन बातों के कारण ऊपरी समानता का साम्यवाद लोगों की समझ में नहीं आ रहा है।

यह खेद से कहना अथवा लिखना पड़ेगा कि मज़दूर-किसानों के राज्य की बात वे कह रहे हैं, जिनको ग्रामों तक जाने का अवकाश नहीं, जिनको मोटर के विना सरता नहीं, होटलों के विना भोजन अच्छा नहीं लगता।

इस ऊपरी साम्यवाद के प्रचार से भीतरी साम्यवाद का प्रचार अच्छा, जिससे भारत का सब दुःख मिट सकेगा। सबमें आत्मा एक-जैसी है, सबके सुख-दुःख लगभग एक-जैसे हैं, इसलिए इस प्रकार साम्यवाद का प्रचार करने से बाहर के विषम स्वरूप का बहुत-कुछ प्रतिकार हो सकेगा। राष्ट्र जब आत्मिक समानता का अनुभव करेगा, तब विषमता का स्वरूप स्वयं बदल जायगा। उसमें किसीको भला-बुरा कहने, किसीको कोसते रहने अथवा किसीसे छीना-झपटी करने का प्रश्न ही नहीं रहता।

रूसी साम्यवाद अभी कढ़ाई में चढ़ा हुआ है, तलकर निकले, तब जानें। रूसी साम्यवाद अभी कई वार ढलेगा, तब इसका स्वरूप समझ में आवेगा। रूसी साम्यवाद अभी परीक्षण-दशा में है। जो बात अभी पूर्ण योग्यता और गुणों में वर-वधू के रूप से उसी देश के लोगों को नहीं रुची, उसीका यहाँ अनुकरण कहाँ तक श्रेय है—यह विचारणीय विषय है।

सब एकसा खावें, पीवें, पहनें, सबके पास एकसा धन तथा साधन-सामिग्री हो—यह बात भले ही मन लुभानेवाली हो, पर ऐसा होना असम्भव है। इसलिए आर्य-संस्कृति का एक मुख्य अङ्ग जो आत्मिक समानता है, उसका ज़ोर से प्रचार और प्रसार होना चाहिए। सबके सुख में सबका सुख, सबके दुःख में सबका दुःख—यह भावना जागृत करनी चाहिए। यह भावना जागृत तभी होगी जब कि भीतरी साम्यवाद का प्रचार तथा प्रसार हो।

यह क्या साम्यवाद है, जिसमें मज़दूरों व किसानों का राज्य हो, किन्तु धनिकों व उच्च वर्गों का नाश हो ? साम्यवाद वह है, जिसमें अमीर-ग़रीब सब समान दुःख-सुखका अनुभव करें। जब यह अन्तर्भावना उत्पन्न हो जायगी तब किसीके पास लाख रुपये हुए तो क्या और किसीके पास एक पाई भी न हुई तो क्या! वह भीतरी अन्तर्भावना स्वयं मजबूर करेगी कि किसीके कारण कोई दुःखी न हो, किसीके कारण किसी पर अत्याचार न हो। प्रचार होना चाहिए समबुद्धि का। फिर जब जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, उसका आदान-प्रदान स्वयं चलेगा और अमीर-ग़रीब अपने स्थान में रहते हुए भी समान रूप से सुखी-दुःखी रहेंगे।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ यजु०४०-६॥

यदि धनिकों और पूँजीपतियों का अत्याचार गया और उसके स्थान में ग़रीबों का अत्याचार आया तो बात क्या हुई? ऊपरी साम्यवाद आत्मविहीन लोगों की बातें हैं। ऊपरी साम्यवाद केवल भौतिक दृष्टि रखनेवालों की बात है। आत्म-तत्त्व-विहीन कोरा ऊपरी साम्यवाद भारत में चल नहीं सकेगा।

३—क्या आर्यसमाज में विवेक है ?

सच्चे समाज के लक्षण

आर्यसमाज में प्रतिदिन अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ताओं की संख्या घटती जा रही है और नवीन उत्साही कार्यकर्त्ता, प्रचारक, उपदेशक, पण्डित नहीं आते। इसका मुख्य कारण यह है कि आर्य-जगत् में "सब धान बाईस पसेरी" का हिसाब चल पड़ा है। सङ्गठन ऐसा विचित्र है कि अज्ञ से अज्ञ व विज्ञ से विज्ञ पुरुषों की सम्मति तुल्य मानी जाती है। इसी कारण से केवल वैदिक धर्म की सेवा की बुद्धि से काम करनेवाले पुरुष को यही पता नहीं चलता कि उसको कब काम छोड़ना पड़ेगा। उसको प्रायः अपने से अयोग्य अधिकारी के नीचे काम करना पड़ता है। मनस्वी पुरुष या तो अपनी मनस्विता को तिलाञ्जलि देकर रह सकता है, नहीं तो उसको अपनी जीविका का कोई अन्य स्वतन्त्र उपाय सोचना पड़ता है। वेतन-भोगी सामाजिक पुरुष की तो बड़ी दुर्गति है। इसके विपरीत आनरेरी होने के नाम अधिकारी तथा पचासों सज्जन बड़े-बड़े अनर्थ कर डालते हैं, रुपये-पैसे डकार जाते हैं, मन-माना खेल रचते हैं, पर उनकी ओर अंगुलिनिर्देश करने की किसीको हिम्मत नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति ईमानदार वेतन-भोगी सेवक को अपेक्षा आदर-योग्य समझे जाते हैं। सर्वत्र दल की दल-दल होने के कारण कोई भी पुरुष तटस्थ रहकर कठिनता से काम कर सकता है। यदि ज़रा भी किसी पक्ष की ओर झुकाव हुआ तो दूसरा पक्ष किसी समय प्रबल होकर सूद-सहित बदला लेने की ठानता है। इसीलिए विज्ञ पुरुषों की राय होती

जाती है कि समाज का वैतनिक सेवक नहीं बनना चाहिए। जीविका के लिए समाज पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। स्वतन्त्र रीति से अपना निर्वाह करना चाहिए और थोड़ी-बहुत जो कुछ बन सके दूर से ही सेवा करनी चाहिए। अगर समाज में ही रहना है, काम करना है, तो अपना गुट्ट पूरा रखना चाहिए। यदि समाज में विवेक हो, विद्वानों को यह निश्चय हो कि आयु भर सुख-समाधान से गुज़र जायगी, तो बीसियों हाथी स्वल्प आहार पर आने, रहने, जीवन को स्वामी के मिशन में लगाने को तैयार हैं। पर क्या किया जाय ? यहाँ तो यह हाल है कि,

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै,
हाथिनु के ब्यापार।
नहिं जानतु इहिं पुर बसैं,
धोबी, ओड़, कुँभार॥

(बिहारी)

समाज में बड़े-बड़े हाथी आये और मार खाकर दुर्गति को अनुभव करके चले गये और चले जा रहे हैं। फिर भी हम 'संसार के महान् उपकार'—जैसे कार्य का स्वप्न देख रहे हैं! समाज में कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति सुरक्षित नहीं, कोई विद्वान् सुरक्षित नहीं, कोई कार्यकर्त्ता सुरक्षित नहीं, कोई व्यक्ति सन्तोषपूर्वक बैठकर काम नहीं कर सकता, किसी व्यक्ति को पता नहीं कि वह समाज में काम करे तो कब तक निभ सकेगा। आक्षेप, अधिक्षेप, तिरस्कार, कलङ्क और बदनामी से कोई बचकर निकल नहीं जा सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा अथवा छोटा क्यों न हो। अब तक समाज में कोई ऐसा प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता नहीं हुआ, जिसकी जीते-जी खाल न खींची गई हो। ऐसी दशा में लोग इस गन्दे वातावरण से ऊबकर मनस्विता की दृष्टि से (सामाजिक

होते हुए भी) समाज से पृथक् रहने लगें तो आश्चर्य करने की क्या बात है ?

ऐसे लोगों से दयानन्द को कोई छीन नहीं सकता। आर्य-समाज के सिद्धान्तों का कोई ठेका तो नहीं है कि समाज की चहारदीवारी के भीतर ही रहकर माने जा सकते हों। यह भी बात नहीं है कि समाज के संकुचित क्षेत्र में रहकर ही वैदिक धर्म की सेवा अथवा प्रचार हो सकता हो। यह भी बात नहीं है कि सातवें दिन समाज में जाकर दस-पाँच मिनिट बैठने से ही स्वर्ग-द्वार खुलता हो। क्यों न पुरुष समाज से बाहर रहे, सन्तोष से रहे और जितनी बने समाज व वैदिक धर्म की सेवा करे। प्रतिदिन हीनता की ओर अग्रसर होनेवाले इस वैदिक गिरजाघर में ही क्या रखा है ? सच्चा प्रेमी सिद्धान्तों से प्रेम करेगा, कच्ची चहारदीवारी से नहीं। निर्जीव, किसी समय भी भूकम्प के एक धक्के के साथ ज़मीन में धँस सकनेवाले मिट्टी और चूने के निर्जीव समाज में क्या रखा है ? जिस मनुष्य-समुदाय में रहकर मानसिक शान्ति नहीं, जहाँ आध्यात्मिक आनन्द नहीं, उस नाम-मात्र सजीव समाज में भी क्या रखा है ? सच्चा समाज वह है, जहाँ बैठकर मन उच्च महान् आकाश में उड़ने लगे। सच्चा समाज वह है, जिसमें आकर मनुष्य अपने पापों का बोझ हलका कर सके और आध्यात्मिक सुख अनुभव करने लगे।

४—क्या आर्यसमाज में सत्याग्रह की शक्ति है ?

यह प्रश्न है ज़रा विचित्र। कोई यह भी पूछ सकता है कि आर्यसमाज में शक्ति नहीं है, कि सत्याग्रह की शक्ति नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि शक्ति तो है और खूब शक्ति है, किन्तु उसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो रहा है और आर्यसमाज की शक्ति सत्याग्रह में कभी नहीं लगेगी। मैं अपना मत स्पष्ट ही क्यों न लिख दूँ कि 'आर्यसमाज कभी सत्याग्रह न कर सकेगा।' उसका वर्त्तमान सङ्गठन अथवा सङ्घटन ही ऐसा है। उसकी बागडोर ही ऐसे लोगों के हाथों में है कि वे जहाँ तक बन सके सत्याग्रह न होने देंगे, जहाँ तक बन सके उसे टालते रहेंगे।

कालेज-पार्टी तो सत्याग्रह में इसलिए योग नहीं देगी कि उसका सम्बन्ध अधिकतर वर्त्तमान शिक्षणालयों से है और यदि कभी सत्याग्रह छेड़ा जायगा तो उसके अधीनस्थ शिक्षणालयों को हानि पहुँचने की सम्भावना है। वह तो सरकार से किसी तरह बिगाड़ नहीं करना चाहती।

अब रही महात्मा-पार्टी। वह यद्यपि शिक्षणालयों के विषय में सरकार से विशेष सम्बन्ध नहीं रखती तथापि आर्यसमाजों के सूत्र पेन्शनर, सरकारी नौकर, बाबू, ठेकेदार आदि के हाथों में हैं। वे भला किसी सत्याग्रह के विषय में सरकार से किस प्रकार टक्कर ले सकते हैं ? प्रति दिन का अनुभव इसी बात को स्पष्ट बतला रहा है।

रह गई सार्वदेशिक सभा। इसमें भी इन्हीं लोगों का हाथ है। किसी प्रकार सरक्यूलरों पर जीवन चल रहा है। पहली जमा-पूँजी के सूद से काम चलाया जा रहा है, फिर भी किसी-न-किसी बात पर नया चन्दा माँगा ही जाता है।

अभी मैं एक आर्य-समाचारपत्र पढ़ रहा था, नाम स्पष्ट ही क्यों न लूँ, 'आर्य-मार्तण्ड' पढ़ रहा था। सम्पादक महोदय ने निज़ाम हैदराबाद रियासत के पं० रामचन्द्र देहलवी सम्बन्धी काण्ड के विषय में लिखा है कि मुक़दमा उठा लिया जाना आर्यों की विजय है। मुझे तो इस बात को पढ़कर हँसी आई। यह नहीं समझे कि निज़ाम सरकार के उच्च पदाधिकारियों ने ऐसी चतुराई दिखलाई है कि आर्य जनता को पेंच में डाल दिया है।

यदि सार्वदेशिक सभा में शक्ति है तो चलाये सत्याग्रह—दे अपनी शक्ति का पूरा परिचय।

पं० रामचन्द्रजी के लिए भी पेचीदा प्रश्न है। यदि वह चुप रह जाते हैं तो मामला गया। यदि वे जाकर सत्याग्रह करते हैं तो सार्वदेशिक सभा इस विषय में हरगिज़ उनका साथ न देगी, क्योंकि वह अपने प्राण को सङ्कट में क्यों डालने लगी। हाँ, चन्दा दो, ले लेगी; सरक्यूलर भेजेगी; प्रोटेस्ट की झड़ी लगा देगी। अभी हाल में सार्वदेशिक सभा ने जो प्रोटेस्ट निज़ाम सरकार के पास भेजा है उसने सभा की स्थिति को और भी पेचीदा कर दिया है। निज़ाम सरकार तो ध्यान देगी नहीं, फिर सार्वदेशिक सभा क्या करेगी ? क्या सत्याग्रह करेगी ? मुझे तो सन्देह है। आर्यसमाज में शक्ति है, सङ्गठन का ज़ोर भी है, पर सत्याग्रह नहीं कर सकता, न चला सकता है। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि वे ही आर्यसमाज के सैकड़ों-सहस्रों सदस्य जब कांग्रेस के मामले में सत्याग्रह चलाते हैं तो वे सरकार से खूब टक्कर लेते हैं ? यह शायद स्थान-महात्म्य की बात है। कांग्रेस में बड़े से बड़ा नेता सबसे आगे चलता है और आर्यसमाज में सत्याग्रह करना ही नहीं आता। इच्छा ही नहीं, तब क्या हो ?

सबसे पहले आर्यसमाज ने महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व में धौलपुर में सत्याग्रह चलाया था। बहुत उत्साह फैला था। ख़ैर,

उस समय महात्मा मुंशीरामजी अग्रणी थे, उन्होंने जैसा उचित समझा, फ़ैसला किया।

दूसरा सबसे बड़ा अवसर आया था देहली की प्रथम आर्य कांग्रेस के मौक़े पर। सरकार ने वहाँ जलूस व नगर-कीर्त्तन रोक दिया था। यदि वहाँ हमारे नेता दुर्बल न पड़ जाते और अड़ जाते, तो पन्द्रह दिन में ही फ़ैसला हो जाता और समस्त आर्य-जगत में नई स्फूर्त्ति उत्पन्न हो जाती। किन्तु वहाँ तो इस विषय में आर्यसमाज की पीठ ही, हड्डी ही, टूट गई। तब से—"बातें तो बन रही हैं, पर घर बिगड़ रहे हैं"—वाला क़िस्सा हो रहा है। इतनी बड़ी दयानन्द-जन्म-शताब्दी हो गई, अजमेर की मृत्युञ्जय-अर्द्ध-शताब्दी भी हो गई, किन्तु घोड़ा अभी ख़न्दक़ के पार नहीं हो सका। ज़ोर से दौड़ता है किन्तु ख़न्दक़ को देखते ही बिदक जाता है। इसमें घोड़े का इतना दोष नहीं जितना कि शहसवारों का। यह शहसवार जब एड़ी लगाने का मौक़ा आता है, तभी झिझक जाते हैं। मैं लिख रहा हूँ कड़वी बात, पर है सोलह आने सही।

अब रही हमारे धर्माग्रणी उपदेशक-प्रचारक, साधु-संन्यासी, सन्त-महन्तों की बात। इनको तो सस्ते खण्डन-मण्डन पर किसी प्रकार जीवित रहने और कार्य-निर्वाह करने की आदत पड़ गई है। इनकी नीति रही है—"जब तक निभे तब तक"।

मैं फिर कह रहा हूँ कि आर्यसमाज में शक्ति है पर वह भूमि-दोष के कारण पनप नहीं सकती। बार-बार अंकुर निकलेंगे और मुरझाते जायेंगे। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि साप्ताहिक अधिवेशन, वर्ष भर में एक बार ज़ोर का उत्सव, कभी-कभी परमताव-लम्बियों से ठनाठनी, संस्था-मोह—इसीमें आर्यसमाज का जीवन व्यतीत होगा।

वर्त्तमान समाज में अत्याचारी के अत्याचारों का क़ानूनी प्रतिकार-मात्र शेष है।

न जातुकामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः जीवो नित्यो सुख दुःखे त्वनित्ये॥

इस तत्व को अभी भली-भाँति नहीं समझ पाया है।

मुझे ये विचार इसलिए सूझे कि मसूरी आर्यसमाज ने, जिसका नगर-कीर्त्तन नहीं होने पाता, अभी हाल में नगर-कीर्त्तन के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था; किन्तु वह नामंज़ूर हो गया। मसूरी समाज वाले चुपचाप बैठ गये। बेचारे प्रति वर्ष की भाँति विशेष प्रचार करेंगे; किन्तु उत्सव नहीं करेंगे। कहाँ है वह आर्य-रक्षक सभा ? कहाँ है वह दश सहस्र स्वयंसेवकों की फ़ेहरिस्त ? कहाँ हैं प्रो० रामदेवजी, जिन्होंने कभी प्रतिज्ञा की थी कि वे मसूरी समाज का नगर-कीर्त्तन अवश्य करायेंगे ? और कहाँ है सार्वदेशिक सभा, जो समाज को मुक़दमा चलाने की तो हिदायत देती है, सहायता पहुँचाने का आश्वासन देती है; किन्तु जिसमें सरकार के साथ ज़ोर से टक्कर लेने की तनिक भी शक्ति नहीं ?

मुद्दत से देखता है बन्दा, यही बातें और यही फन्दा।
न कुछ काम है न धन्धा, लाओ चन्दा, लाओ चन्दा॥

यदि कोई मेरी बात माने तो मैं यही सलाह दूँगा कि श्री० पं० रामचन्द्रजी को हैदराबाद जाना चाहिए, परिणाम चाहे कुछ भी हो। फिर सार्वदेशिक सभा को उनके पीछे अपना समस्त बल लगा देना चाहिए, नहीं तो इस काण्ड का यही परिणाम होगा कि आर्यों के आन्दोलन व्याघ्रमुख और शृगाल-पुच्छ होते हैं—ऐसा भान होगा। यह लेख लिखकर मैंने अपने हृदय की तीव्र वेदना को प्रकट करने का साहस मात्र किया है। जब भीतरवाले ने नहीं माना तब भीतर की बात बाहर आ ही गई।

५—भाग्यनगर (हैदराबाद) का चक्र

अब और तब

जिसको हैदराबाद दक्षिण कहते हैं, इसका दूसरा संस्कृत का नाम 'भाग्यनगर' है और भारतवर्ष में प्रसिद्ध है "चन्दूलाल का हैदराबाद।" इस नाम से इसलिए कि आज-कल के दीवान राजा किशनप्रसाद के पूर्वज चन्दूलाल जब कभी दीवान थे तब उनका नाम 'दानी' होने के कारण सर्वत्र भारत में प्रसिद्ध था और कोई भी अर्थिजन (याचक) विमुख नहीं लौटता था।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

वर्त्तमान निज़ाम के पिता आला हज़रत नवाब महबूबअली बड़े दानी-मानी तथा प्रजावत्सल शासक थे। इनके शासन-काल में किसी हिन्दू को यह भान ही नहीं होने पाता था कि मुसलमानी राज्य है। उधर दक्षिण में 'निज़ाम-राज्य' को 'मोगलाई' कहते हैं। नवाब महबूबअली की दयालुता का परिचय मूसा नदी की बाढ़ में जब हैदराबाद डूब गया था तब मिला था। इन्होंने प्रजा के लिए महल ख़ाली कर दिये थे और उस समय सहायता द्वारा प्रजा की बहुत रक्षा की थी। इनके शासन-काल में बड़े ओहदों पर हिन्दू भी रहते थे। हमारे एक सम्बन्धी श्री स्वामीराव भी किसी समय हैदराबाद राज्य के एक सूबे के सूबेदार थे। कई ज़िलों में कलेक्टर (तालुक़्क़ेदार) हिन्दू ही थे। हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई की तरह रहते थे। यह बात लोगों को कम मालूम है कि वर्त्तमान निज़ाम नवाब उस्मानअली की अपने पिता भूतपूर्व निज़ाम से नहीं बनती थी। उस समय नवाब महबूबअली ने अपने पुत्र उस्मानअली को नज़रबन्द करके रखा था।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

सबसे पहले कट्टर मुसलमानी हैदराबाद में अलीगढ़ कालेज में शिक्षित मुसलमानों के कारण (जो हैदराबाद में प्रवेश कर गये) हुई। ये शिक्षित लोग हैदराबाद में बड़े-बड़े ओहदों पर थे और ईमानदार थे। किन्तु थे मुसलमान। इन्हींके कारण राज्य में यह हुआ कि जहाँ तक सम्भव हो समस्त उच्च पद मुसलमानों को ही दिये जायँ। इन्हींके कारण यह हुआ कि दफ़्तर के सब काम उर्दू में हुआ करें; नहीं तो पहले दफ़्तर के काग़ज़ात मराठी, करनाटकी, तैलगू आदि भाषाओं में भी रखे जाते थे, क्योंकि निज़ाम राज्य कई भाषा-भाषियों में विभक्त है—१—मरहटी, २—कर्नाटक, ३—तैलगू, ४—मलयालम; इसके अतिरिक्त उर्दू है ही।

अलीगढ़ के सम्प्रदाय के अधिकारियों ने प्रबन्ध तो अच्छा किया, किन्तु उनकी राष्ट्रीय भावना के कारण उनको शीघ्र ही कभी प्रकट रूप में, कभी गुप्त रूप में, ऊपर के इशारे से, अर्द्ध-चन्द्र मिलता गया, क्योंकि ये लोग वहाँ अँगरेज़ी अफ़सरों का आधित्पय नहीं चाहते थे।

इनके पश्चात् यू० पी० के और मुसलमान अधिकारी जाने लगे। इन्हींके कारण हैदराबाद में वर्त्तमान दशा है। इन्होंने ही हिन्दू-मुसलिम-प्रश्न को उठाकर निज़ाम राज्य की० सुख-शान्ति का नाश कर डाला है। बरार जो अँगरेज़ों के क़ब्ज़े में गया था, वह इन्हींकी बदौलत।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

आला हज़रत नवाब महबूबअली ख़ाँ के पश्चात् जब उनके पुत्र नवाब उस्मानअली सिंहासनाधिरूढ़ हुए तब भाग्यनगर का चक्र पलटा। प्रत्येक राज्य-विभाग मुसलमानी दृष्टि से कसा जाने लगा; धार्मिक स्वतन्त्रता धीरे-धीरे नष्ट होने लगी; हिन्दुओं

का धर्म घर में ही रहने लगा; बाहर वे प्रत्यक्ष रूप में, सामुदायिक रूप में कुछ नहीं कर सकते हैं।

वर्त्तमान निज़ाम ने सबसे पहले राज्य भर में दौरा लगाकर प्रजा से भेंट के नाम पर लक्षों रुपये एकत्रित किये और भी कट्टरता-जन्य अत्याचार तथा फ़िज़ूलख़र्च प्रारम्भ हुए। जब-तब बड़ा हो-हल्ला हुआ, प्रत्येक विभाग में बड़े अँगरेज़ अफ़सर घुसे। अब तो कोई बड़ा विभाग नहीं जिसके सूत्र अँगरेज़ अफ़सरों के हाथों में न हों। सब कार्य 'सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा'—कठपुतली की तरह होते रहते हैं, चाहे नवाब 'हिज़-एक्ज़ाल्टेड हाईनेस' भले ही कहे जावें।

वर्त्तमान शासन-चक्र किस तरह चल रहा है—इस विषय में फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। आज आर्य सामाजिक दृष्टि से भाग्यनगर के चक्र की स्थिति का वर्णन करना चाहता हूँ।

हैदराबाद राज्य में सबसे पहले पुराने आर्य तीन ही हैं। उनमें से दो का स्वर्गवास हो गया, एक जीवित हैं। एक थे स्व० श्री केशवराव जुस्टिस हैदराबाद। हैदराबाद समाज ने जो कुछ कार्य किया है उसका श्रेय इन्हींको । दूसरे थे स्व० रावसाहब श्रीनिवासराव (हमारे पिता)। इन्होंने सबसे पहले, हैदराबाद समाज से भी पहले, धारूर समाज को स्थापित किया था। उस्मानाबाद तहसील में जितना प्रचार है, वह सब इन्हींके कारण। तीसरे हैं पातूर-निवासी श्री ठाकुर गोविन्दसिंहजी मनसबदार। जब ये हैदराबाद राज्य में मनसबदार थे तब इन्होंने भी बहुत कार्य किया था। अब ये पेन्शन लेकर अपनी ज़मींदारी पातूर (ज़िला अकोला) में रहते हैं।

हैदराबाद राज्य में जितने भी आर्यसमाजी लोग हैं प्रायः उत्तर भारत के प्रवासी हैं, जो स्वयं वहाँ जा बसे हैं। दाक्षिणात्य

लोग अब कहीं यह समझने लगे हैं कि आर्यसमाज भी कोई धार्मिक सोसाइटी है । सबसे पहले आर्यसमाज का नाम पहुँचा स्व० लाला लाजपतरायजी के निर्वासन के कारण, जब उनको ब्रह्मदेश में भेज दिया गया था । लाजपतरायजी के नाम के साथ ही समाज का नाम हो गया कि ऐसे-ऐसे पुरुष भी सामाजिक विचार रखते हैं। महात्मा मुन्शीराम भी गुरुकुल के प्रारम्भिक डेपूटेशन में हैदराबाद गये थे, तब भी धूम रही थी।

उसके पश्चात् प्रायः सामाजिक उत्सवों में इधर से उपदेशक महानुभाव जाते रहे हैं। जब आर्यों की संख्या कम थी, निज़ाम सरकार के कर्मचारियों का ध्यान उधर कम गया । अब बढ़ने लगी, इसलिए ध्यान गया। इसलिए भी ध्यान गया कि यू० पी० के कट्टर मुसलमान वहाँ कर्मचारी और अधिकारी के रूप में अधिक संख्या में पहुँचे हैं।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वर्गीय श्री स्वामी नित्यानन्द जी जब हैदराबाद में पञ्चपक्षी नामक सनातनियों से शास्त्रार्थ करने गये थे तब निज़ाम सरकार ने उनको हिरासत में ले लिया था। फिर हो-हल्ला मचने पर छोड़ दिया था । बम्बई के स्व० श्री पं० बालकृष्ण शर्मा के कारण भी वहाँ चहल-पहल रही थी। इनको भी हैदराबाद छोड़ जाने का हुक्म हुआ था। स्वा० नित्यानन्दजी व पं० बालकृष्णजी के लिए जो प्रतिबन्ध था वह हिन्दुओं के विरोध के कारण हुआ था। उस समय राज्य के हिन्दू 'आर्यसमाज क्या है'—समझते ही न थे । अब राज्य भर में कभी भी हिन्दुओं की ओर से विरोध होने वाला नहीं है। हाँ, मुसलमान ज़रूर पूरा-पूरा ज़ोर लगायेंगे कि आर्यसमाज का प्रचार न हो।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

लेखक १८९४ ई०में उत्तर भारत में आया था; तब से इधर ही है। जब कभी वह हैदराबाद में गया है उसने बहुत परिवर्त्तन देखा है। केवल हिन्दुओं के आचार-विचार, व्यवहारों में ही नहीं अपितु मुसलमानों की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण में भी।

आज-कल हैदराबाद का नाम फिर बड़े ज़ोर से आर्य-जगत् के सम्मुख है। सार्वदेशिक सभा अपनी वाह्य वृत्ति और आन्दोलन से जतला रही है कि वह आर्यसमाज की धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए हैदराबाद राज्य में सत्याग्रह करेगी। अच्छा है, यदि भिड़न्त हो जाय, किन्तु वह भिड़न्त ऐसी हो कि इतिहास में लिखने की बात हो जाय। यदि आर्यसमाज अपनी कीर्त्ति को सुरक्षित रखना चाहता है तो किसी-न-किसी दिन कहीं-न-कहीं सत्याग्रह करना ही पड़ेगा। यह मत समझिए कि केवल निज़ाम-राज्य में ही आर्यों पर सख्ती की जाती है। बीसियों अन्य रियासतें हैं जहाँ किसी-किसी अंश में निज़ाम-राज्य से भी बढ़कर क्लेश है। पर चाहे वह ब्रिटिश राज्य हो, चाहे निज़ाम राज्य, चाहे और कोई राज्य—जहाँ भी अत्याचार हों, टक्कर देनी ही चाहिए। इसी में जीवन है।

६—आर्यसमाज और सत्याग्रह

सम्मानपूर्वक जीते रहोगे कि निस्तेज होकर मरोगे?

मैंने परम मित्र श्री० ठाकुर सूर्यकुमार वर्माजी का लेख (अर्जुन, ६ सितम्बर) कई बार ध्यान-पूर्वक पढ़ा और मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि श्री वर्माजी ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की समस्या को अच्छी तरह समझा ही नहीं। आर्यसमाज की स्थापना केवल 'मोक्ष'-प्राप्ति के लिए है और 'अभ्युदय' के लिए नहीं—यह बात मेरी समझ में नहीं आई। श्री वर्माजी ने 'धर्म' के जो अर्थ लिये हैं वह मान लिये जायँ तो फिर 'धर्म'-जैसी हीन व हेय वस्तु संसार में और कौनसी होगी? वर्माजी ने 'सत्याग्रह' को 'दुराग्रह' में लिया है। सत्याग्रह तो अनन्त काल से ब्राह्मणों का शस्त्रास्त्र रहा है। इतिहास, पुराण, महाभारत ऐसे दृष्टान्तों से भरे पड़े हैं। कौन कहता है कि धर्म-प्रचार में ज़बरदस्ती करनी चाहिए; पर धर्म-प्रचार के लिए कष्ट सहना तो कहीं मना नहीं। क्या सत्याग्रह सफल नहीं होगा—इसलिए सत्याग्रह को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए? क्या संसार में 'सत्य'की इतनी बेक़दरी हो रही है—इसलिए 'सत्य' को तिलाञ्जलि देकर मिथ्या का आश्रय लेना उचित है? श्री वर्माजी ने लिखा है कि सत्याग्रह वैदिक नहीं है, इसका शास्त्रों में उल्लेख नहीं है। मुझे वर्माजी की इस बात पर आश्चर्य होता है। फिर लेख के अन्त में आपने आप ही "यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च" कहकर अपने ही लेख का खण्डन कर डाला है! श्री वर्माजी को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जो जाति अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकती, वह जाति नष्ट हो जायगी; चाहे वह रक्षा शस्त्र द्वारा हो चाहे शास्त्र द्वारा। वर्त्तमान समय में हम निःशस्त्र बनाये गये हैं, इसलिए शस्त्र द्वारा देश अथवा धर्म की रक्षा का प्रश्न नहीं उठता। अब एक ही

उपाय शेष है, वह है 'सत्याग्रह' का। हममें जितने अंश में 'तप' रहेगा उतने अंशों में सत्याग्रह सफल होता जायगा। रक्षा के लिए 'शस्त्र' रहे नहीं, सत्याग्रह करोगे नहीं, फिर अनाथ की तरह मरने के सिवाय और क्या होगा? शस्त्र-बल है नहीं, शास्त्र-बल से काम लोगे नहीं, संसार में हमारा गौरव कैसे स्थिर रहेगा? श्री वर्माजी, धर्म में 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों आ जाते हैं। आर्य-समाज की स्थापना केवल मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हुई है—यह बात आर्य-समाज के संस्थापक और प्रवर्त्तक के ग्रन्थों से सिद्ध नहीं हो रही है। और केवल 'मोक्ष' भी कायरता से कब मिलने लगा है? मार्ग की रुकावटों को भी तो किसी तरह दूर करना ही पड़ेगा। आर्य-समाज में जो 'कायरता' का प्रवेश हुआ है, वह सत्याग्रह से ही दूर हो सकेगा।

श्री वर्माजी ने जिन विचारों को अपने लेख में प्रकट किया है, उन विचारों के लोगों की प्रधानता के कारण ही अब तक आर्यसमाज में सत्याग्रह का प्रवेश नहीं हुआ है। आर्यसमाज के सामने इस समय यही प्रश्न है कि कायर बनकर अत्याचार सहते रहोगे अथवा सत्याग्रह का आश्रय लेकर अपने जीते-जागते होने का सबूत दोगे। वर्माजी का लेख इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि आर्यसमाज में 'सत्याग्रह' की शक्ति नहीं है।

मित्रवर श्री वर्माजी को धन्यवाद है कि उन्होंने अपने विचार स्पष्ट रूप में जनता के सम्मुख रखे। मैं तो प्रसन्न हुआ कि मेरे लेख के कारण कुछ तो चर्चा चल पड़ी। सब विचारशील पुरुषों को चाहिए कि वे गम्भीरता-पूर्वक इस प्रश्न पर विचार करें। और वर्माजी मुझे ही क्यों लिख रहे हैं? लिखें आर्यसमाज की स्वामिनी सार्वदेशिक सभा के विषय में, जो सत्याग्रह के लिए चन्दा एकत्रित कर रही है और ज़ोरों से आन्दोलन उठा रही है।

७—यदि सत्याग्रह हो—

यदि यह बात सत्य है कि सार्वदेशिक सभा के 'अल्टीमेटम' के उत्तर में निज़ाम-सरकार के अधिकारियों का उत्तर आया है और वह नितान्त असन्तोष-जनक है, और यदि यह बात सत्य है कि आर्यसमाज के कतिपय धुरीण सत्याग्रह के निमित्त हैदराबाद जाने की तैयारी कर रहे हैं, तो मैं यह अत्यन्त आवश्यक समझ रहा हूँ कि इस विषय में दो-एक बातों का उल्लेख करूँ।

यदि सत्याग्रह की ठन गई है तो यह बात याद रखनी होगी कि सत्याग्रह के चलाते ही 'प्रिन्सेज़ प्रोटेक्शन एक' के अनुसार ब्रिटिश भारत की सरकार भी निज़ाम-सरकार का हाथ बँटायेगी अर्थात् सत्याग्रहियों को निज़ाम-राज्य की सीमा के भीतर पहुँचने के पूर्व ही पकड़-पकड़कर, दो-दो, चार-चार, दस-दस दिन तक अपनी ही सीमा में हवालात में रखकर छोड़ती जायगी। इसके अतिरिक्त निज़ाम-राज्य की सीमा का सत्याग्रह पृथक् रहेगा। जहाँ दोनों की सीमाएँ मिलती हैं वहाँ भी प्रवेश नहीं मिलेगा। ख़ास हैदराबाद नगर का सत्याग्रह विशेष रूप धारण करेगा।

इन सब बातों का ध्यान रखकर, पूरा-पूरा प्रबन्ध करके जाना चाहिए। दो-चार महानुभाव आगे गये और पीछे का पूरा-पूरा प्रबन्ध न हुआ तो सम्भव है उन विशेष व्यक्तियों को भले ही धूम रहे; किन्तु सत्याग्रह में अड़चन रहेगी।

सबसे पूर्व सार्वदेशिक सभा के अधिकारी एक-एक करके जायँ। पीछे अपने स्थान में किसीको नियत करते जायँ। सार्वदेशिक सभा के सब सदस्यों के पश्चात् आर्य-प्रतिनिधि सभाओं के सदस्य एक-एक, दो-दो करके चलें। उसके पश्चात् फिर समाजों से तीन-तीन, चार-चार का दल चले।

स्मरण रहे यह सत्याग्रह कम से कम वर्ष भर की तैयारी का होना चाहिए, चाहे निर्णय शीघ्र ही क्यों न हो जाय। गीदड़ के शिकार के लिए भी शेर के शिकार का-सा पूरा सामान करना पड़ता है। सारांश टक्कर पूरी शक्ति से लगनी चाहिए। मैंने हैदराबाद के विषय में अब तक जितने लेख लिखे, वह सब आर्यों में स्फूर्त्ति के सञ्चार के हेतु से ही लिखे। क्या ही अच्छा हो यदि यह सत्याग्रह शान्ति, सुमति, श्रद्धा के साथ सम्पन्न हो।

'अब की चढ़ी कमान न जाने फिर कब चढ़े।'

८—आर्यसमाज की मनोवृत्ति

प्रत्येक मत, पन्थ, सम्प्रदाय में कट्टर लोग होते ही हैं। उन्हीं असंख्य कट्टर मूर्त्तियों के कारण ही संसार में नाना मत, पन्थ, सम्प्रदाय अपने पैर जमाये बैठे हैं। आर्यसमाज का जन्म इन नाना मतों को एक करने के लिए ही था, किन्तु यह भी एक ऐसा कट्टर सम्प्रदाय बनता जा रहा है, जिसकी कट्टरता के आगे अन्य मतों की कट्टरता नगण्य के तुल्य है। आज-कल आर्यसमाज में ऐसे बहुत से लोग हैं जो कि कांग्रेस-आन्दोलन में भाग लेने के कारण ही अथवा विशेष-रूपेण कांग्रेस का कार्य करते रहने के कारण कट्टर लोगों के कोप-भाजन हो रहे हैं। इन कट्टर-पन्थियों का कथन यह है कि जो लोग आर्य-समाज को छोड़कर कांग्रेस के कार्य-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, उन्होंने आर्यसमाज को बड़ा धक्का पहुँचाया है; इन्होंने हिन्दू-हितों का नाश किया है; इनको चाहिए था कि समाज में ही रहकर देश-हित साधन करते, इत्यादि। आर्यसमाज के मण्डल में रहकर कितना देश-हित सध सकता है इसका अनुभव सबको है। सरकारी नौकरों, ठेकेदार, क्लार्क, वकील, पेन्शनर—इन तथा इन-जैसे लोगों से आर्यसमाज ऐसा खचाखच भरा हुआ है कि वहाँ कोई मनस्वी व्यक्ति स्वतन्त्रता-पूर्वक देश-हित का कार्य कर ही नहीं सकता। आर्यसमाज की बागडोर प्रायः सर-कारी, नीम सरकारी लोगों के हाथों में रहती है और रही है। उनसे यह आशा करना कि वे सरकारी अत्याचारों की तीव्र आलोचना करेंगे और समय पड़ने पर सत्याग्रह का बिगुल भी बोल देंगे दुराशा मात्र है।

दूसरी ओर कांग्रेस के वातावरण में वह स्वतन्त्र शक्ति है, जिससे बड़ी-से-बड़ी शक्ति के साथ जुट जाने में आनन्द आता है। इसका स्पष्ट ज्वलन्त दृष्टान्त वे आर्य भाई हैं जो कि आर्यसमाज के वातावरण में कुछ भी नहीं कर सकते थे, किन्तु कांग्रेस के वातावरण में पहुँचते ही उन्होंने देश को हिला दिया। ऐसे भाइयों ने आर्यसमाज का गौरव बढ़ाया ही है, घटाया नहीं। यदि सैकड़ों-सहस्रों आर्य भाई देश के सङ्कट-समय में कांग्रेस के कार्य-क्षेत्र में आकर काम न करते तो देश के महत्वपूर्ण क्षेत्र में न तो आर्यसमाज की ही गणना होती और न उसका नाम गौरवपूर्वक कोई लेता। अब रही हिन्दू-हित के नाश करने की बात। समझ में नहीं आता कि 'संसार के उपकार' की बात कहनेवाला समाज कब से केवल हिन्दू-हित की दुहाई दे रहा है अथवा दुहाई देने लगा है। सर्व देशव्यापी आन्दोलनों में, जानपदीन आन्दोलनों में, सर्व-हित की, सार्वजनीन हित की बात ही कही जायगी। इतना होने पर भी मैं यह कह सकता हूँ कि जो आर्य भाई कांग्रेस-आन्दोलनों में सम्मिलित हुए उन्होंने हिन्दू-हितों का बराबर ध्यान रखा है। आन्दोलन से दूर अछूत की भाँति बैठे हुए लोग इस बात को अच्छी तरह अनुभव न कर सकेंगे; किन्तु जिन्होंने कांग्रेस-आन्दोलनों में सक्रिय सहानुभूति दिखलाई है, वे सब जानते हैं। उन आर्य भाइयों ने सङ्कट के समय में युद्ध में पड़कर 'आर्य' नाम और 'आर्यसमाज' का गौरव बढ़ाया है। आर्यसमाज को उन सब भाइयों का कृतज्ञ होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज में रहकर कोई क्या कार्य करे, उसका सङ्गठन ऐसा विचित्र है कि 'सब धान बाईस पसेरी' बिकता है। उसका वायुमण्डल इतना दूषित है कि भले आदमी को अच्छी तरह साँस लेना भी कठिन हो जाता है।

ऐसी दशा में सामाजिक वायुमण्डल में ही रहकर सड़ते रहने की अपेक्षा यदि लोग व्यापक क्षेत्र में कूदकर अपनी शक्ति को विकास का अवसर देवें, तो क्या बुरा है। केवल सिद्धान्तों के अत्युच्च कोटि के होने से कोई सोसाइटी अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकती। समाज अथवा समुदाय की जान अथवा प्राण तो उन सिद्धान्तों पर आचरण पर है। जब देश के अन्य आन्दोलन "रथेन वायुवेगेन" की भाँति किधर से किधर निकले जा रहे हैं, तब आर्यसमाज के निस्तेज जीवों की प्रतीक्षा में कौन बैठा रहेगा और कौन अपने आपको नष्ट करेगा। वह दिन गये, जब आर्यसमाज के वृद्ध बैठकर गाया करते थे—

नहीं पियारी तहसीलदारी, नहीं जज्जी दरकार।
रहूँ गवर्नर तब क्या बनेगा, हे पिता पतितोद्धार॥
दयामय लीजिए अब मोहे तार। दयामय०॥

इन आर्य भाइयों को देखो जो अब भी समाज में आरती के समय यह गाते हुए देखे जाते हैं—

'मैं मूरख खल कामी, कृपा करो भरता।'

आर्यसमाज के तेजस्वी प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के वह वाक्य कहाँ कि "चक्रवर्ती अन्यायी का अन्याय भी नहीं सहन करना चाहिए" और कहाँ वर्त्तमान आर्य भाइयों की दैन्य वृत्ति!!!

यदि आर्यसमाज तेजस्विता-सम्पन्न रहता तो फिर वही सबसे आगे रहता, किन्तु अब तो वह दौड़ में पिछड़ गया है और यही मानकर सन्तोष कर लेता है कि भारतवर्ष में जितने भी आन्दोलन हैं, उन सबका वही अगुआ है; उसके परम पूज्य प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द पचास वर्ष पूर्व वही सब बातें कह-सुन-लिख गये हैं, जिनको कि लोग आज कर रहे हैं

इत्यादि। आर्यसमाज का जीवन एक बन्द कमरे में पड़े हुए मनुष्य का जीवन है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का जप करनेवालों को ज़रा बाहर आना चाहिए; संसार को अपनी तेजस्विता का परिचय देना चाहिए। तब तो संसार उनकी बात सुनने के लिए ठहर सकता है, नहीं तो वह जा रहा है सरपट अपने नाक की सीध पर। उसे फ़ुरसत ही नहीं कि वह व्यर्थ की बातों को सुनने के लिए ठहरे।

'आर्य' शब्द के उच्चारण करते ही एक दिव्य स्फूर्त्ति का भास होना चाहिए। निस्तेज, दीन, हीन, अनन्यगतिक, चाटुकार पुरुष न तो 'आर्य' हैं और न ही इनसे संसार का उपकार तो क्या, अपना भी उपकार होगा।

मैंने ये शब्द इसलिए लिखे हैं कि ज़रा कांग्रेस का आन्दोलन शिथिल हुआ कि ये लोग कहने लगते हैं कि "इन कांग्रेसी समाजियों ने समाज को किधर का भी नहीं छोड़ा।" क्यों नहीं, जिन कांग्रेसी आर्य भाइयों ने देश के कार्य में पड़कर, अनन्त दुःखों को झेलकर, देश व समाज का गौरव बढ़ाया उन्होंने तो समाज का नाश किया; किन्तु मैं पूछता हूँ कि जिन्होंने किसी आन्दोलन में भी भाग नहीं लिया और जब उनके भाई सिर व पीठ पर लट्ठ खाते थे तब समाज में बैठकर 'विश्वानि देव' कहनेवाले भाइयों ने समाज का कितना उद्धार किया व गौरव बढ़ाया? इस बात को वे ही बतला सकते हैं।

दशम गुच्छक

१—ग्राम-सङ्गठन

[१]

कहने को ग्राम-सङ्गठन सुलभ प्रतीत होता है, पर इसमें छिपे हुए गम्भीर अर्थों को देखते कहना पड़ेगा कि सबसे कठिन यदि कोई कार्य है तो यही है। भारतवर्ष के नगर, उपनगर अथवा महानगर तो उसका ऊपर का ढाँचा है। भारतवर्ष का हृदय तो ग्रामों में ही है। उपनगर, नगर, महानगर यदि चमकीले दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ के लोग यदि चटकीले-भड़कीले दिखलाई पड़ते हैं, तो वह भी ग्रामवासियों की ही कृपा का फल है। ग्रामवासियों के अज्ञान से शहरवाले व सरकार दोनों समान रूप से लाभ उठाते रहते हैं।

ग्राम-सङ्गठन का कार्य कितना कठिन है—इसका अनुभव मुझे कई वार मिल चुका है; विशेषतः १९१६ से १९१९ तक के दिनों में जब कि मैं भोगपुर (देहरादून) की एकान्त रम्य बस्ती में रहा था।

शहरिये लोग ग्रामवासियों को मूर्ख समझते व कहते हैं किन्तु मेरी धारणा यह है कि यद्यपि वे अख़बार आदि नहीं पढ़ते, बड़े कहलानेवालों के संसर्ग से दूर रहते हैं, तथापि वे मनुष्यों को खूब पहचानते हैं। देश की स्थिति व आन्दोलनों की वार्त्ता सुनकर ऐसा ठीक मत प्रकट करते हैं कि शिक्षित पुरुष को भी चकित रह जाना पड़ेगा। यद्यपि ग्राम-पञ्चायत की पुरानी प्रथा नष्ट हो गई है तथापि वे जब कभी किसीका फ़ैसला करते हैं तो वह ऐसा होता है कि उसके सम्मुख वर्त्तमान अति त्रासदायिनी, बहुव्ययविधायिनी न्याय-पद्धति भी उपहासास्पद ठहरेगी।

कालचक्र-वश इनमें वह पुराना सङ्गठन नहीं रहा, इसलिए वे भीरु बन गये हैं। यदि देश के सहस्रों नवयुवक, जो शिक्षित हैं, उत्साही हैं, किन्तु नौकरी के लिए तरसते रहते हैं, पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से अपना स्वरूप भूल चुके हैं; ग्रामों में जा बैठें, ग्रामवासियों में मिल जायँ, उनके सुख-दुःख को अपनायें तो भारतवर्ष की दशा और की और हो जाय।

पर हो कैसे जाय? उनको तो आत्मविश्वास ही नहीं, उनको तो धैर्य ही नहीं कि तीन-चार वर्ष लगाकर अनुभव तो कर देखें। हाँ,वहाँ जी लगने की रौनक़ नहीं रहती, वहाँ चुपचाप बैठने पर अख़बारों में नाम नहीं निकलता,वहाँ खूब पैसे नहीं मिलते। किन्तु जो ग्रामों में रहेगा, उन-जैसा होकर रहेगा, उनके सुख-दुःख का साथी होगा, अभिमान छोड़कर सेवा-भाव का आश्रय लेगा,उसको कभी भी कपड़ा-लत्ता, रोटी आदि का घाटा नहीं रहेगा; उस की सब ज़रूरतें, यदि वे सीमित रहेंगी, तो अवश्य पूरी होंगी।

मैं यह पूछता हूँ कि आज-कल के शिक्षित नवयुवकों का जीवन भी क्या है। ऊपर से दीखने को सफ़ेद-पोश, शेष भीतर सब खोखला ही खोखला है। इससे ग्रामों में जाकर ग्राम-सेवा सहस्र गुण अच्छी। यदि ग्राम-सेवा अथवा ग्राम-सङ्गठन करनेवाले व्यक्ति अविवाहित हों, अविवाहित रहकर ग्राम्-सेवा करना चाहें, तो ग्राम में रहते हुए उनको निम्नलिखित बातों का अवश्य ध्यान रखना पड़ेगा, जिनके विना सफलता तो दूर रही, वहाँ टिकना भी कठिन है:-१ सब प्रकार का संयम; २ आहार-व्यवहार में नियमितता; ३ सादा वेष, साधारण रहन-सहन; ४ कष्ट-सहिष्णुता, त्याग; ५ सत्य-सरलता; ६ दलबन्दी से दूर रहना।

इन छः बातों का ध्यान रखकर जो बर्त्तेगा उसका तो यहाँ राज्य समझिए। वह शीघ्र ही ग्रामवासियों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाकर उसका अधिदेवता बन जायगा।

ग्रामवासी भले ही साक्षर न हों तथापि वे बुद्धू नहीं होते। दो-चार दिन में ही परख लेते हैं कि यह नवीन व्यक्ति किस प्रकार का है। शीघ्र ही ग्राम में उस व्यक्ति का गुण-दोष-निरूपण होने लगता है। यदि ग्रामवालों का विश्वास बढ़ता गया तो ठीक ही है। यदि एक बार भी विश्वास उठ गया, फिर हज़ार यत्न कीजिए, ग्राम में पैर टिकना कठिन है।

कभी-कभी चुस्त-चालाक शिक्षित ग्रामों में जाकर ग्रामवासियों को ठगते हैं, पर इससे शिक्षितों के लिए ही हानि है। वे ग्रामवासी समझते हैं कि इसने पढ़-लिखकर क्या किया, यह तो ठग है। फिर अन्य कोई भला शिक्षित भी पहुँचता है, तो उसके मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ग्रामवासी कहने लग जाते हैं कि पहले एक ऐसा ही आया था, वह ऐसा कर गया, यह न जाने कैसा है। ऐसी दशा में वे बहुत दिनों में देख-भालकर विश्वास करेंगे।

किसी ग्राम-सङ्गठन के इच्छुक को स्थानिक दलबन्दी में नहीं पड़ना चाहिए। शहरियों की दलबन्दी व ग्रामवासियों की दलबन्दी में बड़ा भेद है। वहाँ बाप-दादाओं के समय की शत्रुता व मित्रता परम्परा से चलती रहती है और झमेलों में जो पड़ेगा, वह ग्राम-सङ्गठन तो क्या करेगा, अपना रहा-सहा भी खोयेगा। मिलने के लिए ऐसे स्थानों में मिलना चाहिए, जहाँ सब आ सकें। कोई किसीके यहाँ नहीं जाता, कोई किसीकी चौपाल में नहीं जाता; वहाँ ऐसी दशा रहती सेवक को तो उनकी परस्पर बातों का, मन-मुटावों का ध्यान न रखते हुए सबके यहाँ समान रूप से पहुँचना, बैठना, मिलना चाहिए। तभी वह कुछ कर सकेगा। ग्रामवासियों की भीरुता, जो कि अज्ञान के कारण ही है, निकालने का यही उपाय है; उनको मिलाने का यही उपाय है।

[२]

पहले ग्रामों में जाकर लोगों के सब समाचार जानने चाहिएँ। फिर धीरे-धीरे यथा-योग्य बर्त्ताव द्वारा उन्हें वश में करते रहना चाहिए। जितने सरकारी अफ़सर जाते हैं—पटवारी से लेकर ऊपर तक—सब ग्रामवालों पर ही रौब बैठाते जाते हैं। ग्रामवालों को सीधा सम्बन्ध दो से अधिक रहता है—पटवारी और पुलिस से। ये जो चाहे करते हैं, जैसे चाहें उन्हें बहकाते रहते हैं। शेष अफ़सर तो कभी-कभी आते हैं, थोड़ी देर के लिए आते हैं, फिर वर्ष-दो वर्ष के पश्चात् चक्कर लगता है। यदि ग्राम में से नहर अथवा बम्बा गया हो तो नहर का पतरौल व अमीन भी ग्रामवालों के लिए सरकार ही समझिए। इन उपर्युक्त तीनों के अत्याचारों से बचें, तो फिर ग्रामवासी अपने को सुखी समझते हैं। यथाशक्ति इनको ले-देकर ग्रामवासी अपना काम साध लेते हैं और इनसे पिण्ड छुडाते हैं। नहीं तो इन तीनों में वह शक्ति है कि ग्रामवासियों को किसी न किसी बहाने बराबर हैरान करते रहेंगे। सङ्गठन का इच्छुक व्यक्ति यदि इनके अत्याचारों की मात्रा किसी अंश में कम कर सके तो वह ग्रामों में देवता समझा जायगा।

ग्रामवासियों में मद्य का व्यसन इतना अधिक घुस गया है कि खान्दान के खान्दान तबाह हो गये। यदि समझा-बुझाकर यह व्यसन दूर हो सके तो कहना ही क्या है। पर देखा गया है कि समझाने-बुझाने से थोड़ी देर के लिए भले ही दब जाय किन्तु भट्टी के देखते ही फिर उभर उठता है। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो भट्टी न रहे, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए। वह कैसे हो सकता है—यह कठिन प्रश्न है। लेखक ने भोगपुर में ग्रामवालों को इतना पक्का किया था कि भट्टी के लिए ग्राम में स्थान ही न मिल सका। इसका फल यह हुआ कि वह भट्टी वहाँ

से पाँच मील दूर चली गई और बहुत लोग दुर्व्यसन से बच गये। वहाँ कन्या-विक्रय बहुत चलता था। पहाड़ से लड़कियाँ लाकर चुपचाप बेची जाती थीं। समझाने से यह बात भी बहुत घट गई। उधर टिहरी राज्य ने क़ानून पास किया कि टिहरी राज्य की लड़की देहरादून से आगे नहीं जा सकेगी अर्थात् उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा; विक्रय के लिए भी दण्ड नियत हुआ। इससे भी कुछ रोक-थाम हुई।

इसी प्रकार धीरे-धीरे कार्य करते रहने से सब काम बनते जायँगे। पर हैं यह काम आसन बाँधकर बैठने के, हैं यह काम बड़े धैर्य के, जीते-जी जो अपने आप को मारे उसके करने के। कांग्रेस ने अपने कार्यक्रम में ग्राम-सङ्गठन पर बहुत बल लगाया है। उधर साम्यवादी दल किसान व मज़दूरों के राज्य की बात कर रहा है, किन्तु त्यागी, श्रद्धालु, कष्ट-सहिष्णु, धैर्यशाली सेवकों के विना यह कार्य किस प्रकार सफल हो सकेगा—यह एक चिन्तनीय विषय है। दस-दस, बीस-बीस ग्रामों के लिए यदि एक-एक भी ऐसा शुश्रूषु सेवक मिल जाय तो समझना चाहिए कि भारत के भाग्य पलटने लगे। यह स्पष्ट है कि उसकी सेवा को लोग कम जान पावेंगे, यह भी स्पष्ट है कि उसका नाम अख़बारों में नहीं निकला करेगा; किन्तु देश व धर्म को मूक सेवा; देश व धर्म के लिए मूक त्याग भी तो एक अपूर्व सेवा है, अपूर्व बल है, चाहे उसे कोई जान पावे अथवा नहीं; चाहे उसकी सेवा की डौंडी पिटे या नहीं। ईश्वर तो देखनेवाला है, कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यह भावना रहो, तो फिर किसी बात की चिन्ता ही क्या है।

ग्रामों में राजनीतिक कार्य ही होना चाहिए—यह बात नहीं। समाज की कुरीतियों का निवारण, धर्म-प्रचार आदि कार्य भी होते रहने चाहिएँ। ग्रामवासियों में धार्मिक भाव-

नाओं को जागृत करके वीर-पूजा चलानी चाहिए। समय-समय पर वीरोत्सव होने चाहिएँ। जब इस प्रकार सर्वत्र सेवक बैठ जायँगे तब कुछ हो सके तो हो सके। किन्तु नवयुवकों की दशा देखकर मैं तो चकित हूँ। इतने पढ़े-लिखे लोग पड़े हैं, नौकरी के पीछे। 'यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो, मा ब्रूहि दीनं वचः'—इस दीनता को हो नहीं छोड़ रहे हैं। स्कूलों और कालेजों में गिजाई की तरह क्लासों में छात्रगण ठूँसे जा रहे हैं, सैकड़ों-सहस्रों को धक्के मिल रहे हैं कि, 'जगह नहीं है, जाओ।' तो भी उसीके पीछे मर रहे हैं; वहाँ कुढ़ रहे हैं; वहीं घुल रहे हैं। वही हिस्ट्री आफ़ इङ्गलैण्ड, वही भारत को निस्तेज करने-वाला इतिहास, वही कोरी साइन्स, वही कोरी ड्राइङ्ग की लकीरें—बस, इसीमें मर रहे हैं। ईश्वर जाने क्या होनेवाला है? भारतवर्ष में इतना घोर आन्दोलन हो चुका, कष्टों की भी पराकाष्टा हो चुकी, पर इनकी वही बात! इधर 'महात्मा गान्धी की जय', 'वन्दे मातरम्', 'इन्क़लाब' और उधर फिर स्कूल की पोथी बग़ल में! उधर फिर वही ग़ुलामख़ाने की तैयारी! पता नहीं, भारतवर्ष के तेतीस करोड़ देवताओं के भाग्य की गुत्थी कब सुलझेगी? यह निश्चय जानिए, भारतवर्ष का मस्तिष्क ऐसा फिर गया है कि उसका इलाज अभी ठीक नहीं होने पाया। भारतवर्ष के हृदय पर ऐसा आतङ्क छा गया है कि अभी वह पूर्ण रूप से निकल नहीं पाया। स्व० लोकमान्य तिलक व महात्मा गान्धी ने भारतवर्ष के मस्तिष्क व हृदय पर पड़े हुए पाश्चात्यों के आतङ्क को हटाने के लिए घोर प्रयत्न किया है; किन्तु जिस रोगी के अभी अच्छे दिन नहीं आये उस निर्बल रोगी को, प्रबल सञ्जीवनी की मात्रा दिये जाने से भी क्या होगा? वह तो इतना कमज़ोर हो गया है कि उस मात्रा को भी नहीं पचा सका है। कुछ दशा सुधरे तो सञ्जीवनी दी जाय।

२—कांग्रेस या नौकरशाही ?

असेम्बली के वोटरों के प्रति दो शब्द

:o:

कलकत्ते में नेशनलिस्ट पार्टी का सङ्गठन हो ही गया—अनहोनी हो ही गई। वही कांग्रेस का क्रीड रखा गया। जो कांग्रेस के क्रीड पर हस्ताक्षर करेगा, वही इस पार्टी का सदस्य बन सकेगा। केवल कम्यूनल अवार्ड को छोड़कर शेष सब बातों में यह पार्टी कांग्रेस पार्लियामेण्टरी बोर्ड का साथ देगी—

"क़िस्मत को देख टूटी है जाकर कहाँ क़मन्द।
कुछ दूर अपने हाथ से जब बाम रह गया।"

पटने में स्वराज्य-पार्टी का सङ्गठन होने जा रहा था। स्वराज्य-पार्टी वाले अपना पृथक् ही सङ्गठन रखना चाहते थे। किन्तु तब महामना मालवीयजी अड़ गये कि स्वराज्य-पार्टी का पृथक् सङ्गठन नहीं होना चाहिए। आख़िर आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी ने अपनी ओर से ही कांग्रेस पार्लियामेण्टरी बोर्ड बना डाला और निश्चय हुआ कि सब कार्य कांग्रेस की आज्ञा, आदेश-निदेश, अनुशासन के अनुसार हों। यहाँ तक तो सब ठीक रहा।

वर्धा में आल इण्डिया कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हुई और कम्यूनल अवार्ड के विषय में यह पास किया गया कि कांग्रेस समस्त भारतवर्ष की प्रतिनिधि-संस्था है इसलिए उसको स्वतन्त्रतापूर्वक ही लोकमत प्रकट करना चाहिए। एक ओर मुसलमान लोग कम्यूनल अवार्ड को स्वीकृत कर रहे हैं, दूसरी ओर हिन्दू और सिक्ख उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। ऐसी दशा में कमेटी का मत है कि वह इस अवार्ड को, चाहे वह पक्षपात-

पूर्ण व निराशाजनक है तो भी, न तो स्वीकार ही कर सकती है और न निषेध ही कर सकती है।

बस, इस निर्णय पर महामना मालवीय व श्री अणे ने परित्याग-पत्र दे दिया था। फिर किसी प्रकार मनाये जाने पर उन्होंने परित्याग-पत्र इस आशा पर वापस लिये कि फिर वर्किङ्ग कमेटी में पूर्वोक्त निर्णय पर विचार होगा। महामना मालवीयजी ने उस समय स्पष्ट कहा था कि "मैं कांग्रेस को धक्का नहीं पहुँचाना चाहता।" तब से बनारस की वर्किङ्ग कमेटी तक भारतीय जनता सन्देह में रही कि 'क्या होता है, देखें, क्या होता है।'

बनारस की वर्किङ्ग कमेटी में फिर उस वर्धा वाले निर्णय पर विचार हुआ और वह अपनी ही बात पर अड़ी रही। उसने श्री मालवीय व अणे को कम्यूनल अवार्ड के विषय में असेम्बली में स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत प्रकट करने की अनुमति भी दे दी थी, किन्तु महामना मालवीय व श्री अणे चाहते थे कि पार्लियामेण्टरी बोर्ड के अन्य सदस्यों को भी स्वतन्त्र मत देने की अनुमति मिले। बस, इस बात को वर्किङ्ग कमेटी ने नहीं माना। फिर महामना मालवीयजी व श्री अणे के इस्तीफ़े आये, दुःखपूर्वक स्वीकार किये गये और मालवीयजी व गान्धीजी परस्पर गले लगकर दुःखपूर्वक विदा हुए। उसके पश्चात् महामना मालवीयजी ने घोषणा की कि नेशनलिस्ट पार्टी की ओर से भी कांग्रेस के ही कोड को माननेवाले सदस्य खड़े किये जायँगे।

अब तो नेशनलिस्ट पार्टी की सृष्टि हो गई, नियमोपनियम भी बन गये और नेशनलिस्ट पार्टी का पत्थर बड़े ज़ोर से लुढ़कने लगा है और पता नहीं अपने मार्ग में किस-किस को ले जायगा। केवल कम्यूनल अवार्ड के प्रश्न पर इतने बड़े दल हो

गये। और चाहे वही क्रीड कर्यों न रहे, चाहे यह क्यों न बार-बार घोषित किया जाय कि नेशनलिस्ट पार्टी कांग्रेस का पूरा पूरा साथ देगी, तो भी जब उम्मीदवार मैदान में आयेंगे, तब ज़रूर ठनेगी और खूब ठनेगी।

तब जनता के सामने यही प्रश्न होगा, वोटरों के सामने यही प्रश्न होगा कि कांग्रेस या नेशनलिस्ट पार्टी ? महात्मा गान्धी अथवा महामना मालवीय ?

अभी हाल ही में "हिन्दुस्तान-टाइम्स" में 'शङ्कर' ने एक सुन्दर भावपूर्ण कारटून बनाया है। महात्मा गान्धी और महामना मालवीय ने आकाश में अपने-अपने पतङ्ग छोड़े हैं। अभी दोनों पतङ्ग अलग-अलग उड़ रहे हैं, चक्कर काट रहे हैं, अभी एक-दूसरे की काट नहीं कर रहे हैं, वैसे पास-पास आ गये हैं। महात्माजी का पतङ्ग ज़रा भारी-सा प्रतीत होता है, महामना मालवीयजी का पतङ्ग ज़रा हलका-सा है और दीखने में सुन्दर है। दर्शक लोग उत्सुकता से देख रहे हैं और इस सन्देह में पड़े हैं कि किसकी जय मनायें। इस समय यह दशा है। इतने बड़े ऐतिहासिक सत्याग्रह-संग्राम के पश्चात् आपस की पतङ्ग-बाज़ी देखने का दुर्भाग्य आ गया है। इसलिए हम कहते हैं कि—

"ख़ूब उम्मीदें उठीं लेकिन हुईं हरमां नसीब;
बदलियाँ उट्ठीं मगर बिजली गिराने के लिए।"

इसका अर्थ यह है कि आशा-पुञ्ज तो ख़ूब उठे थे किन्तु भाग्य में निराशा ही थी। बादल तो ख़ूब उठे थे, किन्तु यह क्या पता था कि ये बिजली गिराने के लिए ही उठे हैं।

पर प्रश्न यह नहीं है कि महात्मा गान्धी अथवा महामना मालवीय? प्रश्न यह है और यही होना चाहिए कि 'कांग्रेस या नौकरशाही ?'

—:o:—

एकादश गुच्छक

१—मसूरी का पाप-पुण्य

यह मसूरी टिहरी राज्य का भाग है, किन्तु अंग्रेज़ों ने टिहरी राज्य से दवामी पट्टे पर ले रखी है। सरकार महाराजा को ज़मींदारी हक़ के तौर पर नौ सौ कितने रुपये वार्षिक दिया करती है। बस, इतना ही महाराज टिहरी का हक़ समझिए। कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में जो कहा है—

'तस्माद् गच्छेरनुकनखलं द्रोणागिर्याश्रमेषु'—

वह द्रोणगिरी यही मसूरी है। किसी समय यह शैल पौरस्त्य विद्या का केन्द्र था; आज पाश्चात्य सभ्यता का विषम दुर्ग है। किसी समय यहाँ ऋषि-मुनि उग्र तप तपते थे, आज यहाँ पापाचरण का गढ़ है। इससे यह न समझ बैठिएगा कि यहाँ पुण्य कुछ होता ही नहीं। सहस्रों नर-नारियों के स्वास्थ्य यहीं सुधरते हैं। नेताओं का स्वास्थ्य यहीं सुधरता है। पं० मोतीलाल नेहरू स्वास्थ्य-सुधार के लिए यहीं आया करते थे। पं० जवाहरलालजी यहीं आया करते थे। आज भी पण्डितजी मसूरी को तराई अथवा तलाई देहरादून में हैं। महामना मालवीयजी भी यहीं से स्वस्थ होकर पूना की ओर गये।

मसूरी में भारतवर्ष के ही नहीं अपितु संसार के कोने-कोने से यात्री आते ही रहते हैं, क्योंकि प्रसिद्ध तीर्थ गंगोत्तरी, जमनोत्तरी, बदरी-केदार, बदरीनारायण का मार्ग भी यही है। मसूरी में संसार भर के विद्वानों से सत्सङ्ग हो जाता है। किन्तु इस पुण्य-कथा के अतिरिक्त अब पाप-कथा भी सुनिए।

पाश्चात्य सभ्यता के उपासकों के लिए लगभग तीस गौओं का संहार प्रतिदिन होता है। इसके अतिरिक्त तीस भेड़ें और साठ बकरे प्रतिदिन यमपुरी को भेजे जाते हैं। दूसरे प्राणियों का प्राणापहरण करके उनके माँस से स्वशरीर को पुष्ट करनेवालों से क्या कहा जाय ? यहाँ प्रतिदिन बीस सहस्र रुपये की शराब उड़ती है। लोग आते ही हैं इसी मौज-बहार के लिए। नाच-रङ्ग की तो बात ही न पूछिए। सिनेमा, टाकी आदि के विना तो मसूरीवासियों को चैन कहाँ ? पैलेडियम, हैकमैन, स्टिफिल, चार्लिविली—इन चार स्थानों में दिन में कई वार नाच-तमाशे होते हैं और हमारे ही देशी भाई-बहनें व राजे-महाराजे दर्शक बनकर होटलवालों की कमाई को शत-गुण बढ़ाते रहते हैं। कुत्सित, नग्न नृत्य देखकर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं। मसूरी शैल पर आते ही हमारे भाई अंग्रेज़ों के बच्चे बन जाते हैं। स्व-वेश, स्व-भूषा, स्व-भावों को देहरादून में ही छोड़ आते हैं। यहाँ प्रतिदिन एक लाख अण्डों की खपत है। प्रतिदिन कम से कम एक लाख रुपये का विदेशी कपड़ा बिकता है। स्वदेश की दूकानें केवल तीन और विदेशी दूकानों से सारी मसूरी भरी पड़ी है।

यहाँ यूरोपियन बालक व बालिकाओं की पढ़ाई के लिए लगभग सत्रह स्कूल व कालेज हैं। किन्तु हिन्दुओं का एकमात्र धनानन्द हाईस्कूल है, जिसमें लगभग दो सौ छात्र पढ़ते हैं। साथ में बोर्डिङ्ग का भी प्रबन्ध है। इस बोर्डिङ्ग में केवल छः छात्र हैं, किन्तु यूरोपियन बोर्डिङ्गों में हमारे ही बालकों की संख्या सैकड़ों है। लोगों का अपनी संस्थाओं को ओर ध्यान ही नहीं। दस-गुना अधिक खर्च करके दूसरों के स्कूलों में पढ़ायेंगे। बच्चों को विदेशी, अस्वाभाविक पद्धति में पलवाकर सदैव के लिए अनेक अंशों में बिगाड़ डालते हैं। यहाँ के प्रसिद्ध रईस

व ठेकेदार श्री पं० राधावल्लभजी खण्डूडी तीस सहस्र रुपये दान देकर घनानन्द हाईस्कूल न बनवाते तो हिन्दुओं का एक भी अच्छा स्कूल न होता। कन्याओं की शिक्षा के लिए दो कन्या-पाठशालाएँ हैं। एक आर्यसमाज की, दूसरी सनातनधर्म की। इन दोनों में उन्नति की बहुत गुञ्जायश है।

धार्मिक सोसाइटियों में ईसाइयों के कई गिरजाघर हैं; आर्यसमाज है; सनातनधर्म सभा है; सिंहसभा है। सामाजिक उन्नति के लिए हिन्दू सभा, गढ़वाली सभा आदि अनेक सभाएँ हैं। मुसलमानों की अंजुमन भी है। एक इस्लामिया स्कूल भी है। यह सब कुछ होते हुए भी मसूरी का वातावरण पाश्चात्य सभ्यता के विष से ओत-प्रोत है, इसलिए छात्रजनों पर विपरीत परिणाम होता ही रहता है।

मसूरी का एक और बड़ा पाप यह है कि दो सहस्र कुली, जिनके खींचे हुए रिक्षा में लोग इधर-उधर शान से दौड़ते-फिरते हैं, जिनके कन्धे पर चढ़कर आते हैं व उतरते हैं और जो न हों तो मसूरी में एक मिनट रहना असम्भव हो जाय, उन कुलियों को बड़ी दुर्दशा है। उनके ठहरने के लिए न कोई अच्छा स्थान है, न उनको पर्याप्त भोजन ही मिलता है। ये लोग गढ़वाल, नैपाल, कश्मीर, तिब्बत आदि से छः मास के लिए आते हैं और फिर चले जाते हैं। सैकड़ों कुली हिमऋतु में भी यहीं पड़े रहते हैं।

अब काल-प्रभाव से मसूरी में अङ्गरेज़ों की संख्या घटती जाती है। परदेशी अङ्गरेज़ों के बँगलों में अब स्वदेशी अङ्गरेज़ बहादुरों का वास है। यहाँ की म्युनिसिपलिटी में पहले-पहल अङ्गरेज़ सदस्यों का प्रभुत्व था, केवल एक देशी सदस्य रहा करता था। अब चौदह सदस्यों में तीन अङ्गरेज़ सदस्य रहते हैं। एक हरिजन सदस्य भी है।

जब तक मोटर व लारियाँ सनीब्यू तक नहीं आती थीं, तब तक कुलियों को बहुत रोज़गार था; अब कम है।

इस प्रकार संक्षेप से मैंने मसूरी के पाप-पुण्य का उल्लेख किया है।

महामना मालवीयजी ७ जुलाई को यहाँ से देहरादून गये। चलते-चलते वह कह गये हैं कि—"मसूरीवालो! सम्हलो! पापमय प्रवृत्तियों से बचो, द्रोणगिरी के कलङ्क को धो डालो।" उनका मुख्य सन्देश यह है कि ऐसा यत्न करो कि शराब क़तई बन्द हो जाय। यह महापाप सदैव के लिए मिट जाय।

२—हरिजन-मीमांसा

:०:

दरिया की लहर है, कभी इधर है तो कभी उधर। किसी बड़ी नदी की जो दशा होती है, वही प्रायः आन्दोलनों की दशा रहती है। नदी की मुख्य धारा के एक होने पर भी उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अथवा धारा-उपधाराएँ अनेक होती हैं। कभी-कभी कोई-कोई धारा मुख्य धारा से पृथक् होकर, दूर-दूर बहती हुई और मुख्य नदी से भिन्न नाम धारण करती हुई सुदूरवर्त्ती प्रदेश में फिर मुख्य धारा में आ मिलती है। देशोन्नति की मुख्य धारा से भिन्न प्रदेश में बहती हुई अन्य आन्दोलन-धाराओं के प्रवाहों की भी यही बात है। हरिजनों का प्रश्न भी इसी प्रकार का है। यद्यपि हरिजनों के प्रश्न को शुद्ध धार्मिक अथवा सामाजिक स्वरूप रखकर उसका आन्दोलन कांग्रेस से पृथक् चलाया जा रहा था, फिर भी पूना-पैक्ट से मुख्य प्रश्न में अर्थात् स्वराज्य के प्रश्न में सम्मिलित हुआ ही महात्माजी का कठोर व्रत हरिजनों के उद्धारार्थ ही था—यों क्यों न कहिए कि व्यापक देश-हित की दृष्टि से ही था। और भी व्यापक दृष्टि से कहना हो तो यह कह सकते हैं कि संसार भर के अछूतपन को मिटाने के लिए था, चाहे वह अछूतपन धार्मिक, सामाजिक, अथवा राजनीतिक किसी भी कारण से प्रचलित हुआ हो। तत्त्ववेत्ता रोम्याँ रोलाँ ने महात्माजी के पत्र में यही बात कही है। भारतवर्ष में धार्मिक अछूतपन की प्रबलता है तो अन्य देशों में गोरा व्यक्ति काले को अछूत समझ रहा है। पीतवर्णी जापान अपने ही

पड़ोसी पीतवर्णी भाई चीन को अछूत समझ रहा है। अमेरिका में नीग्रो अछूत समझे जाते हैं। अफ़रीका तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय सबके सब अछूत समझे जा रहे हैं। सारांश केवल भारतवर्ष में ही क्या, हरिजन हैं सर्वत्र सब देशों व राष्ट्रों में। इन सबका अछूतपन मिटे, सब सबको भाई की दृष्टि से देखें, इस महान् उद्देश्य से यदि महात्माजी का उपवास था, तो उसकी महत्ता की सीमा ही नहीं हो सकती।

भारतवर्ष में डबल अछूतपन है। एक धार्मिक व दूसरा राजनैतिक। राजनैतिक दृष्टि से समस्त भारतवर्ष ही अछूत है। धार्मिक अथवा सामाजिक बन्धनों अथवा रूढ़ियों की दृष्टि से केवल ५-६ करोड़ हिन्दू अछूत समझे जाते हैं। इनका राजनैतिक अछूतपन तो सब भारतवासियों के साथ ही मिटेगा। शेष रहा धार्मिक व सामाजिक अछूतपन, सो निकल रहा है और बड़े वेग के साथ निकल रहा है। महात्मा गान्धी की कृपा से उच्च वर्ण के लोग स्वयं नये हरिजन बनकर पुराने हरिजनों के मुहल्ले साफ़ कर रहे हैं; उनके बच्चों को नहला-धुलाकर, स्वच्छ कपड़े पहनाकर अपने बच्चों का सा बना रहे हैं; इनके लिए मन्दिर खुल रहे हैं; वे कुँओं पर चढ़ाये जा रहे हैं और उत्साह का दरिया बढ़ रहा है; इनके लिए पाठशालाएँ खुल रही हैं; इनकी आर्थिक समस्या को हल करने के लिए कोआपरेटिव बैङ्कों की तैयारी हो रही है। यह सब-कुछ उच्च वर्णों की तरफ़ से हो रहा है, तो भी हम यह कहेंगे कि हरिजन-मण्डल अभी समय की गति से लाभ नहीं उठा रहा है; स्वयं कुछ हिल-डुल नहीं रहा है। उनको याद रखना चाहिए कि उनका कोई पुण्य शेष था कि महात्मा गान्धी-जैसा संसार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष उनके उद्धारार्थ प्राण-पण से उद्यत है।

इसलिए उनको भी कुछ हिलना-डुलना चाहिए, नहीं तो कहीं 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' वाली कहावत चरितार्थ न हो जाय। हिन्दू जाति के नायक ब्राह्मणों को उचित है कि युग की गति को समझकर कुछ अंशों में युगरूप बनें और हरिजनों को उठने में सहायता देवें। वशिष्ठ-स्मृति कहती है कि–'युगरूपा हि ब्राह्मणाः'—ब्राह्मण युगरूप होते हैं; देश-काल को परिस्थिति को देखकर जनता को मर्यादा में चलाने के हेतु व्यवस्था बाँधते हैं। जिन उदार ब्राह्मणों व धर्माचार्य्यों के पूर्वजों ने अन्य सैकड़ों जातियों को अपनाकर अपना बना लिया, आज हम उन्हींकी सन्तान अपने ही भाइयों को गले न लगाएँ–यह आश्चर्य व दुःख की बात होगी। मेरा कहना यह है कि अवस्था देखकर व्यवस्था दो अथवा बदलो। यदि आपको कांग्रेस की, आर्यसमाज की अथवा अन्यों की बात पसन्द नहीं, तो आप अपनी नई व्यवस्था बनाकर इनको अपनाइए, उचित बन्धनों को रहने दीजिए, अनुचित व अत्याचार-पूर्ण बन्धनों को उड़ा दीजिए। भारतवर्ष की समस्या या तो हरि (भगवान्) के हाथ में है अथवा हरिजनों के हाथों में है।

३—स्वामी श्रद्धानन्द के संस्मरण

———:०:———

यदि स्वामी श्रद्धानन्दजी में उदारता, निर्भयता व साहस-ये तीन गुण प्रमुखता से विद्यमान न होते, तो वे कोई भी कार्य न कर सकते। उनमें सरलता भी बेहद थी और किसी पर भी शीघ्र विश्वास कर बैठते थे। उद्देश्य-सिद्धि में बाधा पड़ती हो तो वे अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी छोड़ने को तत्पर रहते थे। शीघ्रता में कुछ कर बैठते तो शीघ्र ही उसका प्रतीकार भी कर डालते थे। वैसे वे पार्टी-स्पिरिट के व्यक्ति नहीं थे। आर्यसमाज के सङ्कुचित क्षेत्र की परिस्थिति के कारण ही एक शान्त व्यक्ति को भी एक प्रमुख दल का अग्रणी बनना पड़ा और दलबन्दी में जो करना पड़ता है करना पड़ा। जब वह संन्यास लेकर विस्तृत क्षेत्र में आये तब स्वामीजी का असली विशाल रूप प्रकट हुआ। आर्यसमाज में लोगों ने उनके सरल स्वभाव से बहुत लाभ उठाया, उनसे कई वार कई अनर्थ करा डाले। स्वामीजी ने, जब मौक़ा मिला, सब अनर्थों का प्रायश्चित्त कर डाला। स्वामीजी बीच में रहना नहीं जानते थे। वे या तो इस सिरे पर रहते या उस सिरे पर। जब रहते, तब सिरे पर। मनुष्य को ऐसा पहचानते थे कि वह जिस योग्य होता था उसी योग्यता का काम उसको सौंपते थे। उनकी फ़ौज की लाइन कभी नहीं टूटने पाती थी। उनको कार्यकर्त्ता व सहयोगियों का कभी घाटा नहीं रहता था। जहाँ एक व्यक्ति हाथ से निकला कि दूसरे दो तैयार रहते थे। वे जिसको एक वार अपना कहते, भरसक उसका

साथ देते थे। उसके दोष भी अपने सिर पर लेते थे। आर्य-सामाजिक क्षेत्र की चर्य्या से यह स्पष्ट है। यदि ऐसा महान् व्यक्ति प्रारम्भ से ही व्यापक क्षेत्र में पड़ता तो बहुत कार्य होता। स्वामी श्रद्धानन्दजी को बहुत सी शक्ति, आर्यसमाज में रहते, स्वात्मरक्षा में गई। इनके साथ बहुतों ने टक्करें लीं। पर महात्मा मुन्शीराम डरनेवाले नहीं थे, झिझकनेवाले नहीं थे, वे रुकनेवाले नहीं थे। किसी भी आह्वान को तुरन्त स्वीकृत कर लेते थे और सामने आ डटते थे। इन पंक्तियों के लेखक को उनकी संरक्षता में रहने का, उनके साथ काम करने का, उनसे मोर्चा लेने का भी अवसर मिला था और लेखक यह मानने को तैयार है कि स्वामी श्रद्धानन्दजी उदार थे। आर्यसमाज की सङ्कुचित दलबन्दी ने उनके स्वभाव पर कुछ काल के लिए आवरण-सा डाल रखा था। लेखक ने लाहौर में स्वामी श्रद्धानन्द को महासभा-पार्टी के नेता महात्मा मुन्शीराम के रूप में देखा; जालन्धर में प्लीडर के रूप में देखा; काँगड़ी में मुख्याधिष्ठाता के रूप में देखा; राजनैतिक क्षेत्र में सहयोगी के रूप में देखा और निःसङ्कोच कह सकता है कि यदि देहली की बलिदान वाली उग्र घटना न हुई होती तो स्वामी श्रद्धानन्द राष्ट्रीय रङ्ग में और ही दिखाई देते। देहली वाली घटना का रङ्ग ऐसा उग्र चढ़ा है कि और सब रङ्ग छिप गये, आँखों से ओझल हो गये, स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते।

जिस समय देहली वाली घटना हुई, तब भारतवर्ष में हिन्दू-मुसलिम-समस्या बहुत ज़ोर पकड़ गई थी। इसलिए स्वामी श्रद्धानन्दजी की घटना को हिन्दुओं ने इतना महत्त्व दिया कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। मुसलमानों ने उस घटना को और ही रूप दिया। इस खींचातानी में उदार, निर्भय, विशाल-हृदय, साहसी श्रद्धानन्द का चित्र और ही प्रकार से रँगा गया।

एक बात मैं यहाँ स्पष्ट कहूँगा कि जब तक कोई व्यक्ति आर्यसमाज में चौबीसों घण्टे काम करता रहे, आपे को भूलकर तन-मन अर्पण करता रहे, तब तक लोग उसके पीछे हाथ धोकर पड़े रहते हैं, उसे काम नहीं करने देते; और जहाँ वह आर्यसमाज के सङ्कुचित क्षेत्र से निकला, दूसरी ओर चार हाथ मारे और आकाश में ऊँचा उड़ने लगा कि आर्यसमाजी एक स्वर से उसे अपनाने लगते हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजी की यही बात हुई। अन्य आर्यसमाजी कार्यकर्त्ता जो राष्ट्रीय कार्य में संलग्न हुए, उनकी भी यही दशा हुई। लेखक को इस विषय में अपना विशेष अनुभव है। जब स्वामी श्रद्धानन्दजी को हिन्दुओं ने पूर्ण रूप से अपनाया, कांग्रेस ने अपनाया और मुसलमानों तक ने अपनाया, तब आर्यसमाजी कहने लगे कि स्वामीजी को आर्यसमाज का ही काम करना चाहिए था; यह क्या किया? मैंने कई महानुभावों को यही उत्तर दिया कि म० मुन्शीराम आर्यसमाज में समा नहीं सके, इसलिए विशाल क्षेत्र में उतरे हैं। आर्यसमाज में रहते स्वामीजी को अपना शान्त स्वभाव छोड़कर किस प्रकार 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' करना पड़ा इसको उनकी लिखित 'दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तां' नामक वृहत्काय उर्दू पुस्तक के अवलोकन से जान सकते हैं।

लेखक ने स्वामी श्रद्धानन्द को कार्यकर्त्ता, अधिष्ठाता, व्याख्याता, सम्पादक, लेखक, सहयोगी, नेता आदि सभी दृष्टियों से देखा है। स्वामी श्रद्धानन्द नैपोलियन की तरह एक स्थान पर नहीं रहे, क्योंकि जहाँ सेना की कमज़ोरी देखी, वहीं कूद पड़ते थे। वहाँ ठीक कराकर अन्यत्र जा धमकते थे। उनकी इस मनोवृत्ति को न समझ सकने के कारण लोग उनपर अस्थिरता का दोष लगाते हैं; पर यह उनकी भूल है। आर्यसमाज में

रहे तो सबसे आगे; शुद्धि-सभा में रहे तो सबसे आगे; हिन्दू महासभा में देखो तो सबसे आगे; कांग्रेस में देखो तो सबसे आगे; समाज-सुधार में देखो तो वह चले सबसे आगे; इस तरह वह आगे ही आगे चलना जानते थे। समयज्ञ ऐसे थे कि क्या मजाल कि समय चूकें। स्वामीजी ने अपने जीवन में कभी कोई मौक़ा हाथ से नहीं जाने दिया। ऐसे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्रेष्ठ, गुणिनाम् गरिष्ठ स्वामी श्रद्धानन्दजी के विषय में जितना लिखा जाय, थोड़ा है। स्वामीजी और रङ्ग में दिखाई पड़ रहे हैं, विशाल रूप में नहीं दिखलाई पड़ रहे, इसका दोष आर्य-समाज पर ही है। यह किस तरह? इस विषय पर मैं नहीं लिखना चाहता। गुरुकुल काँगड़ी के प्रारम्भिक वर्षों में स्वामी श्रद्धानन्दजी, स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी, पण्डित भीमसेन शर्माजी, पं० पद्मसिंह शर्मा व लेखक ने मिलकर ही काम किया। आज ये सब महानुभाव इस लोक में नहीं हैं। लेखक उस मण्डली में से अकेला रह गया है। उन दिनों के उन समस्त हृदयों को स्मरण करके चित्त की विचित्र दशा हो जाती है। लेखक स्वामी श्रद्धानन्दजी को अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ यही कहना चाहता है कि स्वामी श्रद्धानन्दजी के जीवन की घटनाओं को मनन करके उनसे लाभ उठाना चाहिए।

वैसे लेखक की यह राय है कि सिद्धान्त आर्यसमाज के मानने चाहिएँ; श्रद्धा हिन्दुओं से लेनी चाहिए; काम राष्ट्रीय विशाल क्षेत्र में करना चाहिए। आर्यसमाज इस योग्य नहीं रहा है कि कोई इसमें रहे और व्यापक कार्य कर सके। बाहर रहकर थोड़ा भी कार्य करो, आर्यसमाजी भाई उससे सन्तुष्ट रहेंगे, उसका सम्मान करेंगे, उसको अपनायेंगे। आर्यसमाज में कृत-घ्नता रोग बुरी तरह बढ़ता जा रहा है। पाठक क्षमा करें, बात है कड़वी किन्तु सच है—"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।"

४—सार्वजनिक जीवन

[१]

वह क्या है और किसके लायक़ है ?

सार्वजनिक जीवन भी एक अद्भुत वस्तु है। वैसे तो सार्वजनिक जीवन में पड़नेवाले पुरुष बहुत होते हैं, किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक उस जीवन को निभा लेनेवाले पुरुष कम होते हैं, बहुत कम मिलते हैं। सार्वजनिक जीवन रखनेवाले व्यक्ति के सम्मुख किसी न किसी समय (१) उपहास-काल (२) विरोध-काल (३) सहानुभूति-काल, अवश्य उपस्थित होते हैं। कोई इनको टालना चाहे तो नहीं टाल सकता। निर्बल हृदय के पुरुष प्रारम्भिक उपहास-काल से ही घबराकर स्वोद्देश्य से च्युत होकर घर बैठ जाते हैं। कोई उपहास-काल को तो सह लेते हैं किन्तु विरोध-काल में उनका साहस टूट जाता है, पैर उखड़ जाते हैं और वे कार्यक्षेत्र को छोड़ बैठते हैं। किन्तु जिनका उद्देश्य स्थिर होता है, जो अपनी धुन के पक्के होते हैं, वे न तो उपहास-काल से डरते हैं और न विरोध-काल से घबराते हैं। अन्त में जनता उनके साथ सहानुभूति दिखलाने लगती है और वे पुरुष अपने दृढ़ अध्यवसाय, दृढ़ उद्देश्य-प्रियता के बल पर पार हो जाते हैं। ऐसे पुरुषों का ही नाम अमिट, अमर होता है। सच्ची उद्देश्य-प्रियता के विना, सच्ची आस्था के विना, कोई पुरुष विपत्तियों को झेल नहीं सकता।

अपनी मूर्खता से विरोध-काल अथवा उपहास-काल को स्वयं उत्पन्न कर लेनेवाले लोग तो कभी भी उद्दिष्ट स्थल को

प्राप्त नहीं कर सकेंगे। सार्वजनिक जीवन विना कपड़े रँगे संन्यासी का जीवन है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, मान-अपमान इनके चक्र में निकलकर जाना पड़ता है और लोग 'आह' भी नहीं करने देते, जनता कराहने भी नहीं देती। सार्वजनिक जीवन में आशा-निराशा का चक्र भी खूब ही चलता है। सारांश यह कि यह जीवन द्वन्द्व का जीवन है और द्वन्द्व भी दोनों ओर से चलता है। एक बाहर का द्वन्द्व चलता रहता है तो भीतर भी एक द्वन्द्व मचा रहता है। प्रायः देखा गया है कि जो लोग भीतर के द्वन्द्व को जीत लेते हैं, बाहर का द्वन्द्व उनके लिए कोई वस्तु नहीं। विदुर जी ने कहा भी है कि जो दूसरों को जीतना चाहता है वह पहले अपने आपको जीते। भारवि कवि कहते हैं कि यदि सम्पूर्ण लोक पर अनुशासन करना चाहते हो, तो पहले भीतर के द्वन्द्व में विजय प्राप्त करो। जो भीतर के देवासुर-संग्राम को जीत लेगा, वह बाहर के देवासुर-संग्राम से कभी नहीं घबरायेगा।

सार्वजनिक जीवन में भूलें भी अपरिहार्य हैं। मनुष्य सर्वज्ञ तो है नहीं, सैकड़ों-सहस्रों भिन्न मत वाले पुरुषों से पाला पड़ता रहता है। कभी अज्ञान में, कभी सहचारी किंवा सहकारियों को समझाने में, कभी पक्ष-विपक्ष की बातों में, कभी सहसा किसी कार्य को कर बैठने में भूलें हो जाती हैं। उद्देश्य पर दृष्टि रखने-वाला सार्वजनिक व्यक्ति भविष्य पर दृष्टि रखकर अपनी भूलों का स्वयं ही प्रायश्चित्त करता जाता है, जिससे वह भावी आपत्तियों से बचता है। जो अपनी भूलों का स्वयं ही प्रायश्चित्त नहीं करते, उनकी भूलों का सुधार किसी न किसी समय प्राकृतिक दण्ड द्वारा हो जाता है।

एक ही उद्देश्य से एक ही स्थान में संलग्न हुए कार्यकर्त्ताओं में, चाहे उनमें कितने ही घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों न हों, किसी न

किसी समय में मतभेद की मात्रा अपरिहार्य होकर इतना तीव्र रूप पकड़ जाती है कि उनका परस्पर वियोग अपरिहार्य हो जाता है। ऐसा होने में मनुष्य का अदृष्ट, धर्म-अधर्म, स्वार्थ आदि भी कारण हो जाता है। सार्वजनिक जीवन में सबसे अधिक दुःख-प्रद यही समय होता है, पर किया क्या जाय? जो बात टाले टल नहीं सकती उसको धैर्यपूर्वक सहन करके स्वोद्दिष्ट की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त चारा ही क्या है? सार्वजनिक पुरुष को इस बात के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। जो उपहास-काल, विरोध-काल सहने के लिए तैयार नहीं, जो संयोग-वियोग के विचित्र खेल देखने को तैयार नहीं, उसको चाहिए कि वह सार्वजनिक पथ में पग धरे ही नहीं। अच्छा है वह स्वशक्ति के अनुरूप चुपचाप कुछ करता रहे। लोकमान्य तिलक सार्वजनिक जीवन को मनु के श्लोक में इस प्रकार कहते रहते थे—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समे यातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः॥

जैसे नदी अथवा सागर में भिन्न-भिन्न दिशाओं से काष्ठ बहकर आते हैं, आपस में मिलते हैं और जल के धक्कों के साथ ही पृथक्-पृथक् प्रवाह में बह जाते हैं, यही हाल है सार्वजनिक जीवन का।

[२]

उसकी कठिनाइयाँ और उसमें पड़नेवालों का कर्त्तव्य

सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को उचित है कि वे सांसारिक वासनाओं को जहाँ तक बन सके, कम करें। पब्लिक कार्य करते हुए धन, मान, यश के मिलने की सम्भावना तो रहती है,

पर इसके विपरीत आशा से सर्वथा विरुद्ध बातों का भी सामना करना पड़ता है। जैसे बिल्ली दूध तो देखती है, पर यजमान के डण्डे का उसको ध्यान नहीं रहता, इसी प्रकार यदि केवल पब्लिक जीवन की धूम-धाम पर ही दृष्टि रखोगे और समय-समय पर कभी उचित व कभी अनुचित रूप में पड़नेवाले जूतों की धड़ाधड़ का ध्यान न रखोगे तो पछताओगे। कभी थोड़ी सेवा का बहुत फल, कभी बहुत सेवा का स्वल्प फल, कभी विपरीत फल और कभी परिणाम में शून्याकार देखने के लिए तैयार रहना चाहिए। फिर कोई कष्ट नहीं होगा। इसलिए केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से, ईश्वर पर विश्वास रखकर ही काम करना ठीक है। काम करना अपने अधीन, पर फल सर्वथा उसके अधीन है। उसकी इच्छा है, थोड़ा फल दे, बहुत दे, सर्वथा विपरीत कर दे अथवा शून्याकार दिखलाये—ऐसी बुद्धि रखने के लिए सात्विकी बुद्धि बनानी पड़ेगी, तभी काम चलेगा। भगवान् की इच्छा है वह हमारे कर्म-फलों का भुगतान जैसा चाहे, जितना चाहे, जब चाहे, जिस रूप में चाहे, करे-करावे।

पब्लिक जीवन में मनुष्य जहाँ-जहाँ से जिस-जिस प्रकार की आशा रखता है वह वहाँ-वहाँ से पूरी हो—यह बात नहीं। ईश्वर की इच्छा हुई, तो वह उसी आशा को ऐसे स्थान से पूरी करा देता है, जहाँ से कि पूरी होने की आशा हमको स्वप्न में भी नहीं होती।

यह भी आशा रखना व्यर्थ है कि आपने जिनके साथ उपकार किया वे आपके साथ प्रत्युपकार करेंगे। कभी-कभी तो उपकार का बदला अपकार के रूप में मिलता है और बड़ा क्लेश होता है। भयङ्कर अपकार के दृश्य देखने के लिए भी तैयार रहिएगा। सबसे अच्छी बात यही होगी कि प्रत्युपकार की आशा के बिना ही बन पड़े सो उपकार करते रहिएगा।

सार्वजनिक पुरुष निरभिमान रहे तो अच्छा। अभिमान का अभिप्राय है दुरभिमान से। कितना ही उत्तम व श्रेष्ठ कार्य करके भी अभिमान से बचे रहना अच्छा। निरभिमान होने का अर्थ यह भी नहीं कि स्वाभिमान को ही खो बैठे। पब्लिक जीवन में भाव-शुद्धि भी अत्यन्त आवश्यक है। जिस कार्यकर्त्ता की जितनी ही अधिक भाव-शुद्धि होगी वह उतना ही अधिक कृत-कार्य होगा। यह भी ध्यान रहे कि राग-द्वेष से किसी शुभ कार्य का भी प्रारम्भ न करे, नहीं तो जीवन ही अशान्त हो जायगा। शुभ कार्य शुभ वासना से ही होना चाहिए। किसी के साथ ईर्ष्या-द्वेष के लिए, किसीको नीचा दिखाने के लिए नहीं होना चाहिए।

सार्वजनिक कार्य भी एक अनुभवशाला है, जिसमें शिक्षा पाये विना मनुष्य एक प्रकार से अपूर्ण ही रह जाता है। सैकड़ों एवं सहस्रों भिन्न-भिन्न भाववालों को वश में रखकर उनके साथ काम करना व पार चले जाना हँसी-ठट्ठा की बात थोड़े ही है। गीता का प्रसिद्ध वचन 'योगः कर्मसु कौशलम्' सार्वजनिक जीवन पर घटित होता है। कर्म-कौशल तो पब्लिक जीवन में ही देखने-सीखने को मिलेगा। पब्लिक जीवन में कभी-कभी मित्रों से इतना अधिक नुक़सान पहुँच जाता है कि इतना नुक़सान संसार में और कोई भी नहीं पहुँचा सकता। मित्र ही क्यों, अपने ही कहलानेवाले व्यक्तियों द्वारा, अन्यों की अपेक्षा अधिक हानि पहुँच जाती है। सार्वजनिक जीवन में चाणक्य का निम्न-लिखित श्लोक अक्षरशः सत्य जँचता है—

मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ति मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रुम्।
नीतिर्नयत्यश्रुतपूर्वभावम् जन्मान्तर जीवत एव पुंसः॥

अभी वह साथ था, अभी मित्र था, अभी शत्रु बन गया; वह शत्रु था, मित्र हो गया; अभी अनुकूल था, प्रतिकूल हो गया—

ऐसे-ऐसे जन्मान्तर में, अन्य जन्मों में देखे जाने योग्य दृश्य इसी जन्म में देखने को मिलते हैं। नीति की कृपा से पब्लिक जीवन में क्या-क्या देखने को नहीं मिलता? महाभारत के शान्ति-पर्व में, मार्जार-मूषक संवाद में सार्वजनिक जीवन का तत्त्व सुन्दर शब्दों में पढ़ने को मिलता है—

अद्यैव मे रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृद्।
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम्॥

आज तुम, मेरे रिपु होकर भी, मेरे मित्र बन गये और मित्र बनकर फिर शत्रु के शत्रु हो गये। देखो भाई युक्ति की चपलता, नीति-मार्ग की चञ्चलता!

सार्वजनिक कार्य में मधुरता अर्थात् स्वभाव की मधुरता अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। जो पुरुष चक्षु, मन, वाणी और कर्म चार प्रकार से लोगों को प्रसन्न रखेगा, लोग भी उसको उसी प्रकार प्रसन्न रखेंगे। समर्थ व असमर्थ दशा में, दोनों दशाओं में क्षमा-गुण तो बड़े काम की वस्तु है। जो सार्वजनिक कार्यकर्त्ता बुरी से बुरी घटना का अच्छे से अच्छा अर्थ निकालकर सावधान रहेगा, उसके मार्ग में कम विघ्न आयेंगे। सब सङ्कटों को परीक्षा-काल समझकर उसमें उत्तीर्ण होने की चेष्टा करे। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपनी पूर्वावस्था को कभी न भूले, चाहे वह कितने ही ऊँचे स्थान अथवा पद पर क्यों न पहुँच गया हो। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह यदि कटुता देखे, प्रतिकूलता देखे, यह देखे कि कार्य कुछ भी नहीं हो रहा, वृथा शक्ति क्षीण हो रही है, वृथा राग-द्वेष बढ़ रहा है तो स्वयं ही स्वेच्छा से कार्यक्षेत्र से, संस्था से हट जाय। थोड़े दिनों में विरुद्ध लोग भी अनुकूल हो जाते हैं। जिस बात का इलाज कोई नहीं कर सकता, काल सबको ठीक कर देता है। सार्वजनिक पुरुष यदि

समय की गति को न समझे, तो नष्ट हो जाता है। उसका किया-कराया सब निष्फल हो जाता है। सच्चा सार्वजनिक पुरुष देश, काल की गति पर बराबर दृष्टि रखता है।

[३]

कार्यकर्त्ता की कठिनताएँ

सार्वजनिक जीवन एक फ़ुटबाल का सा जीवन है। जब तक फ़ुटबाल में हवा रहती है, तब तक खेलनेवालों को भी आनन्द, देखनेवालों को भी आनन्द, किक करनेवालों को भी आनन्द; और जहाँ उसमें पंक्चर हुआ, छेद हुआ, हवा निकल गई कि बस खेल ख़तम! सारी बात सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के भीतर की हवा की है। जैसे फ़ुटबाल कभी ठोकरों से ऊपर जाता है, कभी इधर-उधर मारा-मारा फिरता है, कभी उभय पक्ष के पैरों में रुलता फिरता है, कभी फिर ऊपर आकाश में ऊँचे जाता है, फिर ज़मीन पर आ गिरता है; इसी प्रकार कार्यकर्त्ता में स्पिरिट हो तो यही दशा होगी, बच नहीं सकते। यदि फ़ुटबाल के पंक्चर के सदृश आपके हृदय से स्पिरिट निकल गई, हवा निकल गई तो समझ लीजिए कि क्रीड़ा-क्षेत्र का द्वार बन्द हो गया।

यह आवश्यक नहीं है कि सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के पास समस्त अपेक्षित सामिग्री हो, समस्त उपकरण हो, तभी वह कार्य-कर सकता है। उसमें उद्देश्य-प्रियता, तदर्थ कष्टसहिष्णुता और सद्भाव हो तो उपकरण व सामिग्री स्वयं उसके पास आ जाती है। कह नहीं सकते कहाँ से आ जाती है, पर बात सच है। संसार के जितने भी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हुए हैं, उनके जीवन-चरित्र को पढ़ने से यह बात सिद्ध होगी—

'क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।'

महापुरुषों की क्रियासिद्धि उनके भीतरी सत्त्व अथवा बल पर निर्भर रहती है न कि वाह्य साधनों, उपकरणों पर।

सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को एक और बात का ध्यान रखना अपरिहार्य है। उनको मतभेद और विरोध का यथार्थ मर्म समझकर ही कार्यक्षेत्र में कूदना चाहिए। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जो-जो व्यक्ति हमसे मतभेद रखते हैं, वे-वे अवश्य ही हमारे विरोधी हैं, शत्रु हैं, सो बात नहीं। यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मतभेद रहते भी परस्पर मनोमालिन्य अथवा मनमुटाव की आवश्यकता नहीं। विरोधी जन सदैव सद्भाव से विरोध करते हैं—यह बात भी नहीं। उनके विरोध में स्वार्थ, ईर्ष्या, मत्सर भी काम करता रहता है। प्रामाणिक मतभेद रखनेवाला पुरुष विरोध तो करेगा, पर वह ईर्ष्या-मत्सर आदि के वशीभूत होकर ऐसा नहीं करेगा। उसका विरोध कर्त्तव्य पर निर्भर होगा। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में मतभेद और विरोध के तात्त्विक भेद को न समझने के कारण प्रायः भयङ्कर उपद्रव हो जाते हैं और नेता और नेय दोनों बड़े असमञ्जस में पड़ जाते हैं।

जनता भी विचित्र ही होती है। पहले तो अपनी जनता अपने अधिनायक के किसी गुणविशेष पर मुग्ध होकर उसका साथ देती है, कभी सर्वथा उसके विपरीत उलट पड़ती है, कभी फिर अनुकूल हो जाती है। मस्त हाथी को जब कि मदस्राव के कारण अन्धा हो जाता है और उपद्रव मचाने लगता है तब कुशल फ़ीलवान जिस प्रकार समझा-बुझाकर, पुचकारकर हाथी को सीधा करता है, कभी-कभी वही गति नेता अथवा सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को हो जाती है। कभी जनता के पीछे रहकर उसको आगे ढकेलना पड़ता है, कभी जनता से आगे चलकर उसको आगे खींचना पड़ता है, कभी उसका प्रिय व कभी

अप्रिय बनना पड़ता है। इन सब कार्यों को कुशलबुद्धि देश-कालवित् सार्वजनिक नेता अथवा कार्यकर्त्ता निभा ही ले जाते हैं। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को एक और तत्त्व याद रखना चाहिए। वह यह कि—

नरपति हितकर्त्ता द्वेष्यतो याति लोके,
जनपद हितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने,
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता॥

यदि सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जनता का साथ देता है तो शासकवर्ग बिगड़ बैठता है, यदि वह शासकवर्ग का साथ देता है तो जनता घृणा करने लगती है। इस परिस्थिति में दोनों को प्रसन्न रखकर देश-हित साधनेवाला नेता दुर्लभ ही है। स्व० गोखले, महात्मा रानडे इसी टाइप के थे। लोकमान्य तिलक सोलह आने प्रजापक्ष के थे। महात्मा गान्धी सोलह आने प्रजापक्ष के हैं। जब वे महामना गोखले की नीति पर चलते थे तब उभय पक्ष को प्रिय थे। कोई-कोई सार्वजनिक नेता कभी स्थिर नहीं रहे। पहले प्रजापक्ष के थे; फिर सोलह आने सरकार अथवा शासक-वर्ग से जा मिले। ऐसे सार्वजनिक पुरुष के जीवन का उत्तरार्द्ध अत्यन्त दयनीय हो जाता है। उदाहरणार्थ श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, मद्रास के सी० पी० रामस्वामी, और भी अन्य बहुत से पुरुष जो कभी कांग्रेस के साथ थे पर अब असमय गीत गा रहे हैं। सार्वजनिक जीवन में सन्तों और महात्माओं तक की ज़रा भी भूल हो जाने पर जीते जी खाल खींची जाती है, अन्य साधारण सार्वजनिक पुरुष की तो बात ही क्या है?

५—पुनश्च हरिःओ३म्

जब महात्मा गान्धी यरवदा मन्दिर से 'उपवास' के लिए बाहर किये गये, तब उन्होंने श्री वल्लभभाई से कहा था कि या तो थोड़े दिनों में तुम ही बाहर मेरे पास आओगे अथवा मैं ही तुम्हारे पास वापिस आऊँगा। महात्माजी का उपवास, पूना कान्फ्रेंस, वर्किङ्ग कमेटी, मि० अणे का ऐलान, महात्माजी की घोषणा, महात्माजी का सर्वस्वदक्षिण यज्ञ, महात्माजी की कूच की तैयारी, उनकी गिरफ़्तारी, उनकी रिहाई, फिर गिरफ़्तारी, न्याय-मन्दिर का अभिनय इत्यादि चित्रपट की भाँति एक-एक आँखों के सामने आये और गये। अब तक जिस ढङ्ग से 'निकल जाओ' कहा जाता है और जिस प्रकार पकड़ा जाता है और फिर छोड़कर अभियोग का अभिनय खेला जा रहा है, इससे स्पष्ट है कि गवर्नमेण्ट 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' और 'सामूहिक सत्याग्रह' में कोई भेद नहीं समझ रही है और दोनों को एक ही बड़गे (लट्ठ) से ठीक करना चाहती है। महात्माजी के साथ जो बर्त्ताव किया गया है, वह तो राष्ट्र-नायक के लिए एकदम अपमानजनक है। जेल से बाहर निकलो, अहाते में मत ठहरो, इतने बजे तक बाहर हो जाओ, नहीं तो पकड़े जाओगे, जेल भेजे जाओगे। अरे, जो महात्मा प्राण तक देने के लिए तैयार बैठा है, वह तुम्हारी इन धमकियों से डरता थोड़े ही है। तुम इस पद्धति से, इस क्षुद्र बर्त्ताव से भारतवर्ष में अपने विषय में तिरस्कार की भावनाओं को उद्दीप्त कर रहे हो।

मजिस्ट्रेट महात्मा गान्धीजी से कहते हैं, "आपकी वृद्धावस्था व शारीरिक दशा का ध्यान रखकर हलकी सज़ा दे रहा हूँ।" वाह! दया का कैसा सुन्दर अभिनय है! पब्लिक प्रासीक्यूटर कहते हैं कि महात्माजी बूढ़े हैं। मैं कड़ी सज़ा देने के

लए नहीं कहूँगा।" पता नहीं, इसको हम उपहास कहें, उपमर्द कहें कि क्या कहें ?

भारतवर्ष इस समय ऐसी सङ्कटापन्न दशामें है कि उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। वर्णन करने बैठें तो वर्णन करने देगा ही कौन ? लोग पूछते हैं, 'अज़ी अब क्या होगा ?' सरल उत्तर यह है कि "बाबा, देखने को आँखें हों तो देख लो, जो अब हो रहा है वही आगे होगा।" यह मानना पड़ेगा कि पूर्ण स्वतन्त्रता जैसे उच्च ध्येय के अनुरूप त्याग नहीं हुआ है। जिनके हाथों में शस्त्र-सुसज्जित सेनाएँ हों, उनको भी लक्षों मनुष्यों का बलिदान देना पड़ता है, तब कहीं 'पूर्णस्वतन्त्रता' की आभा देखने को मिलती है। कांग्रेस जिस प्रकार अहिंसा भाव से निशस्त्र होकर युद्ध में प्रवृत्त है, उसको तो बहुत ही बलिदान देने की आवश्यकता है। हाथ में एक भी शस्त्र न रखना, मन से भी शत्रु का बुरा न चाहना, अपना मरण अपने आप बतलाना और फिर भी शत्रुओं को परास्त करके विजय-लाभ की आशा रखना—ये ऐसी बातें हैं जो जन-साधारण की समझ में बड़ी कठिनता से आवेंगी।

१९२० में सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ था। १० सञ्ज के पश्चात् १९३० में फिर श्रीगणेश हुआ। १९३२ में फिर ज़ोर की पुनरावृत्ति हुई। १९३३ में महात्मा गान्धी के बाहर आकर फिर भीतर जाने से "पुनश्च हरिःओ३म्" हो गया है। परिणाम का पता नहीं। बहुत दूर तक कुछ नज़र नहीं आता। युद्ध कब तक चलेगा, पता नहीं। भगवान् को क्या इच्छा है, उसके सङ्केत क्या हैं, मानवी प्राणी को पता नहीं। इतना तो स्पष्ट पता है कि अभी दुःख-दारिद्र्य, बन्धन, मानापमान के बहुत दिन हैं। देखें, पदे-पदे अपमानित भारतवर्ष इस अग्नि-परीक्षा में किस प्रकार सुरक्षित निकलता है। पता नहीं, इसीमें इसका अन्त है कि इसीमें इसका उद्धार ?

६—सर सप्रू और व्हाइटपेपर

सर सप्रू एक विद्वान् पुरुष हैं। क़ानून के तो निरे पुतले ही हैं। यदि क़ानून के पुतले न होते तो किसी समय 'ला-मेम्बर' क्यों बन सकते? आपको देशभक्ति के विषय में किसीको कोई सन्देह नहीं हो सकता। आपका भारत-प्रेम भारत-प्रसिद्ध ही नहीं, अपितु जगत्-प्रसिद्ध है। वैसे तो प्रायः आप अपने वक्तव्यों में यही कहते सुनाई देते हैं कि वे किसी दल के नहीं हैं, तो भी आप माडरेट पार्टी अथवा लिबरल दल के धुरीण माने जाते हैं। आपको व्हाइटपेपर से असन्तोष है। आप कहते हैं कि इसमें ठोस परिवर्त्तन किये विना भारत तो क्या, माडरेट भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। आपसे पूछा गया तो लन्दन के मित्र से आपने कहा कि व्हाइटपेपर से लोगों को सन्तोष कैसे हो सकता है जब कि सेना का नियन्त्रण वे अपने ही आधीन रख रहे हैं, अर्थ-विभाग के देने में भी व्यर्थ के कई अड़ङ्गे लगाये गये हैं और उत्तरदायित्व का नाम ही नाम है। आपसे पूछा गया कि आप इस बार विलायत क्यों आये तो उत्तर मिला कि केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से आया हूँ, ब्रिटिश शासक-वर्ग को सचेत करने आया हूँ। मैं जानता हूँ कि भारत में लोग मुझे क्या कहते-समझते हैं, बस, कैसे-कैसे उपहास होते हैं, मत पूछिए। बस, हमारी सहनशीलता की हद हो गई है। यदि सरकार हमारी नहीं सुनेगी तो माडरेटों को तो केवल घर में बैठकर 'राम नाम' जपने के अतिरिक्त कोई काम न रहेगा, पब्लिक में उनकी आवाज़ को सुनेगा ही कौन? मुझे तो यही सन्तोष रहेगा कि मैंने अपना कर्त्तव्य किया। यदि सरकार हमारी पुकार को नहीं सुनेगी तो भारत में सर्वत्र यह विचार प्रसरित होगा कि वैध आन्दोलन व्यर्थ है; वैध आन्दोलकों की

भी कोई कहीं सुनता है इत्यादि। आपने कहा कि कांग्रेस का सत्याग्रह-आन्दोलन असफल रहा, कुछ काम नहीं बना; व्यर्थ ही सरकार से तनातनी रही। शासकवर्ग प्रसन्न है कि वह कांग्रेस-आन्दोलन को कुचलने में समर्थ हुआ किन्तु उसको तथा यहाँ विलायत के अधिकारियों को पता नहीं कि वे जनता के उद्दीप्त भावों को, जिनको कांग्रेस ने उत्पन्न किया, कभी नहीं कुचल सकेंगे और भविष्य में भी बड़ा ख़तरा है।

सर सप्रू के इतने वक्तव्य से पता चलता है कि उनकी मानसिक दशा कैसी है। माडरेट अथवा लिबरल लोडरों का यह परम धर्म ही हो गया है कि प्रत्येक वक्तव्य में कांग्रेस व सत्याग्रह को कोसना। उनको यह पता नहीं कि (पता क्यों नहीं सब जानते हैं, ज्ञान-बाबले बने हैं) यह कांग्रेस-आन्दोलन की कृपा का ही फल है कि भारत तथा इङ्गलैण्ड में माडरेट अथवा लिबरलों की पूछ होती रहती है। नहीं तो लिबरल चाहे कितने ही विद्वान् अथवा देशभक्त हों, उनको कोई दो कौड़ी को न पूछता, क्योंकि उनके वाक्यों में शब्दों के पीछे अर्थ नहीं, और कुछ अर्थ है तो अर्थ के पीछे बल नहीं। लिबरल लोग कांग्रेस वालों की लाशों पर खड़े होकर चिल्लाते हैं और कांग्रेस वालों को ही कोसते रहते हैं। 'किमाश्चर्यमतः परम्।' समस्त संसार में यही दशा है। गरम दल के लोग स्वार्थ-त्याग करते रहते हैं, कष्ट सहते रहते हैं और उग्र तप तपते रहते हैं और ये मध्यम मार्गगामी लोग उस त्याग, उस कष्ट, और उस तपस्या का बेजा फ़ायदा उठाते रहते हैं। इन्हें पूछना चाहिए कि इस प्रकार दैन्यावस्था को देखकर उनके मन में स्वाभिमान की मात्रा जागृत क्यों नहीं होती? वे इस प्रकार निरादर पर निरादर का घूँट क्यों पीते रहते हैं, अथवा क्यों पीते जाते हैं जब कि उनकी आवाज़ को कोई नहीं सुनता?

७–महात्माजी का उपवास

कोई इस उपवास को ऐतिहासिक कहते हैं, कोई धार्मिक और कोई राजनैतिक बतला रहे हैं। महात्माजी की दृष्टि में राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक प्रश्न पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यदि वे ऐसा मानते तो राजनीति में भी धार्मिक क्षेत्र के योग्य अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग कदापि न करते। इस प्रकार के उपवास प्राचीन समय में भी होते थे, किन्तु यह केवल ब्राह्मण का ही अस्त्र-शस्त्र समझा जाता था। 'राज-तरङ्गिणी' में एक राजा को ब्राह्मणों द्वारा केवल अनशन के बल पर अथवा प्रायोपवेशन के बल पर गद्दी से उतारकर उसके स्थान में अन्य को नियुक्ति किये जाने का वर्णन आया है।

यह महात्माजी का उपवास क्या है? इसने संसार भर में एक खलबली सी क्यों मचा रखी है? वह क्रान्ति का साधन क्यों बन रही है? महात्माजी से पूछो तो महात्माजी कहेंगे कि मैं तो आत्म-शुद्धि कर रहा हूँ, क्योंकि मुझमें अभी वह पूर्ण शक्ति नहीं आई है जिससे मैं अपनी बात को मनवा सकूँ। यदि मुझमें पूर्ण शक्ति होती तो लोग मेरी बात अब तक मान न लेते। हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी एक न हो गये होते। अछूत का कलङ्क मिट न गया होता। इसीलिए मैं उपवास कर रहा हूँ, प्रायश्चित्त कर रहा हूँ, आत्मशुद्धि कर रहा हूँ। लोग मेरी नक़ल न करें, सहानुभूति में भी उपवास न करें। किसी को ऐसी शक्ति हो तो स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे करे। महात्माजी का सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, उपवास आदि क्या हैं? हिन्दू

धर्म के सिद्धान्त व साधन का पुनर्जीवन हैं। इन अस्त्र-शस्त्रों ने संसार में अपनी करामात दिखाई है सही; पर यह करामात महात्माजी के व्यक्तित्व तक ही सीमित है। लोग उनकी नक़ल करते हैं, पर जिस प्रकार वे चलते हैं यदि लोग ठीक-ठीक चलें तो विना अस्त्र-शस्त्र-सामग्री के ही संसार में अपेक्षित सुधार हो सकता है, पर जो लोग शास्त्रों के गहन तत्त्व को समझते हैं, गीता-वर्णित स्वभाव-शास्त्र व सत्त्व, रज, तम की लीला को समझते हैं, वे 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' की महिमा को जानते हैं कि महात्माजी जैसा सर्वश्रेष्ठ पुरुष अनेक जन्म के उग्र तप व इस जन्म के तेजस्वी तप से बना है। यह भारत का सौभाग्य कि उसको ऐसा महात्मा मिला। यह हिन्दुओं का सौभाग्य कि महात्मा का उनमें जन्म हुआ। यह आर्य-संस्कृति का सौभाग्य कि उसको महात्माजी जैसा कट्टर उपासक मिला। यह संसार का सौभाग्य कि जब संसार के राष्ट्रों के सम्मुख निरस्त्रीकरण का जटिल प्रश्न है तब अस्त्र-शस्त्र-विहीन अहिंसा की प्रतिमूर्त्ति, सत्य का पुञ्ज महात्मा संसार में विद्यमान है और निरपेक्ष रीति से मार्ग बतला रहा है। महात्मा का यह उपवास उनके लिए, भारत के लिए, संसार के लिए कल्याणकारी हो। महात्माजी प्रत्येक विकट समय में अग्नि में निधड़क कूद पड़ते हैं और सोलह आने उत्तीर्ण होकर निकलते हैं। यह भारत के गौरव का साधन है। महात्माजी की तपस्या से भारत का सिर संसार में कितना ऊँचा हो गया है—इसको संसार बड़े विस्मय से देख रहा है।

:o:

८—हृषीकेश के दो टुकड़े

सब जानते हैं कि हृषीकेश ब्रिटिश हद में है। उसमें भी गङ्गापार स्वर्गाश्रम ब्रिटिश गढ़वाल में और शेष देहरादून ज़िले में है। गङ्गापार के मुक़दमे गढ़वाल में व इधर के मुक़दमे देहरादून में होते हैं। हम समझ रहे थे कि टिहरी-दरबार और ब्रिटिश सरकार के बीच जो बात-चीत चल रही थी, वह केवल बद्रीनाथ के विषय में थी; क्योंकि बद्रीनाथ का प्रश्न निखिल भारतीय हो गया है और स्थान-स्थान पर उसके बारे में कहीं निषेधात्मक, कहीं विरोधात्मक, कहीं स्वीकारात्मक सभाएँ हो रही हैं; परन्तु अब कुछ स्पष्ट हो गया और रहस्योद्घाटन भी हुआ है। यह ईश्वर ही जाने।

अब ख़बर आ रही है कि हृषीकेश के दो टुकड़े होनेवाले हैं। चन्द्रभागा नदी के पार का भाग, जो लक्ष्मण झूले तक जाता है, टिहरी-दरबार के सुपुर्द कर दिया जायगा और चन्द्रभागा के इधर का भाग ब्रिटिश सरकार का रहेगा। इस प्रकार टिहरी-दरबार में झाड़ी कैलाशाश्रम आदि सब सम्मिलित किये जायँगे। इसका अर्थ यह हुआ कि हृषीकेश के दो नहीं, तीन टुकड़े होंगे। एक चन्द्रभागा पार का लक्ष्मण झूला तक, दूसरा चन्द्रभागा अवार का अर्थात् चन्द्रभागा के इधर का भाग और तीसरा गङ्गापार का स्वर्गाश्रम आदि, जो ब्रिटिश गढ़वाल में है।

यदि हृषीकेश के दो टुकड़े हुए, तो हृषीकेश वालों को दो प्रकार की अदालतें, दो प्रकार के इन्तज़ाम देखने पड़ेंगे। हृषीकेश नोटीफ़ाइड एरिया का क्या होगा, यह पता नहीं। अब तो उसका अधिकार चन्द्रभागा के पार भी है; पर नई योजना में शायद उसके भी दो टुकड़े होंगे व दो म्यूनिसिपलिटियाँ बनेंगी—

एक राज्य की और दूसरी ब्रिटिश हद को। गङ्गापार हृषीकेश वालों को शायद अपना पृथक् प्रबन्ध करना पड़े, क्योंकि वह ब्रिटिश गढ़वाल में है।

इस तरह हृषीकेश वाले बड़ी विचित्र दशा में रहेंगे। फिर यह भी मालूम नहीं कि जो भाग टिहरी-दरबार में जायगा वहाँ के निवासियों के परम्परागत अधिकारों का क्या होगा। हृषीकेश का जो भाग टिहरी-दरबार में जानेवाला है, उसके निवासियों में बड़ी खलबली है। ऐसा पता चला है कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के पास इसके विरोध में एक मेमोरियल भी भेजा है। सुना है, सन्त लोग भी विरुद्ध हैं। थोड़े दिनों में मालूम हो जायगा कि हृषीकेश वाले क्या चाहते हैं।

सरकार कहीं-कहीं देशी रियासतों को कोई-कोई टुकड़ा देकर प्रसन्न कर रही है। मैसोर को बङ्गलौर वापस कर दिया। निज़ाम हैदराबाद को सिकन्दराबाद दे दिया। बरार का प्रश्न अभी खूँटी पर लटक रहा है। टिहरी-दरबार को बद्रीनाथ व हृषीकेश का आमिष दिखला दिया। इस प्रकार सर्वत्र झमेला मचा रखा है।

लेखक की समझ में नहीं आ रहा कि टिहरी-दरबार केवल हृषीकेश के छोटे से टुकड़े से क्यों प्रसन्न हो रहे हैं? क्यों नहीं मसूरी, जो कि उन्हींकी ज़मींदारी है, वापस ले लेते? अथवा देहरादून शहर व आसपास का भाग क्यों नहीं माँगते?

हमारी समझ में ये सब भावी सङ्घ-शासन में अपने ज़ोर बाँधने के पैंतरे हैं, जिससे राज्य के प्रतिनिधि सरकार के प्रतिनिधियों का रुख़ पकड़ें। इसीलिए जगह-जगह अँगरेज़ दीवान बनकर पहुँच रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि वही अँगरेज़ दीवान सङ्घ-शासन में राज्य के प्रतिनिधि बनकर आयेंगे और सङ्घ में भी गोरों का ही प्रभुत्व रहेगा। अब तक १६ रियासतों में गोरे दीवान हो गये हैं। आगे का ईश्वर ही रक्षक है।

९—भ्रम का भूत

गङ्गाजल व आबे ज़मज़म का तमाशा

[एक सच्ची घटना]

:o:

एक उपदेशक महाशय यह प्रतिज्ञा करके एक राजपूतों के ग्राम में गये कि व्याख्यान के पश्चात् अवश्य ही कूप और मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न उठाकर हरिजनों का उद्धार करूँगा। उपदेशकजी ग्राम में पहुँचे। व्याख्यान का नोटिस दिया गया। ग्रामीण जनता भी व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुई। व्याख्यान के पश्चात् उपदेशकजी ने कहा कि जो लोग हरिजनों को कुँओं पर चढ़ाने व उनको मन्दिर-प्रवेश देने की सम्मति रखते हैं, वे हाथ उठावें। दो सौ श्रोताओं में से केवल चार ग्रामीण भाइयों ने हाथ उठाये। उपदेशकजी निराश हुए। उनको बहुत दुःख हुआ किन्तु अपनी प्रतिज्ञा का भी ध्यान आया। उन्होंने लोगों से अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। लोग सुनकर चुप हो गये। किसी भाई ने कोई उत्तर न दिया।

उपदेशकजी रात भर बेचैन रहे। प्रातःकाल होते ही उन्होंने न किसीसे पूछा न गछा, चार-पाँच हरिजनों को साथ लिया और मन्दिर पर चढ़ाई कर दी। उनको मन्दिर के कुँओं पर चढ़ाकर स्नान कराया, देवता पर जल चढ़वाया। वहाँ से चलकर उन्हें ग्राम के चार मुख्य कुँओं पर भी चढ़ाया। इतना कराकर उपदेशकजी दूसरे स्थान पर चले गये अर्थात् प्रचारार्थ किसी अन्य ग्राम में गये। वे अपने मन में सन्तुष्ट रहे कि प्रतिज्ञा पूरी हुई।

पीछे ग्राम में बड़ा हल्ला पड़ा। हिन्दुओं ने कहा—चलो, उपदेशक अपनी करनी कर गया; अब कुँओं में गङ्गाजल डालकर शुद्ध कर लेना चाहिए। गङ्गाजल लाया गया। उधर मुसलमानों में बड़ा हल्ला हुआ। किसीने यह उड़ाया कि कुँओं में सूअर का दाँत डाला गया है। फिर क्या था, ग्राम के सब मुसलमान एकत्रित हुए और सबने मिलकर ग्राम के मुख्य चार कुँओं को साफ़ कराया। उनमें आबे ज़मज़म डाला गया। उन्होंने हिन्दुओं को खूब गालियाँ सुनाईं। हिन्दू भी जोश में आये और उन्होंने पञ्चायत बुलाई और निश्चय हुआ कि जिन कुँओं में आबे-ज़मज़म डाला गया है हरिजनों को उनपर चढ़ाया जाय। हरिजन बुलाये गये। उनसे कहा गया कि वे कुँओं पर चढ़ें। हरिजनों ने पञ्चों से कहा कि यह सब एक दिन का खेल है अथवा हमेशा के लिए कुँआ खुल रहा है। पञ्चों में से एक चिल्ला उठा कि हमेशा के लिए। बस, फिर क्या था, हरिजन हरि का नाम लेकर कुँओं पर चढ़ गये। मुसलमानों ने ज़िला कलेक्टर को लिखा कि हिन्दुओं ने कुँओं पर हरिजनों को चढ़ाया है, यह ठीक नहीं है। उत्तर आने तक तीन दिन मुसलमान बड़े दुःखी रहे। दूसरे ग्रामों से जल ला-लाकर पीते रहे। कलेक्टर का उत्तर आया कि कुँए सार्वजनिक हैं इसलिए सब कोई चढ़ सकता है। बेचारे मुसलमान चुप हो गये और उन्होंने अपने यहाँ आठ सहारनपुरी पम्प लगवाये और अपना काम चलाने लगे। मुसलमानों ने ग्राम के कुँओं का बायकाट कर दिया। इस प्रकार "आबे ज़मज़म" व "गङ्गा-जल"—काण्ड समाप्त हो गया। अब और विचित्र बात सुनिए।

इधर मुसलमानों का यह हाल हुआ, उधर राजपूतों के घरों में और काण्ड चला। देवियों ने साफ़ मना कर दिया कि हरिजन जिन कुँओं पर चढ़े हैं, उनका जल घर में नहीं आ

सकता। घरवालियों के सामने राजपूतों का मान भी ढीला पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने भी अपने घरों में पम्प लगवाये। कट्टर हरिजनोद्धारक लोगों ने सोचा कि पम्पों को तोड़ दिया जाय। इस प्रकार ग्राम के हिन्दुओं में ही महाभारत व हल्दीघाटी का युद्ध होने वाला था। किसी वृद्ध महाशय ने लोगों को समझाया, तब शान्ति हुई।

इन सब भ्रमों अथवा भ्रमजालों का यह परिणाम हुआ कि ग्राम के कुँओं पर न तो हिन्दू पानी भरते हैं और न मुसलमान। दो-एक कट्टर हरिजन-सेवक तो भरते हैं। इसमें भी यह चमत्कार कि कट्टर हिन्दुओं ने अपने प्राण बचाने के लिए हरिजनों के घरों में पम्प लगवा दिये थे। हरिजन भी नल से काम ले रहे हैं। इस प्रकार उपदेशकजी की जल्दबाज़ी का यह परिणाम हुआ कि कुँए और मन्दिर क्या खुलवाये, ग्राम में एक विचित्र हलचल मच गई।

हरिजन-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य प्रेम है, ज़बरदस्ती नहीं। ज़बरदस्ती से कोई लाभ भी नहीं।

अब ख़बर आई है कि अन्य ग्रामों के कट्टर राजपूत उस ग्राम के राजपूतों का पूरा बहिष्कार करेंगे अर्थात् रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द करेंगे। इस विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। लोग पूछेंगे कि उस ग्राम का नाम क्या है। उनकी उत्सुकता मिटाने के लिए लिखता हूँ कि उस ग्राम का नाम "बहेड़ा" है, सहारनपुर से सात कोस पर है। और उपदेशक का नाम? बस, मैं बतलाना नहीं चाहता।

द्वादश गुच्छक

मेरी फुलवाड़ी

[१]

प्रिय वाचक, इस लेख के शीर्षक को पढ़कर कहीं किसी और भ्रम में न पड़ जाइएगा। यह है मेरी जेल की संक्षिप्त राम-कहानी। अब की बार 'सी' क्लास का मज़ा भी देखा और 'बी' क्लास का भी; पर रहा मैं शुरू से आख़िर तक देहरादून जेल ही में। सौभाग्य से यहाँ श्री पं० जवाहरलालजी, श्री गोविन्द-वल्लभ पन्तजी, श्री कुँवर आनन्दसिंहजी आदि के दर्शन और सहवास का लाभ रहा। वे महानुभाव देहरादून जेल से बाहर एक पुरानी छोटी जेल में (जिसको 'वार्डर्स क्वार्टर्स' कहते हैं और जो हाल ही में तोड़-फोड़कर ठीक की गई है।) रखे गये थे। श्री पं० जवाहरलालजी अब भी इसी में रहते हैं। श्री० अब्दुललतीफ़ साहब और कुँवर आनन्दसिंह साहब यूरोपियन बैरक में हैं।

लेख का शीर्षक 'मेरी फुलवाड़ी' इसलिए रखा गया है कि मैंने अपने अथक परिश्रम से जेल के भीतर ऐसी सुरम्य सुन्दर फुलवाड़ी तैयार की थी कि जिसको देखकर क़ैदी और जेलाधिकारी समान रूप से प्रसन्न होते रहते थे। इसी फुलवाड़ी में मेरा सारा दिन कटता था। फिर बतलाइए मैंने इस लेख का शीर्षक 'मेरी फुलवाड़ी' रखा तो क्या बुरा किया ? पं० जवाहर-लालजी का जन्म-दिन अँगरेज़ी हिसाब से जिस दिन पड़ता

था (ता० १५ नवम्बर) उसी दिन हमने एक पुष्प-गुच्छ उनके पास भी भेजा था। इस फुलवाड़ी में नाना प्रकार के सुन्दर पुष्प थे और इनमें से प्रतिदिन बहुत से पूजा-अर्चा के लिए बाहर जाते थे और न जाने किस-किस देवता के ऊपर चढ़ते थे। दीवान रामचन्द्रजी कपूर के पार्थिव शिव पर भी चढ़ते थे। श्री कपूरजी कट्टर शिवोपासक हैं और दिनचर्य्या के तीन घण्टे शिव-पूजा में ही व्यतीत करते हैं। मेरी फुलवाड़ी के फूल कभी जेलर, कभी डिप्टी जेलर और कभी नायब साहब के गलों का हार बनते थे, कभी गुलदस्ते के रूप में घरों को मेज़ों की शोभा बनते थे। श्राद्धों के दिनों में तो वार्डरों ने इतने फूल तोड़े कि बस पूछिए नहीं। हमारे सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री कर्नल फेलवेल जब देहरादून से मेरठ बदले जानेवाले थे, तब उनकी विदाई में एक प्रीति-भोज हुआ। बैण्ड आया, बाजे बजे और मेरी फुलवाड़ी के फूलों की भी लूट मची। उस दिन बने होंगे कोई तीस-चालीस हार। पर सबसे अधिक गुस्सा मुझे तब आता था जब कि वार्डर लोग मेरी फुलवाड़ी के हार बना-बनाकर पहनते और फिर क़ैदियों को ही डाटते थे कि "ऐ, यह काम ठीक नहीं हुआ, वह काम ठीक नहीं हुआ!" इख़लाक़ी क़ैदी भी शैतान के छोटे भाई होते हैं। ये भी बहुत से फूलों को तोड़कर व्यर्थ इधर-उधर फेंक देते थे, कभी पेड़ों को ही तोड़-मरोड़कर फेंक देते थे। हम जब उनसे कहते कि "मूर्खो, ऐसा क्यों करते हो?" तो वे चिढ़कर उत्तर देते कि, "क्या आप जेलख़ाने को सजाने आये हैं? फेंको, उखाड़कर इन पेड़ों को।"

जब मैं बाल्यावस्था में पूने में पढ़ता था तभी से मुझे फुलवाड़ी लगाने का शौक़ था और बड़ा होकर मैं जहाँ-जहाँ भी रहा, इस विषय में मेरा शौक़ बढ़ता ही गया और मैंने यत्र-तत्र अपने हाथ से लगाई हुई फुलवाड़ी की बड़ी सेवा, रक्षा की।

शायद इसी सेवा से प्रसन्न होकर जेल की फुलवाड़ी भी मेरी रक्षक बनी। जेल में सदा मैं चारों ओर फुलवाड़ी से घिरा रहता था। जेल में प्रवेश करने के पश्चात् १। मास तक बान बटता रहा और लगभग डेढ़ सौ गज़ बान बट लेता था। फिर मेरी बदली हुई फुलवाड़ी के काम में। जब मुझे यह कार्य मिला तब मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर इसकी सेवा करने लगा और मेरा नाम 'मल्ली' पड़ गया। जो मुझे नहीं जानते थे, उन बेचारों को क्या पता था कि एक पण्डित, शास्त्री, वेदतीर्थ, पानी की बाल्टी भर-भरकर पेड़ों को सींच रहा है! साधारण क़ैदी मुझसे इसलिए नाराज़ रहते थे कि मैं इतना परिश्रम क्यों कर रहा हूँ। देहरादून जेल में पानी का बड़ा सङ्कट है और जेलर साहब वैसे हमारे काम से बहुत प्रसन्न रहते थे पर फुलवाड़ी में मैं अधिक जल ख़र्च कर देता था इसलिए कभी-कभी कह बैठते थे, "महाराज, थोड़ा-थोड़ा जल दीजिए।" पर इस विषय में मैंने जेलर महाशय की एक बात भी नहीं मानी। इस फुलवाड़ी की बदौलत जेल जेल नहीं प्रतीत होता था। जेल में वर्ण-परिवर्त्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि बस कुछ न पूछिए। क़लम के एक झटके के साथ किसीको धोबी, किसीको नाई, किसीको भङ्गी, किसीको सफ़ैया बना दिया जाता है। धनी, मानी, पण्डित, शास्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक साथ रहते, खाते-पीते और पहनते हैं। कोई भेद-भाव नहीं। सबके सब नम्बरवार कभी चक्की में, कभी बान में, कभी मूँज और कभी रामबाँस की कुटाई में रगड़े जाते हैं। मुझे इन्हीं इख़लाक़ी क़ैदियों के साथ रखा गया था जिनमें चोर, बदमाश, डाकू, औरतों को भगानेवाले, धोखादेही अर्थात् ४२० में पकड़े हुए, शराब बनानेवाले, सभी थे। अधिक क्या लिखूँ संसार का ऐसा कोई बुरा कर्म शेष नहीं था जिसके क़ैदी हमारे बैरक में न आये हों या न रहते हों।

हमने मन में सोचा भगवान् अब की बार कैसे बोलेगो। पीछे भीतर से आवाज़ आई, "अरे देव, वह तेरा पढ़ा हुआ वेदान्त कहाँ गया? वेदान्त-दृष्टि से विचारकर व्यवहार कर। तब यह इहलोक का नरक जेल भी स्वर्ग बन जायगा।" बस मैंने वैसा ही किया और जेलख़ाना मेरे लिए एकदम 'वेदान्त की प्रयोगशाला' बन गया।

[२]

हमारी बैरक में बड़े-बड़े इश्क़बाज़ भी रहते थे। दुर्भाग्य से अथवा सौभाग्य से एक मिरासी गवैया भी आ गया। इसके आने से एक लाभ यह हुआ कि सायङ्काल जब बैरक बन्द हो जाती थी तब बहुत रामरौला मचता था और रात्रि को ६ बजे तक लोग गाजरें बेचा करते थे अर्थात् हुल्लड़ मचाते रहते थे। इस मिरासी के आने से वह बात बन्द हुई और लोग उसका गाना सुनने के लिए चुपचाप बैठ जाते थे। मैं भी भगवान् का नाम लेता हुआ अपनी खाट पर पड़ जाता था। मैं तीन बार इस जेल में आया—१६२१ में, १६३० में और १६३२ में, तीनों बार मुझे तीन नम्बर की बैरक मिली। तीनों बार मुझे वही पहले नम्बर की सीट मिली और तीनों बार बैरक की लिस्ट में नम्बर एक पर मेरा नाम लिखा गया। इस विलक्षण योगायोग को देखकर मैं कभी-कभी यह सोचने लग जाता था कि कहीं देहरादून जेल की तीन नम्बर बैरक की यह खटिया किसी समय मेरी समाधि तो नहीं बन जायगी?

हाँ, तो मैं बात लिख रहा था एक पञ्जाबी मिरासी की। कितना मधुर गायक था, पूछिए नहीं; पर इसको अधिकतर आशिक़-माशूक़ के ही गीत याद थे। इसने लैला-मजनू, हीर-राँझा आदि का पोथा खोल दिया। कभी-कभी बुल्लेशाह का

वेदान्त भी चलता था। जब हम इसको डपट देते तो कभी-कभी बीच में "आँखों का सितारा गान्धी" यह गीत भी गा देता था।

ज़रा आप उसके नमूने सुनिए। मैंने मन में सोचा कि संसार है, सब प्रकार के लोग हैं और प्रत्येक की रुचि भिन्न है। इसलिए इन गीतों को भी वेदान्त की दृष्टि से देखना चाहिए और मेरे लिए वे सब अश्लील गीत दूसरे अर्थों में दिखाई देने लगे—

'मस्त रहते हैं यहाँ बस्ती है मस्तानों की।
यह है बाज़ार जनूँ भीड़ है दीवानों की॥'
'या इलाही मिट न जाये दर्दे दिल।
मिटनेवालों को मिटाये दर्दे दिल॥'
'लहद में भी मेरे शाने हिलाये जाते हैं।
सतानेवाले यहाँ भी सताये जाते हैं॥'
'दर्दे दिल भी क्या कोई माशूक़ है।
जिसको देखो मुबतलाए दर्दे दिल॥'
'जान तक भी मैंने दे दी आपको।
आप क्या देंगे सिवाये दर्दे दिल॥'
'रात-दिन लैला पड़ी रहती है यूँ।
अपने पहलू में दबाये दर्दे दिल॥'

मैं इन गानों को सुनते समय इश्क़ के दीवानों के बजाय मुल्क के दीवानों की कल्पना करके गानों का कुछ और ही अर्थ लगा लेता था। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दीवानों के 'वन्देमातरम्', 'जय जय जन्मभूमि', 'झण्डा ऊँचा', 'मादरे हिन्द न हो ग़मगीं' इत्यादि भजन चलते ही रहते थे।

मैंने समझा था कि 'सी' क्लास छूटने के पश्चात् 'बी' क्लास में इन इख़लाक़ी कैदियों का सङ्ग छूटेगा, पर मेरे लिए इसी जेल में रखे जाने का हुक्म आया, इसीलिए मैं यहीं रहा और इन्हींके

साथ रहा और छूटने के दिन तक रहा। क्योंकि देहरादून जेल छोटी सी जेल है, मुझे अलग रखने के लिए जेलवालों को कोई स्थान नहीं मिला। मैंने तनहाई में रखने को कहा, पर जेलवालों ने मुझे बैरक में ही रखा।

अब की वार सरकार की ख़ास नीति रही है कि 'पोलिटिकल क़ैदियों को पृथक्-पृथक् बैरक में रखा जाय, उनको आपस में न मिलने दिया जाय और इख़लाक़ी क़ैदियों के साथ रखकर उनके साथ उनको भी रगड़ा जाय। इसी कारण राजनैतिक क़ैदी बहुत परेशान रहते हैं। १६२१ और १६३० में सब राजनैतिक क़ैदी इख़लाक़ी क़ैदियों से अलग रखे जाते थे, पर अब यह बात नहीं है। अब तो जैसा डाकू, जैसा चोर, जैसा उचक्का, वैसा ही राजनैतिक क़ैदी! बस, इस 'सब धान बाईस पसेरी' की नीति के कारण जेल में "अन्धेर नगरी गवरगण्ड राजा" वाला क़िस्सा हो रहा है।

जब पहले-पहल बान बटने का काम मिला तब पहले दिन केवल तीस गज़ बान बटने में ही हाथों में दर्द होने लगा। जब थक जाते थे तब मूँज के ढेर में सो जाते थे। हमारे मित्र रावत धनश्यामसिंह मेम्बर डिस्ट्रिक बोर्ड देहरादून का भी यही हाल रहता था। मेरा बटा हुआ बान ख़राब रहता था और जब मुझसे कोई कहता कि यह तो अच्छा नहीं बटा गया तो मैं हँसकर यही उत्तर देता कि, "भाई यह बान जेल-रीति से नहीं शास्त्रीय रीति से बटा गया है!" हम अभ्यास करते-करते एक सौ छियालीस गज़ तक पहुँच गये थे कि हमारा ट्रान्सफ़र 'फुलवाड़ी' में किया गया। इतने में हमारे प्रान्त के नेता पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त इस जेल में आ गये और कुछ दिन तक उनको रोटी बनाने का काम भी मुझे ही करना पड़ा और "पोर-बावर्ची-भिश्ती-खर"—इस कहावत का अनुभव हुआ। जेलर से लेकर नीचे मामूली

क़ैदी तक शास्त्री पण्डित समझकर पहले ही हाथ जोड़ लेते थे तब मैं पीर, जब पन्त जी के लिए रोटी बेलता तो बावर्ची और जब बाग़ में कुली की तरह काम करता तब भिश्ती और ख़र बन जाता था। पन्तजी का भोजन बनाने में मैं अपना गौरव समझता था। जब एक बार मैं हलद्वानी गया था, तब पन्तजी का अतिथि था। मैंने मन में कहा कि आज पन्तजी हमारे अतिथि हैं, इसी जन्म में ऋण चुका जा रहा है—यह सौभाग्य की बात है। पन्तजी छोटी-छोटी पतली रोटी पसन्द करते थे और यह न समझिए कि मैं ख़ाली डिग्रीदार शास्त्री वेदतीर्थ हूँ, पाकशास्त्र में भी निपुण था, इसलिए पन्तजी को हमारा बनाया हुआ भोजन रुचिकर प्रतीत होने लगा। पन्तजी के भी किसी जन्म का पुण्य उदय हुआ था, नहीं तो मेरे जैसा शास्त्री पण्डित उनको पाचक रूप में कैसे मिलता! इस प्रकार मेरा 'सी' क्लास और पन्तजी का 'ए' क्लास दोनों का भोजन मिलाकर एक नया 'बी' क्लास भोजन बन जाता था। मैंने समझा कि मेरा 'सी' क्लास के छूटने का सूत्रपात हुआ और सचमुच आगे चलकर 'बी' क्लास आ ही गया।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरे काम से सब प्रसन्न रहते थे। इस बात के लिए और क्या प्रमाण दूँ? कर्नल फेलवेल सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे 'Good work and Excellent behaviour' (उत्तम कार्य और उत्तम चाल-चलन) के लिए पूरे पन्द्रह दिन का रिमिशन (छूट) दिया। बस, इसीसे समझ जाइए। चालचलन के अर्थ दुनिया में अर्थात् जेल से बाहर और होते हैं पर जेल में चालचलन का अर्थ यह है कि जेल के सब नियमों को साङ्गोपाङ्ग मानकर काम भी पूरा करना और सब प्रकार के मानापमान को सहकर शान्ति से जेल के दिन काटना। इस दशा में राजनैतिक क़ैदी को किन मुसीबतों का

सामना करना पड़ता है इसका अनुमान जब तक कोई एक बार जेल न हो आवे कैसे लगा सकता है। राजनैतिक क़ैदी तो जब तक बस चले तब तक अनाचार सह नहीं सकते। मेरा तो यह अनुभव है कि जब तक शासन-चक्र जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में नहीं आता, तब तक जेल के अत्याचार, अनाचार आदि बन्द नहीं हो सकते। वर्तमान जेलख़ाने सुधारगृह नहीं हैं। बल्कि वहाँ से चोर पक्के चोर, गुण्डे पक्के गुण्डे, डाकू परले सिरे के डाकू बनकर निकलते हैं। यहाँ मन के संस्कारों को ठीक करके क़ैदियों को सुधारने की बात की गन्ध तक नहीं। केवल ऊपरी रौब-दाब-शान का ध्यान रखकर अपने मान को सुरक्षित रखना—यही जेलाधिकारियों का कर्त्तव्य हो रहा है। जेलाधिकारी भी क्या करें? जिस जड़यन्त्र में उनका हाथ फँसा है उसीके साथ विवश घूमना पड़ता है। जेल में सब अधिकारी चाण्डाल, दुष्ट होते हैं—यह बात नहीं। जेल में बहुत से सहृदय अधिकारी भी देखे गये हैं, जो बड़ी निपुणता से काम लेते हैं।

पोलिटिकल और इख़लाक़ी दोनों के साथ एकसा बर्त्ताव करके पोलिटिकल क़ैदियों की स्पिरिट को कुचल डालने की नीति को क्या कहिएगा, मुझे कोई नरम शब्द नहीं मिल रहा है और सख़्त शब्द मैं लिखना या कहना नहीं जानता। मेरे-जैसा एक शास्त्री पण्डित गुण्डों, बदमाशों और डाकुओं के साथ रखा जा सकता है, उसको उन्हीं गुण्डों और बदमाशों की पंक्ति में बैठकर रोटी खानी पड़ती है, तो बस समझिए कि राजनीति का दिवाला निकल गया! ख़ैर, वेदान्त की दृष्टि से मैंने अपने दिन पूरे कर ही लिये। यह अच्छी बात थी कि महाभारत, वेदान्त, उपनिषद् आदि ग्रन्थों को मैं अपने पास रख सकता था, जिनके अध्ययन और मनन में ही मैं सदैव मस्त रहता था और जेल के अन्य झञ्झटों के विषय में मैं ध्यान नहीं देता था।

इस उदासीन वृत्ति से मुझे लाभ ही हुआ और मेरी मनोवृत्ति व्यर्थ इधर-उधर विचलित नहीं हुई।

साधारण क़ैदियों का दुःख सुनना, उनके दुःख में सहानुभूति प्रकट करना, कोई झगड़ा आ पड़े तो बीच में पड़कर जेल वालों को समझाना इत्यादि के कारण देहरादून जेल के सब क़ैदी मुझसे प्रसन्न थे और थे एक ही बात से नाराज़। वह थी—"मेरी फुलवाड़ी"। उनको दुःख था कि मैं काम क्यों करता हूँ, फुलवाड़ी क्यों सींचता हूँ, क्यों नहीं चुपचाप बैठा रहता? मैंने कहा कि इस प्रत्येक पुष्प-वृक्ष में देवता हैं, जल देकर उन्हीं-की सेवा कर रहा हूँ जो विकसित पुष्पों द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते रहते हैं। क़ैदी कहते ही रहते थे कि यह पुष्प वार्डर ले जाते हैं, जेलर के लिए गुलदस्ते बनकर जाते हैं; पर मैंने इनकी बात कभी नहीं सुनी।

[३]

वैसे देहरादून ज़िला है बहुत छोटा, पर है बहुत महत्त्व का। मसूरी महारानी का योग भी इसके महत्त्व का प्रधान कारण है। वर्त्तमान समय में नौकरशाही का प्रधान गढ़ होने के कारण इसको बहुत महत्त्व प्राप्त हो रहा है, पर इसकी जेल है बहुत छोटी—केवल १२० क़ैदियों के रखने की फ़ोर्थ क्लास जेल। परन्तु श्री पं० जवाहरलालजी के आने से फ़र्स्ट क्लास जेल बन गई। भारतवर्ष का ही क्या, सारे जगत का ध्यान दो ही जेलों की ओर है—एक देहरादून जेल व दूसरी यरवदा जेल। पूना-पैक्ट के सफल होने की ख़बर यरवदा से यहाँ तार-द्वारा तुरन्त पहुँचाई गई थी। प्रयाग यूनिटी कान्फ्रेंस की सफलता की ख़बर भी यहाँ कान्फ्रेंस की समाप्ति के एक घण्टे में ही पहुँच गई थी, अख़बारों को तो पीछे से पता चला होगा।

मुझे बड़ी प्रसन्नता रही कि मैं यहीं रहा, फ़ैज़ाबाद नहीं भेजा गया। पिछले छः मास में मैंने वेदान्त-शास्त्र के चारों भाष्य अर्थात् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मधवाचार्य, वल्लभाचार्य के भाष्यों को कई वार देख डाला। महाभारत के वन, विराट, उद्योग पर्व को भी देख डाला। इनके अतिरिक्त मरहठी और अँगरेज़ी के कई ग्रन्थ देख डाले। अँगरेज़ी ग्रन्थों में ईसाइयों की पुस्तकें अधिक थीं। वेदों में यजुर्वेद के कई सूक्तों पर विशेष विचार करने का समय मिला। गीता में ज्ञानेश्वरी का ही पारायण कर सका। समस्त गीता में निम्नलिखित दो श्लोकों पर ही मैंने सैकड़ों वार विचार किया जिससे मुझे बहुत लाभ हुआ। वे श्लोक ये हैं—

सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

इन श्लोकों के समझने के लिए जेल से अच्छा और कौनसा स्थान मिल सकता था? गीता के दो ही तात्पर्य हैं—एक सम-बुद्धि बनने की बात, दूसरी फल की आकांक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करते रहने की बात।

वेदान्त का तात्पर्य यह है कि इस संसार में सारा झगड़ा "अहं" और 'त्वं' का है। सारा झगड़ा 'अहन्ता' और 'ममता' का है। इसीसे संसार चलता है और इसीसे नष्ट भी होता है। अहन्ता और ममता का झगड़ा कटा कि मोक्ष हुई समझिए। पर इनका फन्दा काटना है कठिन। इसलिए वेदान्त-शास्त्र एक सुलभ उपाय बतलाता है कि यदि अहन्ता और ममता का जाल नहीं कट सकता तो—

अहन्ता ममता त्यागः कक्षतुं यदि न शक्यते ।
अहन्ता ममता भावः सर्वत्रैव विधीयताम् ॥

अहन्ता ममता को विस्तृत रूप दे दो, उस भाव को सर्वत्र फैला दो, बस दुःखों से छुटकारा हो जायगा। मतलब यह है कि 'ममता' शब्द के प्रथम 'म'-कार को बदलकर उसके स्थान में 'स' कर दो अर्थात् ममता के स्थान में समता का प्रयोग करते चलो। फिर देखो कैसा आनन्द आता है ?

महाभारत वन-पर्व में मुझे एक श्लोक मिला—

पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः

एक वार हैहय-वंशज किसी राजपुत्र ने मृगया करते हुए भूल से एक ऋषिकुमार पर बाण छोड़ा जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और मर गया। जब राजकुमार अपने पिता के पास पहुँचा और सब वृत्तान्त कहा तब पिता बहुत दुःखी हुआ। राजकुमार को लेकर एक दम ऋषि अरिष्टनेमि (जिसका कि पुत्र मरा था) के पास पहुँचा। बहुत पश्चात्ताप किया। इस घोर अपराध का प्रायश्चित्त पूछा। तब ऋषि ने हँसकर कहा—भाई तुम क्या कह रहे हो, मेरा पुत्र तो मरा नहीं है और न मर सकता है। हम पुण्य देश के रहनेवाले हैं, तेजस्वी देश के रहनेवाले हैं, हमको मृत्यु का भय कहाँ ? ये बातें हो रही थीं कि वह ऋषिकुमार इतने में आ गया और सब बड़े प्रसन्न हुए।

हमारा भारतवर्ष सचमुच किसी समय पुण्य देश, तेजस्वी देश था, पर काल-वश सब उलट-पुलट हो रहा है। यहाँ तो अब पदे-पदे मृत्यु-भय उपस्थित हो रहा है। महात्माजी के अहिंसात्मक भावों का उदय हो रहा है। सत्य और तप का वेग उमड़ रहा है और आशा होती है कि फिर भारत पूर्ववत् पुण्य और

तेजस्वी देश बनने की तैयारी कर रहा है। सत्य से, तप से, अहिंसा भाव से क्या सिद्ध नहीं हो सकता? सत्य से, तप से, अहिंसा भाव से क्या नहीं मिल सकता?

वाचक वर्ग! मैं बहक गया, किधर का किधर ही जा पहुँचा। कन्हैयालाल गोबा की 'नं० ९९' नामक अँगरेज़ी में एक पुस्तक देखी जिसमें भारतीय नरेशों की विषय-लोलुपता, विलास-प्रियता, अधिकार-मद, अत्याचारों की कहानी पढ़कर रोमाञ्च खड़े हो गये।

ख़ैर, मैं फुलवाड़ी भी सींचता रहता और जब समय मिलता इस प्रकार की वेदान्त-चर्चा, शास्त्र-मनन से समय और समय के साथ जेल को भी काटता रहता था।

[४]

देहरादून जेल में अधिकतर शराब बनानेवाले, औरतों-वौरतों के क़िस्से के क़ैदी ही अधिक संख्या में रहते हैं। गवर्नमेण्ट को भी बात तो देखिए। इनके अथवा इनके द्वारा अनुमतिप्राप्त शराब के अड्डे पर जाकर शराब मोल लीजिए, सब कुछ जायज़; पर अपने यहाँ बनाकर कोई पीये या बेचे तो वह नाजायज़! देहरादून के पश्चिम भाग के लोग अक्सर चोरी से शराब बनाते व बेचते हैं और सरकार भी उनको ढूँढ़कर पकड़ती और दण्ड देती रहती है; पर उन लोगों ने एक प्रकार से सरकार को हरा ही रखा है। वे लोग अपनी बनाई हुई शराब को गान्धी मार शराब कहते हैं। औरतों के भगाने, कहीं बेचने या इसी प्रकार के अभियोगों (३६६ धारा) में बहुत आते रहते हैं। खून, चोरी आदि में कम आते थे पर जब से पश्चिमी हवा का प्रवेश हुआ तब से देशी लोगों के संसर्ग से पहाड़ी लोग भी इस अपराध में आने लगे। पुलिस की १०९ धारा में भी बहुत से

लोग आते हैं। इस धारा में पकड़े हुए अधिकतर लोग निर्दोष व अल्पसंख्यक लोग दोषी होते हैं। यह है अवारागर्दी की धारा। इस १०९ का बड़ा भाई है ११०। यह पुराने डाकू, चोरों पर जब कि उनपर कोई सबूत नहीं मिलता तब लगाई जाती है। नीचे देश की जेलों से क़ैदी लाकर न रखें जायँ तो देहरादून जेल तो ख़ाली ही पड़ी रह जायगी। ये जेल के क़ैदी क्या हैं, अच्छे-भले बोलते-चालते जेल के कबूतर हैं। बार-बार बाहर उड़ जाते हैं पर सायङ्काल उनका बसेरा जेल में ही रहता है। नाना प्रकार के कष्ट मिलते हैं तो भी जेल उनका घर हो गया है।

पोलिटिकल क़ैदी भी अब जेल के कबूतर बन गये हैं। सरकार का क़ानून तोड़ना, जेल में जाना, फिर आना, फिर जाना—यही एक वश की बात रह गई है। पोलिटिकल क़ैदियों में दो बातों में बड़ा मत-भेद रहता है। वह यह कि जेलों में जाकर वहाँ के नियन्त्रणों को सहर्ष माना जाय या नहीं? दूसरी बात है मानापमान की। यही निर्णय नहीं होने पाता कि मानापमान की बात की मर्यादा कहाँ तक है? यह सच है कि अपनी-अपनी दृष्टि से मानापमान का लक्षण भिन्न-भिन्न ही होगा। मैं कहता हूँ कि जहाँ व्यर्थ ही अपमान होता हो फिर वह सहने की बात नहीं है। जेलवाले शुद्ध भाव से काम न लेवें तो फिर झगड़ा ही झगड़ा रहेगा। इसके विपरीत शुद्ध भाव से काम लेवें तो राजनैतिक क़ैदियों से कभी भी झगड़े नहीं होसकते। महात्मा गान्धी का मत है कि अपमान की बातों को छोड़कर जेल के सब नियमों का सहर्ष पालन करना चाहिए। काका कालेलकर का भी यही मत है। मेरा ख़याल है कि जेल-मैनुअल के कतिपय नियम बदलने से बहुत से झगड़े मिट सकते हैं। वे पुराने नियम इस समय काम नहीं आ सकते। पोलिटिकल क़ैदियों को अपने वस्त्र मिलने चाहिएँ। पहनने के लिए जूते का प्रतिबन्ध नहीं

होना चाहिए। पढ़ने के लिए पुस्तकें मिलनी चाहिएँ। जेल के भीतर कभी-कभी सप्ताह भर में एक बार सभा करके विचार-विनिमय करने के लिए अवसर देना चाहिए। मुलाक़ात में सुभीते होने चाहिएँ। सब पोलिटिकल क़ैदी ए०, बी०, सी०, एक स्थान में रखे जाने चाहिएँ। इससे नेताओं के साथ रहने से जेल में इतनी गड़बड़ी नहीं मचेगी। पोलिटिकल क़ैदियों को चाहे वर्त्तमान पद्धति का भोजन मिले पर वह ज़रा ढङ्ग का तो हो। अच्छे तरीक़े से बनाया जाय तो यही भोजन अच्छा बन सकता है।

नये शासन-चक्र में जब कि शासन-सूत्र विशेष रूप में जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आ जायगा तब आशा करनी चाहिए कि जेल-सुधार की ओर सबसे प्रथम ध्यान जायगा। नहीं तो वर्त्तमान पद्धति ही रही तो चोर, डाकू आदि की संख्या कभी नहीं घटेगी, कभी नहीं घटेगी। इस जड़यन्त्र में आत्मा है कहाँ? इसमें क़ैदियों की मानसिक दशा को सुधारने की बात है कहाँ? वर्त्तमान जेलख़ाने मिथ्यावाद, लोलुपता और अत्याचार के केन्द्र हैं, वे सुधार-गृह नहीं हैं। इनमें जाकर कोई भी सुधरकर नहीं आ सकता।

त्रयोदश गुच्छक

१—विद्या और ब्राह्मण

—:o:—

विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहने लगी:—ब्रह्मन् मेरा निवेदन सुनो !

ब्राह्मण—क्या आज्ञा है, भगवती !

विद्या—मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा कोष हूँ ।

ब्राह्मण—मैं तुम्हारी रक्षा अब किस प्रकार करूँ ? अब तक तुम्हारी रक्षा के लिए ही मेरे तन-मन-धन-प्राण व्यय हुए हैं । मेरे पूर्वज तुम्हारी रक्षा में ही अनन्त काल से संलग्न रहे हैं । कहो देवि ! क्या कष्ट है ? तुम्हारी रक्षा में क्या त्रुटि है ?

विद्या—ब्रह्मन् आपसे यही प्रार्थना है कि आप निन्दक, कुटिल स्वभाववाले, ब्रह्मचर्य्य-व्रत-शून्य शिष्यों को कभी न पढ़ाइए । यदि आप इस बात का ध्यान रखेंगे और अधिकारियों को=भक्त-शक्त शिष्यों को ही मेरा दान करेंगे तो मैं अवश्य पराक्रम-शालिनी बनूँगी ।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।
यस्तेन द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् !

विद्या—जिसको आप जानें कि यह शुचि=शुद्ध है, मनसा-वाचा-कर्मणा एक रूप है, अप्रमत्त=प्रमाद-रहित है, मेधावी है,

ब्रह्मचारी है और किसी दशा में भी आपके साथ द्रोह-बुद्धि रखनेवाला नहीं है, उसीको आप मेरा दान कीजिए। ब्रह्मन्, वही शिष्य सच्चा निधिप है, मेरी रक्षा करनेवाला है। ब्रह्मन्, इस बात का यथेष्ट ध्यान रखिएगा।

विद्या शिष्यों के प्रति बोली—

य आतृणात्य वितथेन कर्णौ अदुःखं कुर्व्वन्, अमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥

विद्या—हे शिष्यो, जो मधुर उपदेशों से, विद्या-दान द्वारा सत्य के प्रकाश से अज्ञान के बन्धनों को काटता है, ज्ञान-रूपी अमृत देता है, उसीको तुम अपना माता-पिता समझो। उसके साथ किसी दशा में भी द्रोह न करो। द्रोह करोगे तो मैं (विद्या) निष्फल हूँगी।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्तो विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयाः तथैव तान् न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

विद्या—जो बुद्धिमान शिष्य उपर्युक्त तत्त्व को न समझकर मन-वचन-कर्म के द्वारा गुरुओं का आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु द्वारा रक्षा नहीं किये जाते, उसी प्रकार उससे पढ़ा हुआ-सुना हुआ भी सफल नहीं होता—शिष्य का अध्ययन निरर्थक हो जाता है। शिष्यो, इस तत्त्व को हृदय में धार लो, जिसके साथ तुम द्रोह-बुद्धि रखोगे, उस गुरु का हृदय-कमल तुम्हारे पढ़ाने के लिए कैसे खिलेगा और तुम ही उससे क्या प्राप्त कर लोगे?

यह है विद्या, गुरु और शिष्य की बातचीत, जो अलङ्कार-रूप में निरुक्त तथा मन्वादि धर्मशास्त्रों में वर्णित है। कैसा सुन्दर उपदेश है! गुरु-शिष्य-भाव को स्थिर रखने का—विद्या को तेजस्वी बनाकर सुरक्षित रखने का कैसा सुन्दर उपाय है!

प्राचीन समय में प्रत्येक गुरु-गृह साक्षात् गुरुकुल था। आचार्य पिता और गायत्री माता थी। आचार्य पूर्व रूप, अन्तेवासी उत्तररूप और प्रवचन सन्धान था। इन्हीं गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य्य-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन होता था, इसीसे वर्णाश्रम-धर्म सुरक्षित थे। आज वैदिक राज्य-प्रणाली के अभाव में न अपनी विद्या-सभा है, न राज-सभा है और न धर्म-सभा है।

प्राचीन तपोधन ऋषि-मुनि-ब्राह्मणों के तप से या पूर्व जन्म के पुण्य-प्रताप से आर्य जाति जीवित है—यह क्या थोड़ी बात है? ईश्वर की इच्छा है कि अपने पापों के भुगतान के पश्चात् यह जाति फिर उठे और इसके द्वारा प्राचीन शिक्षा-दीक्षा, रीति-नीति, आचार-विचार-सभ्यता का पुनरुज्जीवन होकर केवल भारत का ही भला न हो बल्कि अखिल संसार मात्र का भला हो—एवमस्तु!

उत्तर भारत में गुरुकुल-प्रणाली का पुनरुज्जीवन किया जा रहा है। गुरुकुल काँगड़ी, महाविद्यालय ज्वालापुर, ऋषिकुल हरिद्वार, ये तीन प्रकार के तीन नमूने हैं। दक्षिण भारत में भी एकाध संस्था है। मुझे हर्ष होता है कि मध्यभारत में मालव-गुरुकुल की आयोजना हो रही है। उसकी शीघ्र स्थापना हो और उसके द्वारा मध्यभारत का कल्याण हो—तथास्तु!

२—मृत्युञ्जय दयानन्द

समस्त संसार मृत्यु से डरता रहता है। कौन प्राणी है, जो जन्म-मरण के चक्र से बचा है? यह बात है, तो भी शास्त्रों में जन्म-मरण के चक्र से बचने के उपाय हैं ही। जिससे मृत्यु डरता रहता है, उसीकी शरण गहने से मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है। वह कौन है जिससे मृत्यु डरता रहता है, जिसकी आज्ञापालन में वह इधर-उधर भागता फिरता है, जिसके भय से अग्नि भयभीत रहता है, जिसके भय से सूर्य तपता रहता है, जिसके भय से इन्द्र और वायु काँपते हैं? जिसके भय से मृत्यु दौड़ता रहता है, वह कौन है? वह वही ब्रह्म है जिसका वर्णन केनोपनिषद् में स्पष्ट सुन्दर शब्दों में मिलता है। स्वामी दयानन्द के जीवन को पलटा देनेवाला मृत्यु ही था। उसीसे बचने के लिए महादेव की खोज में वह घर से निकला और अन्त में महादेव को खोज ही तो लिया। फिर उसको मृत्यु क्यों सताता, क्यों डराता? मृत्यु स्वयं उससे डरता रहता था। अन्त में मृत्यु ने उसको ग्रस तो लिया, किन्तु वह ग्रसना अमर बनाने के लिए था। ऐसे महापुरुषों को मृत्यु अमर बनाने के लिए ही ले जाया करता है। स्वामी दयानन्द कर्मयोगी थे, वह ईश्वरार्पण-विधि को जानते थे, उनको फल की आकांक्षा छोड़-कर काम करना आता था, ईश्वरीय न्याय में उनको पूर्ण विश्वास था, इसीलिए मृत्यु के समय, प्राण-वियोगानुकूल व्यापार के अवसर पर, उनके मुख से—"ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो! ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो!!" यही शब्द निकले। स्वामी दयानन्द

ईश्वर की इच्छा से आये थे। स्वामी दयानन्द विशेष उद्देश्य से आये थे। उस उद्देश्य की पूर्त्ति होते ही वे चल दिये। वे रुक नहीं सकते थे। कर्म-गति के अनुसार ईश्वर ने उन्हें कहाँ भेजा—इसको कोई नहीं जानता। उनकी उत्कट इच्छाओं को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उन्हें भारतवर्ष में ही आने की प्रबल इच्छा थी। "आगामी जन्म में वेद-भाष्य पूरा करूँगा" इत्यादि संस्कार उनके साथ गये थे; इसलिए भी उनको भारतवर्ष में ही आना चाहिए था। यदि वे भारतवर्ष में हैं तो किस रूप में हैं, कहाँ विराजमान हैं—यह कौन कह सकता है? यदि भारतवर्ष के ऐसे मन्द भाग्य हैं कि अभी उनका आना नहीं हो सका है, तो वे किस लोक-लोकान्तर को भूषित कर रहे हैं, भगवान् जाने? वेद और आर्य-संस्कृति का उद्धार—ये दो ही उनके प्रमुख एवं प्रिय कार्य थे और ये दोनों ही इस समय बड़े वेग से हो रहे हैं।

वे सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी थे। धार्मिक जगत् में उन्होंने जो उथल-पुथल मचा दी है, वही उनके प्रबल क्रान्तिकारी होने का पूर्ण प्रमाण है। वे सच्चे ब्रह्मचारी, सच्चे संन्यासी, ध्यान-योगी, कर्मयोगी, विद्वान्, यति, व्रती और महाविभूति थे। इस विज्ञान-युग में जब कि भारत का मुख पाश्चात्य सभ्यता की ओर फिर रहा था, यह स्वामी दयानन्द का ही काम था कि उन्होंने भारत का मुख स्वसंस्कृति की ओर फेरा। अँगरेज़ी शिक्षा-दीक्षा के संस्पर्श से दूर रहते हुए भी उन्होंने स्वविद्या-बुद्धि-बल का जो अपूर्व परिचय दिया, उसको देखकर संसार दङ्ग है। वे कहीं आंग्ल शिक्षा में लालित-पालित-पोषित होते, तो समस्त संसार ही क्या, अपना भारत भी यही कहता कि स्वामीजी ने जिन बातों का प्रकाश किया है उनका मूल ही आंग्ल शिक्षा-दीक्षा में है। केवल वेद-शास्त्र के बल पर इतनी बड़ी क्रान्ति मचानेवाला स्वामी दयानन्द अपने-जैसा आप ही

है। ईश्वर की परम कृपा थी कि स्वामी जी अँगरेज़ी का फूटा अक्षर भी नहीं जानते थे।

ऐसे यतिराज दयानन्द के गुण-गान करने में किसको आनन्द न आयेगा? ऐसे तेजस्वी महापुरुष के अनुयायी कहलाने में किसको सङ्कोच होगा? यदि स्वामीजी ने वेद-शास्त्र व स्वसंस्कृति के उद्धारार्थ जितना तप किया, जितने कष्ट सहे, हम लोग सहस्रांश भी उसका अनुकरण करें, तो आज आर्यसमाज संसार की प्रिय वस्तु हो जाय। स्वामीजी का जीवन पुकार-पुकारकर कह रहा है—तप! तप!! तप!!! स्वामीजी का सन्देश गूँज रहा है—वेद! वेद!! वेद!!! ऐसा अच्छा तेजस्वी मार्गदर्शक मिले और हम फिर भी उद्दिष्ट स्थल पर न पहुँच सकें—यह हमारे लिए लज्जा, अनुताप और अभिशाप की बात है। हम इस अर्द्धशताब्दी के अवसर पर स्वामीजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं; क्योंकि हमें उन्हींकी शिक्षा से शिक्षित, उन्हींकी दीक्षा से दीक्षित और उन्हींके प्रकाश से प्रकाशित होने का गौरव प्राप्त हुआ है। मृत्युञ्जय दयानन्द! तेरी शुभ्र कीर्ति दिग-दिगन्त में व्याप्त हो रही है और तेरी दी हुई दिव्य स्फूर्त्ति से भारतवर्ष फिर सचेत हो रहा है।

३—समय का फेर

—:o:—

"समय एव करोति बलाबलं ! प्रणिगदन्ति इतीव शरीरिणाम् ॥
शरदि हंसरवाः परुषीकृत स्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥"
(माघ—६—४४)

वर्षा-ऋतु में मयूर का कूजन मधुर प्रतीत होता है और शरद-ऋतु में उसकी ध्वनि कर्कश हो जाती है। वर्षा-ऋतु की समाप्ति के साथ ही हंसों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है और मधुर हंस-ध्वनि से ही मानवगण मुदित होने लगते हैं। शरद-ऋतु के प्रारम्भ-काल में मानो हंस अपनी मधुर ध्वनि से संसार को यह उपदेश देते प्रतीत होते हैं कि—"देखो, वर्षा-ऋतु में मयूरों की बात बनती थी। उसकी समाप्ति के साथ ही उनकी बात जाती रही। अब हमारी ऋतु है और हमारी ही पूछ; इससे इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि समय ही किसी-को बलवान् और किसीको निर्बल बना देता है।"

शरद-ऋतु के आगमन के साथ ही वर्षा-ऋतु के दुर्दिन समाप्त हो जाते हैं, आकाश निरभ्र हो जाता और मानवी संसार में—नहीं-नहीं, प्राणिमात्र में—आशा का सञ्चार होने लगता है। कोई चार-चार मास की एक ऋतु मानकर ग्रीष्म, वर्षा और शीत इस प्रकार तीन ऋतुएँ मानते हैं; कोई शिशिर और हेमन्त को एक मानकर पाँच ऋतुएँ मानते हैं; कोई वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर—इस प्रकार छः ऋतुएँ मानते हैं।

इसी ऋतु-चक्र और संवत्सर की महिमा को ऋग्वेद अत्यन्त सुन्दरता से वर्णन करता है:—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥
(ऋ० २-३-१४-२)

संवत्सर का चक्र किस प्रकार घूमता है; ऋतु-परिवर्त्तन क्यों होता है; इस चक्र-परिवर्त्तन में आदित्य का कितना भाग है, इत्यादि सोपपत्तिक वर्णन है।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृति दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्।
(ऋ० २-३-१६-२)

इसी प्रकार सूर्य, उसके बारह प्रकार के कर्म, उसके कारण से होनेवाले बारह मास, संवत्सर-रूपी चक्र में लगे हुए तीन, पाँच, अथवा छः ऋतु-रूपी आरे, उस चक्र में ठुकी हुई ३६० दिन (दिन-रात्रि मिलाकर) रूपी कीलें अथवा रात्रि और दिन को पृथक् मानकर ७२० कीलें—इस संवत्सर-रूपी चक्र को आदित्य अपने घोड़ों (रश्मियों) द्वारा नियम-पूर्वक खींचता रहता है। इसी कारण से संसार में परिवर्त्तन होता रहता है।

हम अभी ऊपर लिख चुके हैं कि हंस अपनी मधुर ध्वनि से सन्देश दे रहा है कि, "समय ही बलवान् और निर्बल बनानेवाला है।" कहाँ वे दिन जब कि आर्य-जाति का संसार में सर्वत्र साम्राज्य था, कहाँ आज का दिन कि उस आर्य-जाति के साम्राज्य की बातें अब केवल इतिहास के पृष्ठों में पढ़ने को मिलती हैं! यह समय की महिमा नहीं, तो क्या है?

संसार-भर का शासन करनेवाली जाति अब स्वयं शास्य हो रही है। संसार भर को सभ्यता का पाठ पढ़ानेवाली जाति आज स्वयं निर्वाह की चिन्ता के लिए विधर्मी, विदेशी, अस्वाभाविक अतएव स्व-स्थिति-नाशक शिक्षा के लिए अपने शिष्य-वर्ग को सन्तान के निहोरे कर रही है। यह है समय की महिमा! यह है समय का प्रभाव!!

विजयादशमी का पर्व प्रति वर्ष एक दिन के लिए आकर प्राचीन साम्राज्य की स्फूर्ति और उसकी दिव्य स्मृति दिला जाता है। यह सब समय का फेर है ? हाँ, भाई ! समय का फेर है और क्या कहा जाय ?

दशहरे के दिन—जिसका दूसरा नाम विजयादशमी है—लोग कहते हैं–इतिहास के अवशेष पन्ने बतला रहें हैं कि भगवान् रामचन्द्र ने रावण के दश शिर हरे थे; इसलिए इस दिन का नाम दशहरा पड़ा। कोई कहते हैं कि इस दिन महाभारत में पाण्डवों की विजय हुई थी। पहली बात अधिक सयुक्तिक प्रतीत होती है।

वैसे तो रावण प्रमत्त एवं अभिमानी था; परन्तु वह तपस्वी भी था। शिवजी को प्रसन्न करने के लिए उसने अपना एक-एक सिर क्रम से काट-काटकर शिवजी पर चढ़ाया था। शिवजी उसके साहस से इतने प्रसन्न हुए थे कि जहाँ रावण ने अपना सिर काटकर चढ़ाया कि झट उसका सिर वहीं अपने स्थान पर आकर लग जाता था। सारा संसार रावण से थर्राता था। ऐसे रावण को मारकर ही राम का यश संसार में चिरस्थायी हो गया है।

लोग कहते हैं–रावण मर गया। प्रति-वर्ष रामलीला वाले अपनी लीला में बड़े-बड़े रावण बनाकर जला देते हैं; किन्तु मेरा विनम्र निवेदन है कि रावण फिर जीवित हो गया है। आँखें खोलकर देखो, रामायण की बातों को आज-कल के शासक-वर्ग, उनके जाति-भाई और उनकी शासन प्रणाली से मिला-मिलाकर देखो। आज-कल के देवी-देवता ऋषि-मुनि आदि को, इस देव-भूमि की दशा का मिलान करके देखो, कितनी समानता है !!!

इस रावण का जन्म-स्थान सात समुद्र पार द्वितीय गोलार्द्ध

में है। इसके सुन्दर दशकन्धरों का दर्शन करना चाहें तो आप-को "राष्ट्र-सङ्घ" में ही दर्शन हो सकेंगे। भारतवर्षीय रावण से यह पाश्चात्य रावण अधिक भयङ्कर है। संसार-भर के सब देव इसके यहाँ कारागार में हैं; अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, अश्विनी-कुमार, सब इसीके वश में हैं; पृथ्वी पर तो इसका साम्राज्य है ही, इसने अन्तरिक्ष-लोक भी नहीं छोड़ा। यह द्युलोक को भी हड़पने की चिन्ता में है। यह समय की गति का ही प्रभाव है।

संसार में सृष्टि की आदि से लेकर अब तक बराबर देवासुर-संग्राम चला आ रहा है। देवताओं को जहाँ असुरों का पता चलता है, उसी लोक में देवता जन्म लेते हैं और असुरों के पराजय का यत्न करते रहते हैं। इसके विपरीत जहाँ असुरों को देवताओं की गन्ध मिली कि बस वे वहीं पहुँच जाते हैं। इस तरह अनन्त काल से दोनों एक दूसरे के पीछे पड़ रहे हैं।

एक वार असुरों ने अन्तरिक्ष में अपना दुर्ग बना लिया था। वहाँ से ही वे पार्थिव देवों को कष्ट पहुँचाते रहते थे। पार्थिव देवों ने बड़े यत्न से भोलानाथ को प्रसन्न किया और असुरों का वध करने के लिए प्रार्थना की।

बम् भोलानाथ ने क्रोधावेश में आकर असुरों के 'त्रिपुर' को भस्म किया। असुर पृथ्वी पर उतर आये। जब यहाँ भी मार पड़ी, तब समुद्र में घुस गये। जब अगस्त ऋषि द्वारा समुद्र खाली करा लिया गया और वहाँ भी मूसल पड़ने लगे, तब ये असुर समुद्र के नीचे पाताल में जा घुसे। इस प्रकार देवासुर-संग्राम का बड़ा लम्बा इतिहास है। जब समुद्र में फिर से जल भर गया तब समुद्र पर असुरों का पुनः आधिपत्य हुआ। वे अन्तरिक्ष में विचरने और पृथ्वी पर निःशङ्क फिरने लगे। इस प्रकार इस समय तीनों लोक में इनकी अव्याहत गति है। यह सब समय की ही लीला है।

इन असुरों को देवता जीत सकते हैं; किन्तु जीतें कैसे ? ये तो स्वार्थ में फँसे हुए हैं। देवता जब अपना स्वार्थ छोड़ते हैं, तभी इनमें दिव्य स्फूर्ति आती है। भारतवर्ष के तेतीस करोड़ देवता इस समय परस्पर दुर्बुद्धि के ग्रास हो रहे हैं, निर्बल हो रहे हैं। इन तेतीस करोड़ देवताओं में केवल तेतीस अथवा केवल तीन देवता भी यदि निःस्वार्थ भाव से काम करें, तो इन असुरों का—केवल भौतिक साधनों पर ही विश्वास रखनेवालों का—पूर्ण पराजय हो सकता है।

एक गाथा है कि देवगण असुरों के भय के मारे मृत्यु को दुहाई देकर उसके पीछे जा खड़े हुए। जब असुर वहाँ भी पहुँचे तब वे देवता त्रयी विद्या में घुस गये। जब वहाँ भी असुरों ने पीछा किया, तब वे स्वरों में जा छिपे। वहाँ असुर उनको देख न सके।

भाषा थोड़ी आलङ्कारिक है, गाथा भी आलङ्कारिक है। जब देवताओं को अपने स्वरूप और अपनी सत्ता का पूर्ण ज्ञान होगा, तभी वे बलशाली होकर अन्त में असुरों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। प्रजापति को चिन्ता हुई कि मैं अकेला हूँ, अपने-जैसे और भी बना लूँ, तो अच्छा हो। उन्होंने अपने शरीर के अच्छे भाग से, अर्थात् "सु" से सुर और "असु" अर्थात् रद्दी भाग से असुर उत्पन्न किये। प्रजापति के अच्छे भाग से उत्पन्न होने पर सुरों की यह दुर्दशा और रद्दी भाग से उत्पन्न होने पर भी असुरों की यह सुदशा ! यह समय का फेर नहीं तो क्या है ?

विजयादशमी हमें "समय के फेर" का ही बार-बार सन्देश दे रही है।

४—शिक्षित युवकों की होली

'ज्यों के त्यों मतिमन्द, उपदेश घने सुन डाले ॥' (शङ्कर)

आज-कल शिक्षित समुदाय में यह प्रश्न बड़े बल के साथ उठ रहा है कि पहले देश कि पहले धर्म ? किन्हीं-किन्हींका मत है कि पहले धर्म, फिर देश। दूसरे विचारों के लोग कहते हैं कि पहले देश, फिर धर्म। क्योंकि जब देश ही सुरक्षित नहीं, देश ही दीन-हीन, पराधीन, अनन्यगतिक हो रहा है, तब धर्म का यथार्थ पालन असम्भव, नितरां असम्भव है। वस्तुतः देखा जाय तो देश का प्रश्न धर्म से पृथक् नहीं है। वह तो पृथक् तब दिखलाई पड़ता है जब धर्म को सङ्कुचित रूप दिया जाता है। मनुष्य जिस भूमि में जन्म लेता है, पलता है, उस भूमि की रक्षा करना भी तो परम धर्म है।

जब देश-रक्षा भी धर्म का प्रधान अङ्ग है तो उसकी रक्षा का प्रश्न स्वयं ही उस देश के निवासियों के सम्मुख आवेगा। उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब कि उस देश के निवासी नवयुवकों में तेजस्विता का सञ्चार हो जायगा। जिस देश के नवयुवक निस्तेज होंगे वह देश भी तेजोहीन, बलहीन होगा। अब ज़रा भारत के नवयुवकों पर दृष्टि डालिए। अधिक संख्या पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त कर रही है और पाश्चात्य दीक्षा प्राप्त करके 'आत्म-विश्वास' की मात्रा को सर्वथा खो बैठी है। स्कूलों और कॉलेजों की ओर दृष्टि डालिए तो एक विचित्र अनुभव होगा। देश में इतना बड़ा आन्दोलन उठा, उसमें नवयुवकों ने अपेक्षित सहायता नहीं दी, अपेक्षित त्याग नहीं दिखलाया—यह कम

दुःख की बात नहीं है, प्रत्युत लज्जा की बात है, देश के दुर्भाग्य की बात है।

जब भारत की नर-नारियों पर लट्ठ बरस रहे थे, तब भी कॉलेज और स्कूल बराबर भरे रहे और हमारे नवयुवक—भारत के भावी आशाङ्कुर—वहाँ जाकर उसी इङ्गलैण्ड के इतिहास को पढ़ते रहे जिसका भारतवर्ष की उन्नति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, अब तब के साथ अवश्य सम्बन्ध रहा है। अन्य किसी देश में इस प्रकार का देश-सङ्कट, जनपदध्वंस हुआ होता तो वहाँ के छात्र व उनके गुरु क्या इसी प्रकार की प्रवृत्ति रखते? संसार में जितनी भी बात है वह है मस्तिष्क की, मनोवृत्ति की। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा ने भारत के छात्रों के मस्तिष्क और मनोवृत्ति को इस प्रकार दूषित कर डाला है कि उसको देखकर कहना ही पड़ता है—

'ज्यों के त्यों मतिमन्द, उपदेश घने सुन डाले॥'

प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि विश्व-विद्यालयों से प्रतिवर्ष जो सहस्रों उपाधिधारी बी० ए०, एम० ए०, निकलते हैं उनकी क्या दुर्गति हो रही है। मारे-मारे फिर रहे हैं, खाने को नहीं, पहनने को कपड़ा नहीं, जहाँ कहीं दफ़्तरों में कोई जगह ख़ाली हुई कि परमुखापेक्षी ये नवयुवक भुक्कड़ों की भाँति वहाँ जा पहुँचते हैं, निरादृत होते हैं, धक्के खाते हैं और निराश होकर लौटते हैं! इनको यह सुबुद्धि नहीं होती कि ग्रामों में जाकर बैठें। दस-दस, पाँच-पाँच ग्रामों को सँभालकर अपना व अपने देश का उद्धार करें। करें कैसे? इनके मस्तिष्क ही विकृत हो गये हैं। आज भारत के नवयुवक इस तत्त्व को समझ लें तो भारत के एक लक्ष बहत्तर सहस्र ग्रामों में एक बड़ा भारी सङ्गठन-सूत्र ओत-प्रोत हो सकता है। लोकमान्य तिलक अपनी तेजस्विता द्वारा इनको

समझा गये, महात्मा गान्धी प्रति दिन इसी बात पर—स्वावलम्बन पर—ज़ोर देते हैं; पर देश का दुर्भाग्य कि ये नवयुवक—

'ज्यों के त्यों मतिमन्द, उपदेश घने सुन डाले ।।'

कॉलेज-स्कूल के लड़कों में अभी इतनी भी स्पिरिट नहीं आई कि और कुछ न कर सकें तो स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार रखें, उच्च विचार व सरल जीवन की ओर ही ध्यान दें। इन छात्रों की रहन-सहन देखिए, रङ्ग-ढङ्ग देखिए, देखकर लज्जा के मारे नतमस्तक होना पड़ेगा और भगवान्से प्रार्थना करनी पड़ेगी कि भगवन्! इन नवयुवकों को सुबुद्धि देवें जिनका केवल मस्तिष्क ही विकृत नहीं हुआ अपितु भेष, भाषा, भाव भी इतना बदल गया कि कौन कहे कि ये भारतीय आत्माएँ हैं? कौन कहे कि ये भारतीय छात्र हैं?

इन नवयुवकों से बात-चीत करो तो काट खाने को दौड़ते हैं, "बस जी, देख लिया कांग्रेस को, देख लिया महात्मा गान्धी को, देख लिया इनके अहिंसात्मक सत्याग्रह को! बस, ये पिटने की, मार खाने की विद्या हमको पसन्द नहीं" इत्यादि उपदेश देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। न तो ये आगे आते हैं, न पीछे ही चलते हैं। कहते हैं, "रूस-जैसी क्रान्ति हो तो काम बने।" कहते हैं, "कोई लेनिन आवे तो काम बने।" इनको हाथ जोड़कर यही कहके अपना छुटकारा करना पड़ता है, "हाँ, तुम ग़ुलामख़ानों में ग़ुलामी की मोहरें लगवाओ और लेनिन भी आ जायगा और क्रान्ति भी हो जायगी !!" एक ओर ग़ुलामी की शिक्षा पा रहे हैं, दूसरी ओर जब कभी कहीं सभा होती है तब 'अप्-अप्' और 'डाउन-डाउन' की ध्वनि के मारे कान फोड़ डालते हैं। नख से शिखा तक विदेशी वस्तुओं से जकड़े हुए रहते हैं। इन लोगों के साथ होली खेलने को भी तो जी नहीं करता। कभी-कभी

जी चाहता है कि इस होली के अवसर पर इनपर खूब कीचड़ डाली जाय। इनको नील में रँग दिया जाय और इनको विदेशी रङ्ग में इतना डुबोया जाय कि इनका दम घुटने लगे और ये भविष्य के लिए प्रतिज्ञा करें कि स्वदेशी वस्तुओं को ही उपयोग में लायेंगे।

किसी अन्य देश में ऐसा आन्दोलन उठा होता जैसा कि भारत में उठा था तो वह देश कभी का स्वतन्त्र हो गया होता। फिर उसको राउण्डटेबिल के इर्द-गिर्द चक्कर न काटने पड़ते; फिर अनेक कमेटियों, सिलेक्ट कमेटियों, पार्लियामेण्टरी कमेटियों के दृश्य न देखने पड़ते; फिर इस प्रकार के साम्प्रदायिक निर्णय न मानने पड़ते, जैसे कि अब अनिच्छापूर्वक मानने पड़ रहे हैं। फिर कमाण्डर-इन-चीफ़ महाशय को घृणापूर्ण यह बात सुनने का अवसर ही न आता कि "अभी पन्द्रह वर्ष तक तो सेना-विभाग में भारतीय वीर सिपाहियों को अच्छे पदों पर रखने की बात सोची भी नहीं जा सकती, ख़र्च घटाने की बात तो मानी भी नहीं जा सकती" इत्यादि। इस सबका पाप भारतीय नव-युवकों के सिर पर है। वे चाहें तो इस पाप का प्रायश्चित्त कर सकते हैं। यदि इनके लिए किसी प्रायश्चित्त-विधि की आवश्यकता हो तो पण्डित शास्त्री के नाते मैं ऐसी एक विधि बताने के लिए उद्यत हूँ, पर ये नवयुवक मेरी बात मानें तब न ? ये तो:—

'ज्यों के त्यों मतिमन्द, उपदेश घने सुन डाले ॥'

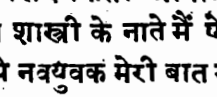

५—सीमोल्लङ्घन

:०:

विजयादशमी क्षत्रियों का त्यौहार है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि-गण बड़े ही दूरदर्शी थे। सब कार्य स्वयं समय तथा ऋतुओं के अनुसार करते तथा अनुयायियों से कराते थे। विजयादशमी क्या है? क्षत्रियों के लिए विजय-यात्रा का—सीमोल्लङ्घन का—शुभ दिन।

शरद्-ऋतु ही विजय-यात्रा के लिए प्रशस्त ऋतु मानी गई है और वस्तुतः है भी। इस ऋतु में वर्षा बन्द हो जाती है। नदी-नालों का ज़ोर घट जाता है। हम उनको आसानी से पार कर सकते हैं। आने-जाने के मार्ग सुगम हो जाते हैं। रसद की सामग्री सुख-पूर्वक लाई और पहुँचाई जा सकती है। शिविरों के बनाने में, कूच करने और पड़ाव डालने में बड़ा सुभीता रहता है। वर्षा-ऋतु में होनेवाले रोग कम हो जाते हैं। सारांश यह कि विजय-यात्रा के लिए शरद् जैसी और कोई ऋतु सुखकर नहीं हो सकती।

प्राचीन इतिहासों के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन दिनों शूरवीर क्षत्रिय राजागण बराबर शरद्-ऋतु में ही दिग्विजय के लिए यात्रा करते थे। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, दूर-दूर के देशान्तर में भी जाते थे। संसार-भर को रौंद आते थे; किन्तु किसीका राज्य नहीं छीनते थे। बस, जिस किसीने इनका थोड़ा सा भी आधिपत्य स्वीकृत किया कि उसे अपने राज्य में स्वतन्त्रता दे दी जाती थी। यदि कदाचित् कोई अकड़ पड़ता तो उसको परास्त कर दिया जाता और शरण में आने पर फिर उसीको गद्दी पर बिठा दिया जाता। यदि वह युद्ध में मर जाता

तो भी आज-कल की तरह उसके राज्य को अपने राज्य में जोड़ नहीं लिया जाता था, प्रत्युत उसके उत्तराधिकारी को सिंहासन पर बिठाकर उसको पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती थी।

वे थे अपने दिन, जब हमारे पूर्वज स्वतन्त्र थे, जब संसार यहीं के ज्ञान-भाण्डार से ज्ञान प्राप्त करता था, जब हमारे ऋषि-मुनि समस्त संसार को सभ्यता एवं चरित्र की शिक्षा देते थे। काल-चक्र के प्रभाव से न तो वे दिन रहे, न राजा-महाराजा रहे, न वे ऋषि-मुनि रहे—

स च नृपतिः ते सचिवाः,
तास्तु प्रमदाः, तानि च काननवनानि।
स च ते च तानि च, कृतान्त-दृष्टानि नष्टानि।

वे राजे-महाराजे, वह ठाट-बाट, वह गौरव, वह स्वतन्त्रता—सब कुछ उन्हींके साथ चला गया।

आज संसार में ढूँढ़ने से भी हिन्दुओं का अथवा आर्यों का एक भी स्वतन्त्र राज्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जिसको देख-कर हम मन को प्रसन्न कर लें, जिसको देखकर वैदिक शब्दों में—"वीर पुत्रों के साथ संग्राम में गर्जना करें, घर में वीर बाल-बच्चों के साथ आमोद-प्रमोद करें।....एक-एक अलमस्त वीर दस-दस, बीस-बीस और सौ-सौ वीरों के साथ जुटे!" अब 'राजा और महाराजा' शब्दों का वह अर्थ यहाँ नहीं है। वे तो स्वयं दास अथवा दासानुदास हो रहे हैं। केवल इन्द्रियों के विषयों के ही दास नहीं; अपितु अन्यों के भी दास—नहीं, नहीं, दासानुदास—हो रहे हैं! अहो, कष्टम्! अपने पूर्वजों की तरह वर्त्तमान राजे-महाराजे सीमोल्लङ्घन तो क्या करेंगे, अपनी सीमाओं को भी सँभाले रहें, अपनी सीमाओं में भी बुद्धिमत्ता

से काम किया कर, अपना आसन जमाये बैठे रहें-जो कुछ है, उसमें वृद्धि नहीं, न सही तो उसमें कमी भी न होने दें—अपनी प्रजा को सुख-समाधान से रखें, तो क्या थोड़ा है ? पर हमारे सिर पर चक्र ऐसे ज़ोर का घूम रहा है कि भारतवर्ष का एक-एक व्यक्ति, राजा और महाराजा, नवाब, जहाँपनाह कहलानेवाले व्यक्ति भी चक्रों में समान रूप से पिसे जा रहे हैं ! देव-भूमि दुर्दशा-ग्रस्त होकर करुण विलाप कर रही है !!!

जब से विजय-यात्रा की प्रथा—सीमोल्लङ्घन की प्रथा—नष्ट हुई, तभी से इस देव-भूमि की महिमा घटी। हमारे कर्म ऐसे हैं कि हमको तो सर्वथा नष्ट हो जाना चाहिए था। पर न जाने ईश्वर की क्या कृपा है, उसकी क्या इच्छा है, अपने पूर्वजों का कौनसा पुण्य शेष रहा है, जिसके प्रताप से हिन्दू-जाति अभी तक जीवित चली आती है। किसी समय संसार-भर में सीमोल्लङ्घन करनेवाली हे हिन्दू जाति ! अब तू अपनी ही सीमा में परिमित है—ज़रा सीमोल्लङ्घन करके बाहर निकल, फिर देख, तेरा गौरव कितना महान है। भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति कूप-मण्डूकता छोड़कर अपनी सङ्कुचित सीमा से बाहर आने का यत्न करे तो फिर देखो कि कैसी बहार आती है !

आकाशवाणी कह रही है—"हाँ, घबराओ मत। हिन्दू-जाति अब सीमोल्लङ्घन करनेवाली ही है।" हम पूछते हैं—कब करनेवाली है ? उत्तर मिलता है:—'सावधान' की बोली बोली जा चुकी है। अब 'मार्च आन !' बोला जानेवाला है। हम फिर पूछते हैं "क्या सचमुच ?" उत्तर आ रहा है:—"सचमुच, ज़रा भी सन्देह न करना।" हम कहते हैं—"एवमस्तु, शुभं भूयात।"

६—मामेकं शरणं व्रज

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गीता १८-६६॥

'ईसा मसीह पर ईमान लाओ', 'मुहम्मद साहब पर ईमान लाओ' इत्यादि बातों को हम नित्यप्रति ईसाई या मुसलमानों के मुख से सुनते रहते हैं। मैं दीर्घ काल तक सोचता रहा कि यह 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् 'मुझपर ईमान लाओ' की बात सबसे प्रथम कहनेवाले कौन हुए? ईसाइयों को 'ईमान' की बात कहनेवाले को केवल १९३६ वर्ष हुए। दूसरे नम्बर पर मुसलमान हैं; किन्तु इनको तो अब तक लगभग चौदहसौ वर्ष हो हुए हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् कृष्ण के पूर्व किसीने भी 'मामेकं शरणं व्रज' की बात नहीं कही। ईसाई मत अथवा मुसलमानी मत का मूल सिद्धान्त—'ईमान' भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त वचन का ही सार है; कोई नई बात नहीं। इस 'ईमान' का मूल्य यही है कि जिसपर 'ईमान' लाया जायगा, वह 'ईमान' लानेवाले को सब पापों से छुड़ा देगी। सो पापों से छुड़ा देने की बात भगवान् कृष्ण ने उपर्युक्त वचन में बलपूर्वक कह डाली है। इसलिए 'ईमान' की दृष्टि से तो किसी हिन्दू को 'ईसाई' अथवा 'मुसलमानी' धर्म की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता ही नहीं है।

ईसा-मसीह के जीवन-काल में उसके जीवन के कुछ काल का—लगभग दस-बारह बरस का—कुछ पता नहीं है कि वह कहाँ रहा। नोटोविच नामक एक विद्वान् ने यह सिद्ध किया है कि वह इस काल में तिब्बत में रहा। ऐसा मानने के लिए कतिपय प्रमाण मिलते हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि 'मामेकं शरणं व्रज' की बात ईसा ने गीता से ली और 'कोई एक

गाल पर थप्पड़ दे, तो उसकी ओर दूसरा गाल कर दो' की बात—

"अक्कोधेन जयेत् कोध्धं असाधुं साधुना जयेत्।"

बुद्ध भगवान् की इस उक्ति से ली है। ईसा के जीवन पर बुद्ध-धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। अस्तु, ईसा स्वयं भारतवर्ष में आया और बौद्धों के पास रहकर सब कुछ सीखकर गया और अपने देश में जाकर उसने अपना मत चलाया—यह सब सम्भव प्रतीत होता है।

'मुसलमानी' धर्म का प्रवर्त्तक तो कभी भारतवर्ष में नहीं आया था। इसने 'ईमान' की बात कहाँ से सीखी? निःसन्देह पूर्ववर्त्ती ईसा-मसीह के धर्म से; क्योंकि मुहम्मदी मत से चार सौ वर्ष पूर्व ईसा अपना मत प्रचार कर चुका था। जेरूसलम से इस हवा का मक्का-मदीने में पहुँचना कोई कठिन या असम्भव कार्य नहीं था। अथवा भारत से लौटनेवाले अरब यात्रियों द्वारा मुहम्मद को भारतीय धर्म और सभ्यता का परिचय मिला होगा, जिसकी नींव पर स्थानिक परिस्थिति और आवश्यकतानुसार उसने नवीन धर्म की स्थापना की।

मनुष्य अल्पज्ञ है। ज्ञानी मनुष्य भी सांसारिक कार्यों में पड़ कर अपने ज्ञान का पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता है और न लाभ पहुँचा ही सकता है। इसलिए मनुष्य-समाज को समय-समय पर किसी-न-किसी गाइड, मार्ग-दर्शक, अवतार, नेता, गुरु, लीडर, पैगम्बर, देव-दूत आदि की आवश्यकता रहती है।

'तं विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥'

अर्थात् "परमात्मा को जानने के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना आवश्यक है।" कहीं-कहीं कहा है कि—

"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।"

अर्थात् 'परमात्मा में जिस प्रकार भक्ति रखी जाती है, उसी

प्रकार गुरु में जो भक्ति रखेंगे, उन्हींका बेड़ा पार होगा।' यह और बात है कि किसीने मार्ग-दर्शक को 'परमात्मा' का अंश माना और किसीने अलौकिक पुरुष समझा और किसीने देवदूत जानकर उसका अनुसरण किया।

उस महान् आत्मा—परमात्मा—रूपी अग्नि के स्फुलिङ्ग-रूप ये नाना असंख्य आत्माएँ स्वकर्मानुसार शरीर धारण करती हैं। जिस शरीर में स्फुलिङ्ग-रूप आत्मा प्रज्वलित हो उठती है, वही गुरु है, मार्ग-दर्शक है, देवदूत है, पैग़म्बर है —कुछ भी कहिए। यह बात अद्वैत सिद्धान्तों में बनती है। द्वैतवाद में भी आत्मा चढ़ते-चढ़ते परमात्मा में जा मिलती है। अल्पज्ञ पुरुष किसी गुरु के आश्रय विना न यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न उस परमात्मा को समझ पाता है। भगवान् कृष्ण इस अर्थ में गुरुओं के गुरु थे, अठारह प्रकार के योगों के ज्ञाता थे, मार्ग-दर्शक थे, देवदूत थे, नेता थे—सब कुछ थे, एक ही पद में कहना हो तो कह सकते हैं—'मर्यादा-पुरुषोत्तम' थे। भगवान् कृष्ण के पूर्व और उनके समय भारतवर्ष में मर्यादा-पुरुषोत्तमों की कमी नहीं थी; किन्तु महाभारत के पश्चात् बुद्ध भगवान्, भगवान् शंकराचार्य आदि मर्यादा पुरुषोत्तम हुए। भगवान् शङ्कर के पश्चात् भी अब तक देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक देश को कोई-न-कोई मर्यादा-पुरुष; मर्यादा सँभालनेवाला, मार्ग-दर्शक पुरुष मिलता ही रहा है। किन्तु भगवान् कृष्ण की जलाई हुई ज्योति इतनी प्राचीन, इतनी उज्ज्वल है कि उसमें बैठकर संसार की सब जातियाँ विश्व-बन्धुत्व का अनुभव कर सकती हैं। उनकी गीता क्या है? मनुष्य नामक प्राणी के जीवन-संग्राम-सम्बन्धी सब कठिन समस्याओं का उत्तर! प्राचीन आर्य या हिन्दू-जाति गीता-ज्ञान के आश्रय से ही अनन्त कीर्त्ति तथा अक्षय पुण्य को प्राप्त कर सकी है।

७—भगवान् कृष्ण के समय का भारत

पवित्र भारत-भूमि के सौभाग्य हैं कि इसमें अनन्त काल से समय-समय पर मर्यादा-पुरुषोत्तम मार्ग-दर्शक महापुरुष उत्पन्न होते चले आये हैं। ऐसे अद्वितीय मार्ग-दर्शक होते चले आये हैं कि जिनके मार्ग पर चलकर संसार सुख और शान्ति का धाम बन सकता है।

भगवान् कृष्ण ऐसे ही अवतारी पुरुषों में से हैं। आपकी गीता ने आपको और आपके साथ इस भारत-भूमि को अजरा-मर कर डाला है। आज पवित्र जन्माष्टमी का दिन है। महाकवि कालिदास की उक्ति के अनुसार—"भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्" ऐसी विभूति का जन्म लोक-कल्याण अथवा लोका-भ्युदय के लिए ही होता है। लोकसंग्रह के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण का उपदेश लोक के अभ्युदय का हेतु क्यों न होगा? आज हम इस जन्माष्टमी के उपलक्ष्य में यदि कृष्ण भगवान् के समय के भारतवर्ष पर दृष्टि डालें, तो वह एक समयोचित ही कार्य होगा।

उस समय भारत-भू पर भारतीय राजा और महाराजाओं का स्वराज्य था ही, किन्तु इसी बलशाली स्वराज्य के कारण भूमण्डल पर आर्य राजाओं का साम्राज्य था। आर्य-जाति की सभ्यता सर्वश्रेष्ठ सभ्यता थी। भारतीय राजा-महाराजे आपस में भले ही ईर्ष्या रखते थे, किन्तु प्रजा के लिए वे समान रूप से सुखकारी थे। मगध-देश के जरासन्ध, चेदि-देश के शिशुपाल और हस्तिनापुर के दुर्योधन को बुरा बतलाया जाता है। ये राजा अन्यों से प्रतिस्पर्द्धा रखते थे, किन्तु प्रजा को पुत्रवत् पालते रहते थे। राजाओं को राजाओं की शिकायत थी, किन्तु प्रजा को अपने राजा के विषय में कभी सन्देह नहीं था। कंस कृष्ण से भयभीत था, उसने उनको कष्ट देने का यत्न किया, किन्तु वह अपनी प्रजा के लिए किसी समय में भी अहितकारी सिद्ध नहीं

हुआ। उस समय राजा-महाराजे शरद-ऋतु में विजय-यात्रा करते थे। शत्रु के परास्त होने पर अथवा उसके मर जाने पर उसके राज्य को छीनकर अपने राज्य में जोड़ने की प्रथा का सर्वथा अभाव था। वे शरणागत को छोड़ देते थे। यदि वह युद्ध में परास्त हुआ, तो थोड़ा सा कर लेकर छोड़ देते थे, अथवा युद्ध में मारे जाने पर उसके पुत्रादि को सिंहासनारूढ़ करके चले आते थे। अश्वमेध-यज्ञ में पृथ्वी पर परिभ्रमण के लिए अश्व छोड़ दिया जाता था। जिसका अश्व बे-रोक-टोक पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके लौट आता था, उसीका साम्राज्य माना जाता था।

प्रजा को अपने स्वतन्त्र मत प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था। ऐसे स्वतन्त्र मत रखने के कारण राजा-महाराजाओं ने कभी प्रजा से छल नहीं किया। राज्य-प्रणाली नृप-तन्त्र-पद्धति की थी किन्तु आज-कल की प्रजा-तन्त्र-पद्धति से अति श्रेष्ठ थी। राजा-महाराजे विद्यासभा, राजसभा और धर्म-सभा द्वारा शासन करते थे। इन सभाओं में जनता के सच्चे प्रतिनिधि विद्वान् ब्राह्मण, संन्यासी, ऋषि-मुनि सदस्य रहते थे। राजा लोग ऋषि-मुनियों के शापों और अभिशापों से ऐसे काँपते थे कि कोई काम उनके परामर्श के विना नहीं करते थे।

प्रजा सर्वथा सुखी थी। राज-दण्ड का भय होने से अपने-अपने वर्णानुरूप कार्यों में तत्पर रहती थी। ऊपर स्वधर्म-रक्षक व पोषक राज्य-पद्धति के होने से प्रजा में छल, कपट, दम्भ का नाम नहीं था। राजा प्रजा से आय का छठा अथवा चतुर्थ भाग लेता था; किन्तु आज-कल के से कर-भारों की भरमार नहीं थी। राजा आज-कल के राजाओं के सदृश व्यापार नहीं करता था। आज-कल हमारे शासक-वर्ग पक्के व्यापारी हैं। इस कारण प्रजा का भाग राजा के कोष में ही जा पड़ता है और प्रजा भूखी मर जाती है। राजा और प्रजा का एक ही धर्म था। इसलिए दोनों

परस्पर अभिन्न प्रतीत होते थे। देश की सम्पत्ति सात समुद्र पार नहीं जाती थी। विद्या, कला-कौशल, व्यापार आदि की वृद्धि होने से भारतवर्ष समस्त संसार का केन्द्र बन रहा था।

स्वराज्यके कारण भारतवर्ष स्वशिक्षा का भी केन्द्र था। समस्त संसार के लोग यहाँ आकर चरित्र-शिक्षा ग्रहण कर चले जाते थे। वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ का तत्त्व-ज्ञान इतना अधिक उन्नत हो चुका था कि सब संसार के विद्वान् यहीं आकर गुरुओं के चरण छूते थे।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु)

अठारह विद्या और चौंसठ कलाओं का साम्राज्य था ही, किन्तु ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या के शिक्षक भारतवर्ष से अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते थे। आर्य-जाति की सभ्यता संसार को सुख और शान्ति देनेवाली सर्वश्रेष्ठ थी। यहाँ के ऋषि-मुनि देश-देशान्तरों में जाकर स्वशिक्षा और स्वधर्म का प्रचार किया करते थे। यहाँ की शिक्षा निःशुल्क थी। ज्ञान-विक्रय निन्दनीय समझा जाता था।

शिक्षा-समाप्ति तक छात्रों को ब्रह्मचारी रहना पड़ता था। अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् कोई नैष्ठिक बनकर आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे; शेष क्रम से गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त-आश्रम में होते हुए संसार को छोड़कर निवृत्ति मार्ग में चले जाते थे। आज-कल विदेशी, विधर्मी, अस्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली में हमारे देश के नवयुवकों की जो दुर्गति हो रही है, उसको हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हमारे नवयुवकों के हृदय और मस्तिष्क दोनों विदेशी और विधर्मी हो गये हैं। इसका हानिकारक परिणाम यह हुआ है कि उनमें से स्वावलम्बन, स्वात्म-प्रत्यय की मात्रा ही लुप्त हो गई है। वे सर्वथा परमुखापेक्षी होकर अपने

को दीन, हीन, मलिन और पराधीन समझ बैठे हैं, और हैं भी।

उस समय भारत स्वशिक्षा का पोषक था। अपना राज और अपना काज, इसीलिए स्वतन्त्रता का साम्राज्य था। ब्राह्मण निरीह रहकर विद्या-दान देते थे। क्षत्रिय राज-काज करते थे। वैश्य व्यापार किया करते थे और शूद्र सेवा-भाव में तत्पर रहते थे। इसीलिए परस्पर विरोध के विना स्वधर्म और स्वराज्य का शकट बड़ी सुन्दरता से चलता रहता था। इसके विपरीत आज-कल इस स्वधर्म-नाशक और स्वराज्य-विरोधी शासन में सब उलट-पुलट हो रहा है। सभी ब्राह्मण, सभी क्षत्रिय, सभी वैश्य और सभी शूद्र—कोई व्यवस्था ही नहीं रही!

प्रजा के आचार और व्यवहार सर्वश्रेष्ठ थे। राजदण्ड ज़ोर से घूमता रहता था। लोग धर्म-कर्म में प्रवृत्त रहते थे। ईश्वर-विश्वास, धर्म-श्रद्धा, आस्तिक बुद्धि के कारण परस्पर ईर्ष्या-भाव कम था। ईर्ष्या-भाव होता ही क्यों? जिनको ईश्वरीय न्याय, कर्म-फल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास हो, वे लोग क्यों न स्वकर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहेंगे? चार वर्ण और चार आश्रमों में रहते हुए वे सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय बाल-विवाह की सी कुरीतियाँ नहीं थीं। लोग हृष्ट-पुष्ट रहते थे और उनकी सन्तान भी बलशाली होती थी। यद्यपि प्रजा का धर्म वैदिक था, तथापि नास्तिक-लोकायतिक आदि लोग निर्भयता-पूर्वक रहते थे। कुल-धर्म, जाति-धर्म, देश-धर्म—इन सब धर्मों का ध्यान रखकर राजा-महाराजे शासन-चक्र ऐसी सुन्दरता से घुमाते रहते थे कि राजा और प्रजा दोनों सुखी रहते थे।

विज्ञान में तो उस समय के भारतवासी वर्त्तमान पाश्चात्य विज्ञानवादियों से सहस्रगुण बढ़े-चढ़े थे। विमान बनाना जानते थे, उसपर सुख-पूर्वक घूमते फिरते थे। शस्त्रास्त्रोंके बनाने, चलाने, फेंकने और जब चाहे रोकने में सिद्धहस्त थे। नाना प्रकार के

रथ बनाने और यान-निर्माण में निपुण थे। उनकी वेश-भूषा से हम कह सकते हैं कि उस समय के से विविध सुन्दर वस्त्र आज-कल किसको नसीब होंगे? उनके आभूषणों से पता चलता है कि संसार-भर के रत्न-श्रेष्ट हमारे पूर्वजों के कोष में थे। उनके वाहन भी अपूर्व थे। महाभारत के योद्धाओं, उनके यानों, उनकी वेश-भूषा, उनके आभूषणों, उनके अस्त्र-शस्त्र का वर्णन पढ़ जाने से हमारी बातों की पुष्टि होती है। वास्तु-विद्या में वे इतने निपुण थे कि मयासुर की बनाई हुई सभा का वर्णन पढ़िए। क्या अपूर्व सभा थी! यही नहीं, दुर्योधन को जब पाण्डवों से भय लगा, तब वह आनन्द से जाकर एक तालाब में जल के बीच में आनन्द-पूर्वक सो गया। ऐसी जल-स्तम्भन विद्या अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को भी नहीं आई।

शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्मपितामह ने युधिष्ठिरादि को जो उपदेश दिया, जिस अपूर्वता से राजधर्म का वर्णन किया, उसकी उपमा संसार में नहीं मिल सकती। ऐसे राजधर्म के उपदेश अब कौन जानता है?

'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्कचित्।'

बस, इतना लिखना पर्याप्त है कि जो कुछ यहाँ कहा गया है, उसीका उच्छिष्ट सब जगह है और जो बात यहाँ नहीं मिलेगी, वह संसार-भर में कहीं नहीं मिलेगी। क्या हमारा धर्म, क्या राज-धर्म, क्या प्रजा-धर्म, क्या युद्ध-धर्म, क्या आचार, क्या विचार, क्या व्यवहार, क्या विद्या, क्या कला, क्या विज्ञान, क्या नीति, क्या राजनीति—किस-किसका वर्णन करें?

आज-कल हमारे शासक प्रभुओं को अपने से भिन्न धर्म-कर्म, भिन्न हित-सम्बन्ध, भिन्न संस्कृति रखनेवाली प्रजा के हित की कोई चिन्ता नहीं है, अथवा है तो नाममात्र की चिन्ता है। वह तो हमारे महाभारत के एक नीति के आचार्य कणिक की नीति

पर चल रहे हैं। कणिक का मत है कि पहले तो किसीको कोई आशा ही न दिलाये, यदि दिलाये तो उसमें कोई-न-कोई बहाना बनाकर विलम्ब करता रहे। जहाँ तक हो, फूले नहीं, फूले तो सहज फले नहीं, फले तो ऊँचा फले और लेनेवाले के हाथ कम लगे, अथवा कम फले, अपने-आप कभी टपके नहीं। जब पाण्डवों का दूत धृतराष्ट्र के पास आधा राज्य देने के विषय में सन्देश लेकर आया, तब कणिक ने धृतराष्ट्र को यही बात समझाई। हमारे वर्त्तमान शासक 'आशां कालवतीं कुर्य्यात्' ठीक कणिक के मार्ग पर चल रहे हैं। हमको अयोग्य ही ठहराते रहे; फिर आशा में ही पचासों वर्ष तक रखा; फिर कुछ देने लगे और उसमें भी कितनी अड़चनें !!! हमारी ही वस्तु हमको सौंपने में यह दशा है, कहीं अपने घर की वस्तु देने का अवसर आता तो न जाने क्या करते! अस्तु।

सिंहावलोकन करने से भगवान् कृष्ण के समय के भारतवर्ष की क्या दशा थी, स्पष्ट प्रतीत होता है। केवल देखनेवाला चाहिए।

भगवान् कृष्ण ने संसार को लोकसंग्रह द्वारा कर्मयोग में संलग्न रहने का जो उपदेश दिया है, वह संसार-भर को महा-प्रलय तक दीप-स्तम्भ का काम दे सकता है। वह उपदेश क्या है—निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का मध्य-मार्ग है। संसार में रहकर संसार के काम करते हुए उसके दोषों से अलिप्त रहकर मोक्ष-सुख किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है—यही गीता का ध्येय है। भारतवर्ष का सब कुछ जाये तो भले ही जाये, उसकी गीता और उसका कृष्ण न जाये, क्योंकि—

'यत्र धर्मस्तत्र कृष्णः यतः कृष्णस्ततो जयः।'

अथवा 'यत्र कृष्णस्तत्र धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।'

:०:

८–दो लहरें

इस समय संसार में दो लहरें वेग से कार्य्य कर रही हैं। एक लहर प्राचीन धर्म, प्राचीन सभ्यता, प्राचीन विज्ञान को सर्वथा निरर्थक समझकर उसको नष्ट करना चाहती है। दूसरी पुरानी लहर है जो कि नये धर्म, नई सभ्यता, नये विज्ञान को विनाश का कारण जानकर इनको विध्वस्त करना चाहती है और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय नई लहर विशेष आवेग से काम कर रही है। आओ, देखें कि किसके पास कौनसी शक्तियाँ हैं, जिनको देखकर हम अनुमान कर सकें कि कौनसी लहर अन्त में प्रबल सिद्ध होगी।

पुरानी सभ्यता

[१] चारों वेद, छः शास्त्र, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उनकी (वेदों की) शाखाएँ, उपनिषद्, प्राचीन इतिहास।

[२] राजशक्ति–सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है।

[३] विज्ञान–भारतीय पुस्तकों में शेष है। विदेशी सत्ता में भारतीय विज्ञान के सिर निकालने की कोई आशा नहीं। यह और बात है कि पश्चिम के वैज्ञानिक लोग ठोकरें खाकर किसी समय इधर आ जायँ और फिर इसका उत्थान हो।

[४] प्राचीन कला–इसके भी उभरने की आशा नहीं। क्योंकि राजसत्ता के अभाव में, दासता के वायुमण्डल में भारतीय कला का विकास कैसे हो सकता है? चौंसठ कलाओं का नाम पुस्तकों में तो है परन्तु उनका कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। प्राचीन शिल्प-कला जो अब तक किसी तरह शेष है उसे देखकर भारतीय दिल को ढाढस दे लेते हैं।

[५] तात्पर्य यह कि हमारे पास या यों कहिए कि पुरानी लहरवालों के पास पुस्तकीय ज्ञान वा पुरानी पुस्तकों का ढेर

तथा अपने पूर्वजों के चरित्र और दासता की ज़ंजीर में जकड़ी हुई कारावास बनी हुई यह भारत-भूमि है, इसके सिवा अब कुछ नहीं रहा।

[६] इससे तङ्ग आकर और निराश होकर इधर के लोग उधर जा रहे हैं।

नई सभ्यता

[१] नवीन पश्चिमीय साहित्य जिसमें हर प्रकार के हर विषय पर सैकड़ों ग्रन्थ हैं।

[२] राजशक्ति—गोरे राष्ट्रों की राजशक्ति संसार पर आधिपत्य किये हुए है।

[३] यूरोपीय विज्ञान नई लहर का पूरा साथ दे रहा है, इतने वेग से कि पुरानी लहर के पाँव उखाड़ दिये हैं।

[४] कला—सारी कलाएँ उन्नति पर हैं। उनका पूर्ण विकास हो रहा है। समय, व्यय, परिश्रम से बचाकर थोड़े परिश्रम से सिद्धि देनेवाला पश्चिमीय विज्ञान हर प्रकार से इनकी सहायता कर रहा है। किसी विभाग को देख लीजिए, आश्चर्य होगा। मुद्रणकला, चित्रकला इत्यादि किसी को लीजिए—आप चकित हो जायँगे। जिन कलाओं का साथ राष्ट्रशक्ति और विज्ञानशक्ति दे रही हो, उसकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति क्यों न हो?

[५] इधर राष्ट्रीय शक्ति, विज्ञान-शक्ति, राज-शक्ति, इनके आश्रित छोटी-मोटी बासियों शक्तियाँ निरन्तर कार्य्य कर रही हैं। यह और बात है कि नूतन प्रवाह-जनित अशान्ति से तङ्ग आकर पश्चिमीय लोग हमारी पुरानी लहर की ओर भाग निकले हों या भाग निकलें।

[६] इधर से तङ्ग आकर उधर जा रहे हैं।

दोनों की सङ्कीर्णता देखकर एक नवीन सम्प्रदाय उत्पन्न हो रहा है और दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। उनका विश्वास है कि

किसी एक लहर के अनुयायी होकर अब संसार में निर्वाह होना असम्भव है। इसलिए दोनों लहरों की अच्छी बातें लेकर निर्वाह करना चाहिए। इस समय आर्यसमाज ही ऐसी सोसाइटी है कि जिस सोसाइटी को मैं हिन्दुओं का मुख कहूँगा, जो यह समझती है (और सिरतोड़ प्रयत्न भी कर रही है) कि प्राचीन धर्म, प्राचीन वेद, प्राचीन कर्म, प्राचीन सभ्यता इत्यादि से ही उद्धार होगा। लक्ष्य तो बड़ा उच्च है परन्तु जैसा इसका उत्साह है वैसे अभी तक इसके पास साधन नहीं हैं। इस सोसाइटी को छोड़कर शेष सारे संसार में सारा बल नई लहर में व्यय हो रहा है। आर्य-समाज की शक्ति का बड़ा भाग भी नई लहर की सहायता में व्यय हो रहा है, चाहे मुख से वह इस बात को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार से दोनों ओर के हिसाब-किताब देखने से (समझने से) एक बार तो यह विचार हो जाता है कि कई शताब्दियों तक नई लहर का लोह-पञ्जर पुरानी लहर पर रहेगा।

जो लोग केवल जातीय दृष्टि से इसके प्रभाव को निवारण करना चाहते हैं उनको सर्वथा भूल है। इस समय यदि हमारा उद्धार होगा तो पहले राष्ट्रीय शक्ति को ही अपना उपास्य देव मानकर उसकी पूजा करने से होगा। इस समय "आचार्य देवो भव"–आचार्य को देवता समझो, "पितृ देवो भव"–पिता को देवता समझो, 'मातृ देवो भव'–माता को ही देवता समझो–ऐसे पृथक्-पृथक् उपदेश देने की अपेक्षा बालकों को आरम्भ से ही 'राष्ट्र देवो भव' अर्थात् 'यह राष्ट्र (देश) ही तेरा देवता है, इसीकी पूजा से तेरा उद्धार होगा, इसी राष्ट्र में तेरे आचार्य, तेरे पिता, तेरी माता, तेरा धर्म, तेरा कर्म, तेरी सभ्यता, तेरी शिक्षा–यह सब कुछ आ जायगा।'–ऐसा उपदेश होना चाहिए। तब जाकर कहीं बीस वर्ष में एक ऐसी प्रबल पीढ़ी सज्जित होगी जो इन नई लहरवालों का सान्मुख्य करके अपनी राष्ट्र-शक्ति

का अभ्युत्थान करेगी। इस शक्ति के उदय के विना पुरानी लहर नहीं उठ सकती। केवल धर्मोपदेश से उद्धार होने की सम्भावना नहीं। शङ्कराचार्य भी तभी सफल हुए जब कि राजा सुधन्वा की शक्ति उनकी पीठ पर थी। संसार में कोई लहर, कोई धर्म, कोई सभ्यता राज-शक्ति वा राष्ट्र-शक्ति की सहायता के विना स्थिर नहीं रह सकती।

प्राचीनतम काल में आर्यों का राज्य था, सो इनका धर्म और इनकी सभ्यता की जड़ पाताल-पर्य्यन्त पहुँच चुकी थी। जब सहस्रों वर्ष इनका उत्कर्ष रहा, तो इनके भी अधोगति के दिन आये। तत्पश्चात् बौद्ध राजाओं का प्रभाव पड़ा। तदनन्तर मुसलमानों की बारी आई। लगभग सहस्र वर्ष तक भारतवर्ष पर उनका सिक्का बैठा रहा। जब इनका अत्याचार बढ़ा तो दक्षिण में शिवाजी, पश्चिम में राणा प्रताप और उत्तर में गुरु गोविन्दसिंह ने राष्ट्रीय शक्ति की उपासना की। जब सात समुद्र पार से टोपी आई तो टोपी के साथ तत्सम्बन्धी अन्य वस्तुएँ भी आईं (वे आये, उनकी सभ्यता आई, उनका धर्म आया, उनकी तोपें-बन्दूकें, उनके कलाकौशल-सब कुछ एक-एक करके आये) और ऐसे आये और ऐसे पाँव जमाकर बैठे कि उनका उखड़ना असम्भव हो गया। जो लोग केवल हिन्दुओं को ही बलवान बनाकर इनसे सान्मुख्य कराना चाहते हैं, जो मुसलमान हिन्दुओं की सहायता के विना साम्राज्य के स्वप्न देखते हैं, जो लोग राष्ट्रीय शक्ति की सहायता के विना केवल धर्मोपदेश के सहारे से संसार में प्राचीन धर्म, प्राचीन विद्या, प्राचीन सभ्यता फैलाना चाहते हैं, वे या तो आँखें खोलकर काल की दशा को नहीं देख रहे या आँखें बन्द करके अपने बिरादरी, जातीयता वा धर्मसम्बन्धी सङ्कुचित-क्षेत्र में संयमित हैं। कैसी शोचनीय अवस्था हो रही है? छोटी सी बात लीजिए, आर्य-

समाज ने प्राचीन शिक्षा के लिए गुरुकुल खोले, परन्तु आर्यों का राज्य न होने से यह गुरुकुल कितने मँहगे पड़ रहे हैं और उसका परिणाम भी कितना मँहगा निकल रहा है !

हम नालिन्द, तक्षशिला, राजगृहादि विश्वविद्यालयों के स्वप्न देखते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि इन विश्वविद्यालयों के साथ उनका राज्य भी था। और दूसरी बात लीजिए, आर्य-समाज की समस्त शक्तियाँ मिलकर केवल उपदेश द्वारा भारतवर्ष की शराबख़ोरीको नहीं मिटा सकीं, वेश्याओं की लीला बन्द नहीं कर सकीं, उनके बाल-बच्चों को नई लहर के प्रभाव से नहीं बचा सकीं और अन्य संसार के छोटे से छोटे पापों को दूर नहीं कर सकीं तो बड़े बड़े सिद्धान्तों की बात क्या कहनी ?

हमारा उद्धार होगा राष्ट्रीय शक्ति से, हमारा उद्धार होगा राज-शक्ति से; हमारा उद्धार केवल शास्त्रों से नहीं होगा, किन्तु शस्त्रों से भी। वेद-शास्त्रों की रक्षा केवल उनके रटने से न होगी, घर में एक कापी रखने से न होगी, केवल अपने पूर्वजों के चरित्रों के सङ्कीर्त्तन करने से न होगी।

इसलिए प्रत्येक आर्य तथा अन्य धर्मावलम्बियों से प्रार्थना है कि राष्ट्र की हो माता, पिता, आचार्य, धर्म, कर्म, सभ्यता—सब कुछ समझें। इसके विना मुझे तो कोई कल्याण का मार्ग नहीं दीखता। "मैं पहले भारतवासी हूँ, पीछे और कुछ। स्वाधीनता मेरा मूल-मन्त्र है। भारतवर्ष की रक्षा ही मेरा परमधर्म है"—ऐसी उज्ज्वल भावना जब प्रत्येक भारत के बच्चे के हृदय में प्रवेश करेगी, तभी यह देश उठेगा। जब तक राष्ट्रीय उन्नति न होगी, तब तक पुरानी लहर अपना पूर्ण प्रभाव न डाल सकेगी। यह बात ऐसी स्पष्ट है जैसे दिन में उजाला। नहीं तो साफ़ है:—

"दिया जलाकर देख, दिवाली नहीं दिवाला है !"

९–घोर कलियुग आ गया !

देवी, बड़ी अच्छी पढ़ी-लिखी देवी। इससे बातचीत करो, तो ऐसा आनन्द आता है जैसे किसी विदुषी देवी के साथ बातचीत कर रहे हों। देवी लिखने में भी नितरां निपुण है। जब पत्र लिखने बैठती है तब ३०-३२ पृष्ठ पर जाकर उसकी लेखनी रुकती है। समाचारपत्रों में लेख देने का भी देवी को चस्का लगा हुआ है। देवी एक प्रसिद्ध कुल की देवी है, अच्छे कुल में व्याही भी है। पर न जाने क्यों देवी सदैव दुःखी रहती है।

पूछने पर विदित हुआ कि देवी का जब विवाह हुआ था, तब वह अपने पति से भी अच्छी पढ़ी-लिखी थी। पति केवल काम-काज-योग्य उर्दू लिखना-पढ़ना जानता था। देवी हिन्दी की विदुषी थी। मूर्ख पति से पाला पड़ने पर देवी ने अपना माथा ठोंका और लगी अपने पूर्व जन्म और पूर्वजों को कोसने। पति-पत्नी की एक दिन भी न बनी। इनके सन्तान तो क्या होती ? निःसन्तान, निष्प्रेम यह कुनबा १५-२० वर्ष तक इसी प्रकार दुःखी रहा।

इनके झगड़े अब घर की चहारदीवारी में न रहकर पहुँचने लगे बाहर। देवी पति के मित्रों के साथ उनके कठोर बर्त्ताव की शिकायतें भेजने लगी। इस पर पतिराज बिगड़कर और भी कठोर बर्त्ताव करने लगे। वैसे देवी का पति कोमल हृदय, सभ्य तथा दयालु था; किन्तु अपने से योग्य पत्नी को सँभाल न सकता था। एक दिन पति की मित्रमण्डली ने इस झगड़े को मिटाने की ठानी और दो-तीन मित्र छुट्टी के अवसर पर किसी निमित्त से जा पहुँचे इनके घर।

इस दिन दोनों ओर से मित्रमण्डल का खूब स्वागत हुआ।

खाने को खीर, हलुआ, पूरी और विविध सुन्दर पदार्थ मिले। पहले पतिराज की शिकायतें सुनी गईं। पति ने कहा कि इसको (देवी को) अपनी विद्या का बड़ा घमण्ड है। मुझे मूर्ख बतलाती है। मेरी आज्ञाओं को नहीं मानती। मेरी आज्ञा के विना जब चाहे सैर-सपाटे को बाहर चली जाती है। कहिए, इसके साथ निर्वाह कैसे हो? खाने-पीने से, कपड़े-लत्ते से, ज़ेवर से मैं इसको कभी तङ्ग नहीं रखता; किन्तु इसकी स्वतन्त्रता मुझे बेतरह खटकती है। कहिए, मेरा क्या दोष है? कमीशन वहाँ से चुपचाप उठा और दूसरी ओर गया।

देवी ने अभ्युत्थान दिया, आसन बिछाये, उनपर बैठने को कहा। अपने आप खड़ी रही और पूछने लगी, "वे क्या कहते हैं?" हममें से एक ने उसके पतिराज की शिकायतें सुनाईं और देवी से अनुरोध किया कि यदि पति उसको अच्छी तरह सँभाल नहीं सकता, तो वह तो पढ़ी-लिखी विदुषी है, समझदार है, सभ्य है, वही अपनी बुद्धिमत्ता से उसको (पति को) क्यों नहीं सँभाल लेती? इसीलिए लोग स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध हो रहे हैं कि अब तक जितनी स्त्रियाँ पढ़-लिख गई हैं, उनमें स्वतन्त्रता की मात्रा अनुचित रूप से बढ़ गई है, वे पति को दास समझने लगी हैं; घर का काम-काज तो एक भी करके नहीं देतीं, उलटे कुल की प्रथा को छोड़कर स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृङ्खलता करने लग जाती हैं। क्या पढ़ने-लिखने का यही फल है?

इतना कहना था कि देवी एक दम तड़की। आई कमबख़्ती कमीशन की। हो गया प्रारम्भ देवी का व्याख्यान—"तुम पुरुष अनादि काल से स्त्रियों पर अत्याचार करते आये हो। आज की बात थोड़े ही है। अपने आपको धर्माचार्य कहलानेवाले लोग भी पक्षपात में डूब गये। क़ानून बनानेवाले भी हमारे लिए क़ानून बना गये कि "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"—स्त्रियों को कभी स्वतन्त्रता

न मिलनी चाहिए। स्त्रियों को दाय भाग में भी सम्मिलित नहीं किया है। उस महाकवि कहलानेवाले कठोर कालिदास को तो देखो 'शाकुन्तल नाटक' में हमारी कैसी बुराई कर गया है।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याःप्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताःखलु पोषयन्ति॥

कौओं से अपने बच्चों को पलवाने का दृष्टान्त देकर हम पर अशिक्षित पटुत्व का कैसा ताना मारा है। हमको कैसा ठग बतलाया है ? साधु-सन्तों ने हमको नरक में गिरानेवाली बतलाया है ! मनु महाराज की क़लम क्यों न टूट गई ? कालिदास को जिह्वा क्यों न बन्द हुई ? नीति-शास्त्रकारोंकी नीति क्यों न रसातल को गई ? सन्त लोग क्यों न नष्ट हुए, जो इस प्रकार सदैव से हम पर कुठाराघात करते चले आये हैं ? इन माता-पिताओं को देखो, विना हमारी सलाह लिये किसीके साथ हमारा पल्ला बाँध देते हैं। न जाने, हमारे ही भाग्य फूट गये कि जो....."

मैंने कहा, "पर देवी, सीता को देखो, दमयन्ती को देखो।" देवी खिसियाकर बोली, "महाराज शास्त्रीजी, ज़रा इंसाफ़ से देखो। राम को देखो, कृष्ण को देखो, नल को देखो, सत्यवान को देखो। देखो दोनों तरफ़, एक तरफ़ मत देखो। हमको सीता होने का, दमयन्ती बनने का, सरस्वती होने का गला फाड़कर उपदेश देते हो; उधर राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कृष्ण, नल, सत्यवान बनने का उपदेश क्यों नहीं देते ?" मैंने कहा, "देवी, उधर भी उपदेश देते हैं और इधर भी। हमें न उनसे कुछ लेना है, न तुमसे कुछ। तुम्हारा झगड़ा मिटाने आये हैं। फिर एक बात ध्यान में रखो, अपने अपने कर्म-बन्धन भी तो ऐसे होते हैं जिनसे ऐसे संयोग आ पड़ते हैं; कर्म-फल भुगते विना तो कहीं छुटकारा नहीं।"

"हाँ, हमारे ही कर्म ऐसे खोटे आ पड़े हैं ! पुरुषों के ही

कर्मों में मौज-आनन्द-सुख की सामग्री लिखी है। तुम लोगों की मति भ्रष्ट हो गई है। अपने अत्याचारों का ध्यान नहीं, पक्षपातों के मिटाने का नाम नहीं। ले बैठे कर्म-मीमांसा को, कर्म-बन्धनों को, कर्म-फलों को! करोड़ों विधवाओं पर अत्याचार हो रहे हैं। यह किसका फल है? हिन्दू-समाज की अन्तस्थ दशा से लक्षों विधवाएँ कुलों को छोड़कर विधर्मी हो रही हैं। यह किसका फल है? हिन्दुओं का गृहस्थाश्रम नरक हो रहा है। इसका क्या कारण?"

मैंने कहा—"हिन्दू-समाज की रक्षक तथा पोषक हिन्दू-राज्य-पद्धति नहीं रही। इसी कारण हिन्दू-समाज में इतनी बुराई आ गई है। राज्याभाव में धर्म की यथार्थ रक्षा भी नहीं हो सकी। यही मुख्य कारण है कि कोई व्यवस्था ठीक नहीं रही। संसार में अब सभी जगह उलट-पुलट हो रहा है। पाश्चात्य देशों की देवियों की स्वतन्त्रता के नाम पर मत उछलो। वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय है। पाश्चात्य समाज देवियों की उच्छृङ्खलता से तङ्ग आ गया है और उसको कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। मुसलमानों की तामसी कौटुम्बिक स्थिति पर भी मत भूलो। देवियों की पवित्रता से ही हिन्दू-धर्म अब तक बच सका है। पाश्चात्य राजसी प्रथा अथवा यवनों की तामसी प्रथा का अनुकरण करने से हिन्दू-समाज का गौरव नष्ट होगा। अपना राज्य, अपनी राज्य-पद्धति के न रहने से अपना क़ानून भी नहीं रहा, सैकड़ों वर्षों की दासता से भी हिन्दू-समाज में क्रूरता आ गई है। यवनों के संसर्ग तथा पाश्चात्यों की राज्य-पद्धति और सहवास से भी अनेक दोष आ गये हैं। हतभाग्य भारत के ललाट-पट पर लिखित रेखाओं का भी कुछ प्रभाव है। इस तरह सब कार्य्य बिगड़ रहा है। पुरुषों के बिगड़ने से भारत की इतनी हानि नहीं है, जितनी देवियों में उच्छृङ्खलता के बढ़ने से

हानि है। कालिदास कोरा मूर्ख था, किन्तु विदुषी विद्यावती ने अपनी बुद्धिमत्ता से पति को ऐसे मार्ग पर डाला कि वह केवल विद्वान् ही नहीं बना, अपितु संसार के कवियों में 'कविषु कालिदासः प्रथमः' कहलाया। उसकी प्रसिद्धि संसार के कोने-कोने में है और उसकी दिगन्तव्यापिनी कीर्त्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ रहेगी। संसार को अनन्त काल तक उसके काव्यों से दिव्य स्फूर्त्ति मिलती रहेगी।"

देवी बोली—"मुझे शरम आती है कि मुझे ऐसा मूर्ख पति मिला। मैं न कहीं बैठने की रही, न उठने की। हिन्दी सीखने को कहा था, तो दस बरस हुए आज तक सीख रहे हैं! ऐसों की अर्द्धांगिनी कहलाना भी तो बड़ा पाप है। उनसे कहो, दूसरा विवाह कर लें और सुखपूर्वक रहें। मैं भी यथाशक्ति सेवा करती रहूँगी। यह दुःखमय जीवन ऐसे ही व्यतीत होगा। मुझे यह गृहस्थाश्रम नरक प्रतीत हो रहा है। मैं अब ग्रन्थावलोकन तथा भगवद्भजन में ही अपना समय व्यतीत करूँगी।"

डेपूटेशन फिर पतिराज के पास पहुँचा। उन्हें भी अच्छी तरह समझाया और जैसे-तैसे वहाँ से पीछा छुड़ाया। अब पता चला है कि पति ने अपना दूसरा विवाह कर लिया है। उस विवाह से उसके एक पुत्र-रत्न भी हुआ है। दोनों सुख में हैं; किन्तु इस देवी की नई बहू से नहीं बन सकी, इसलिए वह पति को छोड़कर कहीं गङ्गा-किनारे किसी आश्रम में भजन कर रही है। यह देवी पति से एक पैसा भी नहीं लेती। पति से मिलना-जुलना, बोलना-बतलाना भी छोड़ रखा है। सुना है कि कहती है कि जन्मभर उसका मुख नहीं देखूँगी। ओह! कैसी शोचनीय दशा!! अनमेल विवाह का कैसा भयङ्कर परिणाम!!!

पतिराज से पूछा गया कि क्या बात है। वे लिखते हैं, "मेरे भाग्य हैं और क्या कहूँ? वह आवे, मेरे पास रहे। किसी वस्तु

की कमी नहीं है। नहीं मानती तो मैं क्या करूँ? उसीके रात-दिन के आग्रह से मैंने दूसरा विवाह कर लिया था। मेरी भी इच्छा थी। मेरे कोई सन्तान नहीं थी। इतनी बड़ी जायदाद भी तो पीछे किसीको मिलनी चाहिए थी। मैं नहीं चाहता था कि वंश डूबे। मैंने दूसरा विवाह कर लिया। कहिए, मेरा क्या दोष?" इधर देवी कह रही है—"मुझे तङ्ग करके निकाल दिया। मेरी सब चीज़ें ज़ब्त कर लीं। मैं क्या करती, चुपचाप चली आई।"

हिन्दू-समाज! तेरे विस्तृत कुटुम्ब में ऐसी सैकड़ों देवियाँ लम्बी साँस लेकर जीवन के दिन पूरे कर रही हैं! क्या इसका तुझे कुछ ध्यान है? आकाशवाणी हो रही है—"कुछ ध्यान नहीं! कुछ ध्यान नहीं!!"

हमारे डेपूटेशन ने तब से कान को हाथ लगाया है कि इस प्रकार किसीके घर-गृहस्थी के झगड़ों में नहीं पड़ेंगे और न किसीका फ़ैसला करने पहुँचेंगे।

हमारे डेपूटेशन में दो-एक कट्टर आर्यसमाजी हैं और इस ख़याल के हैं कि कलियुग-वलियुग कुछ नहीं, मनुष्य जब चाहे, जैसा चाहे समय ला सकता है। अपने राम की यह राय थी कि घोर कलियुग आ गया, किन्तु डेपूटेशन के अन्य मेम्बर नहीं मानते थे। अब वे भी मानने लगे कि भाई घोर कलियुग आ गया। 'कलियुग' के उनके माने और हैं और मेरे और। वे कहते हैं 'कलि' माने झगड़ा और 'युग' माने ज़माना—झगड़ों का ज़माना आ गया। देश-देश में झगड़े, राष्ट्र-राष्ट्र में झगड़े, घर-घर में झगड़े, पिता-माता, भाई-बहन, बन्धु-बान्धव, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, स्वामी-भृत्य, ज़मींदार-किसान, साहु और क़र्ज़दार, हिन्दू-हिन्दू और हिन्दू-मुसलमान—जिधर देखो झगड़े ही झगड़े हैं! इसीलिए कलियुग है!

१०—बस, बूढ़े भारत की होली

कोई कहते हैं कि बस बूढ़े भारत की हो—ली; अब उसके नसीब में अच्छे दिन नहीं हैं; यह सोने की चिड़िया ऐसे अविवेकी, साम्राज्य-मद-मत्त, लोलुप, अधीर पुरुषों के हाथों में पड़ी है कि ये किसी न किसी दिन इस सोने की चिड़िया का पेट चीर देने का प्रयत्न करेंगे और पीछे से हाथ मल-मल कर पछतायेंगे।

एक व्याध ने कहीं जङ्गल में एक ऐसे पक्षी को देखा जो सोने की विष्टा किया करता था। लोलुप व्याध ने बड़ी कठिनता से उसे जाल में पकड़ा। जब पक्षी हाथ आया तब यह सोचकर कि इसको मन्त्री के पास देने से बड़ी रक़म पल्ले पड़ेगी, उसे मन्त्री के हाथ बेच दिया। मन्त्री ने पक्षी को राजा को भेंट-रूप में प्रस्तुत किया। राजा ने प्रतिदिन उस पक्षी की विष्टा की प्रतीक्षा करना बुरा समझा और एकदम आर्डर दिया कि इसका पेट चीरकर सब सोना निकाल लो। मूर्ख मन्त्रि-मण्डल ने वैसा ही करना चाहा किन्तु उनके प्रमाद के कारण पक्षी किसी प्रकार पिंजड़े से निकल भागा अर्थात् उड़ गया। जाते-जाते यानी उड़ते-उड़ते उसने यह श्लोक पढ़ाः—

'पूर्वं तावदहं मूर्खः द्वितीयः पाश वन्धकः।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम्॥'

पक्षी ने कहा—"पहले तो मैं ही मूर्ख, जिसने व्याध के सम्मुख सुवर्ण-विष्टा की; दूसरा व्याध मूर्ख जिसने मुझे मन्त्री के हाथ बेच डाला; तीसरा मन्त्री मूर्ख; जिसने मुझे राजा तक

पहुँचाया और चौथा राजा मूर्ख, जिसने मेरे पेट चीरने की आज्ञा दी। ऐसा प्रतीत होता है कि सब मूर्खमण्डल ही बस रहा है।"

बस, ऐसा कहकर वह चिड़िया उड़ गई। मन्त्रिमण्डल और राजा सिर धुन-धुन कर रोने लगे; हाथ मल-मलकर पछताने लगे; रो-रोकर अपनी मूर्खता पर विस्मय से लज्जित होने लगे। देखने-योग्य एक ही विचित्र दृश्य था। जो यह कहते हैं कि 'बस, बूढ़े भारत की हो—ली', वे उजबक हैं; संसार की स्थिति और राष्ट्रों के इतिहासों के मर्म को नहीं जानते—जो ऐसा कहते हैं और हाथ पर हाथ धरकर भारत-भू के लिए भार-स्वरूप हो रहे हैं, बस, उनकी ही हो—ली।

जिस बूढ़े भारत ने अपने सुदीर्घ जीवन-काल में पचासों राष्ट्रों के उदय और अस्त देखे, सैकड़ों छोटे-मोटे राष्ट्रों के ग्रस्तास्त और ग्रस्तोदय देखे, वह भारत कभी मर नहीं सकता। इतनी विपत्ति-परम्परा, विप्लव, अराजकता, विराजकता, विदेशी आक्रमणों में से यह जो सुदीर्घ काल तक जीवित रहता चला आया है, सो इसमें कुछ ईश्वरीय हेतु अवश्य है। किसी समय संसार का गुरु भारतवर्ष फिर गुरु बनेगा, बिखरे हुए शिष्यों को सम्हालेगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जो कहते हैं कि हो—ली, वे हो—ली के तत्व पर विचार करें, प्रह्लाद के ऊपर किये गये अत्याचारों से भक्तप्रिय अथवा भक्तिप्रिय नारायण का आसन हिल गया था, जिसका परिणाम आसंसार विदित है।

हम लोग तो तनिक-तनिक सी बात पर निराश हो जाते हैं। उसका यह कारण है कि हम लोगों में 'ईश्वर-विश्वास' नहीं रहा, 'आत्म-विश्वास' नहीं रहा, 'कर्म-बन्धन' और 'ईश्वरीय न्यायपरायणता' में विश्वास नहीं रहा, 'प्राचीन गौरव' नहीं रहा, 'पुण्यकर्मों में विश्वास', 'शास्त्रों में अटल श्रद्धा' नहीं रहे।

जिनका भूत काल इतना उज्ज्वल रहा, जिनके पूर्वजों का यशः सौरभ इस अवस्था में दिग्-दिगन्तर व्याप्त हो रहा है उनको निराश होने का अवसर कहाँ है ? जिनकी 'सभ्यता' में संसार भर को 'स्वर्ग-धाम' बनाने की शक्ति है वे किस मुख से कह रहे हैं कि 'बस, भारतवर्ष की होली।'

अब भी 'स्वधर्म' में यथारीति आस्था हो, तो स्वधर्म ही 'तारणहार' हो सकता है।

(१) स्वधर्म-स्वकर्म; (२) स्वदेश-स्ववेश; (३) स्वसभ्यता-स्वाभिमान; (४) स्वजाति, स्वराष्ट्र; (५) स्वभाषा-स्वलिपि; (६) स्वजन-स्वधन;

इन जुगल-जोड़ियों का पूरा ध्यान रखा जाय तो भारतवर्ष को किस बात की कमी रह सकती है ?

ओ, एक-दूसरे पर धूलि फेंकनेवाले भारतवासियो ! सब मिलकर इस धूलि को विदेशियों पर फेंकना, होली की राख विदेशियों के मुख पर पोतना—होली है, होली, थोड़ा सा गोबर इनके मुख में देना, जिससे इनको होश आवे और इनकी आँखें खुलें। इनको ध्यान आ जाय कि वे यथार्थ रीति से स्व-कर्त्तव्यपालन नहीं कर रहे हैं, उनको ज्ञान हो जाय कि प्रजा-पीड़न रूपी अधर्म किसी दिन, उनको नहीं तो उनकी भावी पीढ़ी को ले बैठेगा, उनको अक्ल आ जाय कि अधर्म द्वारा प्राप्त हुई वृद्धि सच्ची वृद्धि नहीं है। यह वृद्धि परिणाम में नाशिनी है।

चतुर्दश गुच्छक

१—राष्ट्र के उत्थान में देवियों का स्थान

यह भारत का परम सौभाग्य है कि भारत की ललनाएँ राष्ट्रोत्थान के कार्य में पूर्ण सहयोग दे रही हैं। सृष्टि के आदि से लेकर आज तक भारतीय देवियों के सामने कभी भी ऐसा विकट प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ था। भारतीय इतिहास-पुराणों में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि युद्ध के समय में देवियाँ बराबर पुरुषों का साथ देती थीं। किन्तु वह समय ऐसा था जब कि हमारा देश स्वतन्त्र था। हमारी सभ्यता का सर्वत्र संसार में साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य—चाहे जो कहिए—था।

हमारी राजनीति के अनुसार, अन्यायी, अत्याचारी शत्रु को परास्त करने के लिए शस्त्र ग्रहण करना अनीति नहीं समझी जाती थी। पर आज तो हमारी सर्वथा विपरीत गति हो रही है। हमारी ही पुण्य पवित्र भूमि में पाश्चात्य सभ्यता नङ्गा नाच नाच रही है। हम सर्वथा परमुखापेक्षी हो रहे हैं। पराधीन जाति सर्वथा निःशस्त्र और शासक-वर्ग सर्वथा शस्त्रास्त्र-सुसज्जित तथा विज्ञान-परिपूर्ण हैं। ऐसी दशा में पारतन्त्र्य-पङ्क से निकलने का एक मात्र उपाय अहिंसात्मक सत्याग्रह ही है, जिसके जन्मदाता वर्त्तमान युग में महात्मा गान्धी हैं।

गत सत्याग्रह-युद्ध में भारत की नर-नारियों ने जो विचित्र निःशस्त्र युद्ध दिया या किया, उससे संसार चकित हो उठा, भारतवर्ष की देवियों और बच्चों की सहनशीलता, कष्ट-सहिष्णुता, धीरता, वीरता को देखकर देवता भी चकित हो गये। संसार के प्रारम्भ से लेकर आज तक किसी भी देश की अथवा

राष्ट्र की ललनाओं ने इतना अपूर्व स्वार्थ-त्याग नहीं किया और आगे फिर युद्ध का बिगुल बजा, फिर महाभारत चला और 'शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्' हुआ तो फ़िर देखना देवियाँ क्या करती हैं!

बहुत-सी देवियों का यह ख़याल है कि पुरुषों ने उनपर अत्याचार करके उन्हें दासता में बाँध रखा था, इसीलिए भारतवर्ष रसातल को गया। हमारा कथन यह है कि इसमें पुरुषों का दोष नहीं; यह तो परिस्थिति का दोष है। आज स्वयं गुलाम पुरुष-समाज, परतन्त्र पुरुष-समाज स्वयं स्वतन्त्र होने का प्रबल प्रयत्न कर रहा है, इसलिए उसने स्त्रियों को भी पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है। अब आओ मैदान में, फेंक दो परदे को उतारकर, कूदो रण-क्षेत्र में, आओ जो चाहे करो।

मनुष्य-समाज का आधा शरीर स्वतन्त्र और आधा परतन्त्र नहीं रह सकता। रहेंगे, तो दोनों ही परतन्त्र रहेंगे।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

अर्थात् जहाँ देवियों का सत्कार होता रहता है, वहाँ देवता रमते हैं और जहाँ इनका यथोचित सत्कार नहीं होता वहाँ सबके सब कार्य निष्फल हो जाते हैं। पुरुष-समाज अनन्त काल से इस तत्त्व को मानता चला आ रहा है।

जब से भारतवर्ष की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ तब से पुरुष-समाज के साथ स्त्रियों को भी कष्ट भोगना पड़ा। ऐसा होना अपरिहार्य था। आज-कल भारतीय शिक्षित ललनाओं में पाश्चात्य रङ्ग-ढङ्ग की स्वतन्त्रता का विकास होने लगा है। यह दुर्भाग्य है! इससे हमारे भारत का कल्याण न होगा। हम यदि सुखी होंगे तो अपनी सभ्यता को खोकर नहीं, अपितु उसको सँभालकर ही सुखी होंगे।

भारतीय सभ्यता में ललनाओं का बहुत ऊँचा स्थान है।

ललनाओं के सहयोग के विना न तो अभ्युदय बन सकेगा और न निःश्रेयस ही प्राप्त होगा। भारत के अभ्युदय के लिए भारतीय धर्म, भारतीय रीति-नीति और भारतीय सभ्यता का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अपने स्वरूप को खोकर स्वराज्य भी लिया तो फिर वह किस काम का? वही स्वराज्य हमारे लिए हितकर होगा, जिसमें हमारा स्वरूप विकृत न होकर हमारी सत्ता अक्षुण्ण रूप में बनी रहे। यह हर्ष की बात है कि भारतीय जन-समाज और नारियाँ इस बात को अनुभव करने लगी हैं।

भारतीय ललनाओं ने बहुत काल तक आराम किया। अब भारतीय वातावरण बदल गया है; अब उनको निःसङ्कोच भाव से बाहर आना चाहिए। महाराष्ट्र और गुजरात की देवियों ने मार्ग बतला दिया है। यह निश्चित-सी बात है कि एक दूसरा सत्याग्रह-संग्राम छिड़ेगा। उस समय के लिए अभी से मनो-भावना तैयार करनी चाहिए। पिछले सत्याग्रह-संग्राम में भारत की नारियों ने जो थोड़ा-बहुत भाग लिया है उससे भारतवर्ष का सिर ऊपर उठ चुका है—इस बात को कौन नहीं मानेगा?

भारत की देवियों में शक्ति का सञ्चार हो रहा है। वह अब निर्भय होकर रणक्षेत्र में आ रही हैं और पाश्चात्य सभ्यता-द्वारा प्रवर्तित सब प्रकार के अत्याचारों को सहने में समर्थ हो रही हैं। जेलों की यातनाएँ उन्होंने सहीं, लाठी-प्रहार सहे, वेणी-संहार की कथाएँ भी हुईं, और क्या-क्या लिखा जाय? एक द्रौपदी के केशों के खींचने से वह महाभारत हुआ, तो अब सैकड़ों देवियों पर किये गये अत्याचारों का क्या परिणाम होगा, ईश्वर ही जाने। परमात्मा करे ललनाओं में इसी प्रकार शक्ति का सञ्चार होता रहे जिससे वे साक्षात् शक्ति की चलती-फिरती मूर्त्तियाँ बनकर भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने में समर्थ हों।

देवियाँ चाहें तो क्या-कुछ नहीं हो सकता? यदि इनके

अज्ञान दूर होकर इनमें देशभक्ति का सञ्चार हो जाय, यदि ये समझने लगें कि देश और धर्म दोनों एक साथ चलेंगे, तो एक ही पीढ़ी में पूर्ण स्वतन्त्रता लीजिए। पाश्चात्य देशों की देवियों में उद्भट देशभक्ति है; पर धर्म की पवित्र भावना नहीं है। हमारे देश में देवियों में उच्च धार्मिक भावनाएँ हैं; पर देश की ओर उनका अपेक्षित ध्यान नहीं है। अब धीरे-धीरे आ रहा है—यह सन्तोष की बात है। हमारे देश की सी पतिव्रता, धर्म-परायणा देवियाँ पृथिवी-तल में कहाँ मिलेंगी? भारत का सब कुछ खो गया; परन्तु धर्म का चतुर्थांश किसी न किसी रूप में बच गया। इसमें देवियों का बहुत कुछ हाथ है। यदि धर्म केवल पुरुषों के हाथ में रहता तो अब तक उसके प्राण-पखेरू कभी के उड़ जाते और भारतीय धर्म एक स्मरण मात्र करने की—साक्षात् अनुभव करने की नहीं—वस्तु हो जाती।

जिस प्रकार देवियों ने धर्म की रक्षा की, इसी प्रकार वर्त्तमान युग में वे देश की भी रक्षा कर सकेंगी। एक बार बात उनकी समझ में आ जानी चाहिए और उनको श्रद्धा जमनी चाहिए, फिर बेड़ा पार ही समझिए।

देवियो, तुम सदैव अपने धर्म-कर्म का ध्यान रखो। तुम्हारे धर्म-कर्म में निम्नलिखित बातें आ जाती हैं—

स्वधर्म अर्थात् { स्वराज्य स्ववेश स्वनीति स्वभाषा स्वसभ्यता / स्वदेश स्वरीति स्वाभिमान स्वलिपि स्वराष्ट्र }

पाश्चात्य सभ्यतावाले स्वयं अपने धर्म-कर्मों से, अपनी सभ्यता से सन्तुष्ट नहीं, तो उनकी अपूर्ण अथवा स्वार्थ-पूर्ण अथवा एकदेशीय अथवा एकाङ्गी सभ्यता भारत-वासियों को कब सन्तोष दे सकेगी? हमारे घर में सब कुछ है; पर कोई देखने का कष्ट उठावे तब न? एक दासता ने हमारा सारा घर बरबाद कर रखा है।

२—मैं ज़िन्दा हूँ
पर कोई शनाख़्त करनेवाला चाहिए

सरकारी या रियासत के पेन्शनरों का प्रतिमास का अनुभव है कि जब तक कोई प्रतिष्ठित पुरुष अथवा सरकारी अफ़सर उनको शनाख़्त या तसदीक़ नहीं करता या उनके पेन्शन के काग़ज़ पर, "यह वही शख़्स है और ज़िन्दा है"—ऐसी तसदीक़ नहीं करता, तब तक, चाहे वह हज़ार वार ज़िन्दा रहे, उसको सरकारी या रियासत के ख़ज़ाने से पेन्शन नहीं मिल सकती। कैसी अजीब बात है कि सारी उमर—नहीं-नहीं, उमर का सबसे बड़ा और सबसे अच्छा हिस्सा तो सरकार की पेशी में जाय और जब पेन्शन के दिन आवें तब लोगों से कहते फिरो कि, "मेरे ज़िन्दा होने की तसदीक़ करो या मेरी शनाख़्त करो"—कैसी करुणाजनक दशा है ?

यही दशा इस बूढ़े भारत की हो रही है। इसकी समस्त उत्तम आयु का बड़ा भाग संसार के उपकार करने में, समस्त जगत् को शान्ति और सभ्यता के पाठ पढ़ाने में गया, परोपकार में इसने अपना घर-बार भी लुटा दिया, किन्तु अब जब कि बुढ़ापा आ गया, शान्ति से हरि-भजन करने और आत्मचिन्तन करने के दिन आये, पेन्शन के दिन आये, तो इसको पेन्शन तो क्या मिलती, इसको ज़िन्दा मानने के लिए संसार की कोई भी सरकार तैयार नहीं! इसके ज़िन्दा होने की शनाख़्त तो कोई क्या करेगा; इसके ज़िन्दा होने की तसदीक़ भी कौन करने लगा ? यह संसार ऐसा कृतघ्न है। अहसान-फ़रामोशी की भी कोई हद होती है!

संसार ऐसा कृतघ्न रहे तो रहे, संसार के राष्ट्र इसको मृत-प्राय समझकर इसका तिरस्कार करें तो करें, पर यह कैसी विचित्र बात है कि जैसे घर के लोग घर के बूढ़े की परवाह नहीं करते इसी प्रकार भारतवर्ष के लोग भी अपने बूढ़े भारत की ज़रा सी भी पर्वाह नहीं कर रहे हैं ! मैं भूलता हूँ बाहर के लोगों के कहने में आकर, उन्हींके सुर में सुर मिलाकर, अपने ही अन्न-दाता, प्राणदाता, जन्मदाता, रक्षक और पोषक बूढ़े भारत को 'मृत' समझ रहे हैं ! भारत बिलबिलाकर पूछ रहा है—

प्रश्न—क्या मैं ज़िन्दा नहीं हूँ ?

उत्तर—ज़िन्दे अवश्य हो।

प्रश्न—फिर मुझे मुरदा क्यों समझ रहे हैं ?

उत्तर—इसलिए कि संसार के मार्केट में तेरी साख नहीं है।

प्रश्न—क्यों, पिछली बातों से मेरी साख नहीं हो सकती ?

उत्तर—नहीं, हरगिज़ नहीं।

प्रश्न—क्या संसार का कोई राष्ट्र मेरी शनाख़्त नहीं करेगा ?

उत्तर—दरिद्र की कौन शनाख़्त करता है ? दरिद्र पुरुष तो सामने बैठा हुआ भी नज़र नहीं आता।

प्रश्न—इतिहास मेरी तसदीक़ करे तो ?

उत्तर—इतिहास की बातें हैं भूतकाल की, दरिद्र जाति के इतिहास उसकी दरिद्रता में ही विलुप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या संसार इतना कृतघ्न हो गया है ?

उत्तर—चलती का नाम गाड़ी है।

प्रश्न—फिर मैं अपने ज़िन्दे होने का कौनसा प्रमाण पेश करूँ?

उत्तर—कोई घोर उपद्रव कर, जिससे संसार का ध्यान तेरी ओर आकृष्ट हो जाय, विना उपद्रव किये किसीकी पूछ नहीं होती। देखो, नाग अपनी फूँ-फाँ नहीं छोड़ता, उसको सब पूजते हैं और उसका शत्र गरुड़ इतना शक्तिशाली है, साक्षात् विष्णु

का वाहन है, किन्तु उसको कोई नहीं पूजता ! नाग को खुश करने के लिए हिन्दू-धर्म के त्यौहारों में नाग-पञ्चमी का त्यौहार ख़ास तौर पर रखा गया है; बेचारे गरुड़ का त्यौहार नहीं।

भारत—अच्छा यह बात है ? मैं तो नहीं समझता था कि संसार इतना कृतघ्न हो जायगा ! मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि कभी संसार के मार्केट से मेरी साख ही उठ जायगी; मेरी शनाख़्त करनेवाला कोई राष्ट्र ही नहीं रहेगा; मेरी तसद्दीक़ करनेवाले इतिहास भी रद्दी की टोकरियों में फेंक दिये जायँगे ! अच्छी बात है, मैं भी अब संसार को देख लूँगा ! मुझे औरों की शिकायत ही क्या, जब घरवाले ही परवाह नहीं कर रहे हैं !

[बूढ़ा भारत मन में सोचता है]

क्या का क्या हो गया ? ज़माना उलटा ही चल पड़ा। मैं हिमालय की चोटी पर था, आज इतना नीचे खिसक आया हूँ कि ऊपर देखता हूँ तो आँखें फिर जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं, बाहर के तो क्या घर के ही लोग मेरी भूतकालीन विभूति को भूलकर भ्रम में मारे-मारे भटककर भ्रष्ट हो रहे हैं। अब कोई उपद्रव रचना हो चाहिए जिससे संसार भर के राष्ट्रों का ध्यान मेरी ओर खिंच जाय, एक बार मेरी ओर ध्यान आ जाय फिर सबको वश में करना और मुट्ठी में बाँधे रखना मेरे बायें हाथ का खेल है।

[प्रकट रूप में ऊँचा महानाद करता है]

हे संसार के महाराष्ट्रो, राष्ट्रो, जातियो और उपजातियो ! जब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था, तब मैं ही समस्त संसार को शिक्षा, दीक्षा, शान्ति और सभ्यता का पाठ पढ़ाता था। जब तुम्हारी गणना जङ्गली जातियों में होती थी, जब तुमको और बातों का तो क्या कपड़े पहनने तक का शऊर नहीं था, तब तुमको मनुष्य-कोटि में लानेवाला मैं ही तो था। ज्ञानामृत पिलाकर अज्ञानान्धकार से निकालनेवाला मैं ही तो था। अब तो

काल-गति के प्रभाव से, मेरे दुर्भाग्य से, मुझे ऐसे हीन दिन प्राप्त हुए हैं। तुम भी ऐसे कृतघ्न हो गये कि प्रत्युपकार तो क्या करते, मेरे उपकार का बदला अपकारों से दे रहे हो! ईश्वर तुम्हारा भला करे! तुम्हारा ही क्या दोष, ये मेरे घरवाले ही मेरी अवहेलना कर रहे हैं! अब जहाँ मैं घरवालों के कान खींचकर उनको सावधान करूँगा, वहाँ, सँभल कर रहो, तुम्हारी आँखों में भी ऐसा तीव्र अञ्जन डालूँगा कि तुम्हें भी होश आ जायगा और धर्म-शून्य विज्ञान, प्रकृति-पूजा और अस्त्र-शस्त्र के भरोसे जो तुम संसार को नरकाधम बना रहे हो, इस भयङ्कर भूल का भारी प्रायश्चित्त हो जायगा। जिस चञ्चला लक्ष्मी के विलास पर तुम मुग्ध हो रहे हो वह चञ्चला लक्ष्मी कभी किसीकी होकर नहीं रही; वह तो साधु तथा असाधु दोनों के साथ एक सी ही चञ्चला रहती है। इस चञ्चला लक्ष्मी का वाहन है उलूकराज (उल्लू) जो दिवान्ध कहलाता है और जिसे दिन में, प्रकाश में नहीं दीखता है। जो लक्ष्मी स्वयं इतनी चञ्चला हो और जिसके शुभ वाहन उलूकराज हों, उस लक्ष्मी के भरोसे संसार का तिरस्कार मत करो। मैं तुमको अभी से सचेत किये देता हूँ। सबकी आँखें खोलने के लिए मैं अब एक महान् उपद्रव रचनेवाला हूँ, जिस उपद्रव के सामने फ्रेञ्च रिवोल्यूशन फीका पड़ जायगा, रूस के बोल्शेविक हार मान जायँगे और संसार के समस्त सैनिक उत्पात ढीले पड़ जायँगे। मैंने जान लिया कि अब ऐसा किये विना संसार का ध्यान मेरी ओर नहीं आयेगा और संसार को शान्ति-धाम बनाने की एक मात्र रामवाण अचूक महौषधि मेरे ही पास है; किन्तु काल-चक्र-प्रभाव से उसको क़द्र नहीं हो रही है। अब सब सँभलो! आकाशवाणी होती है—"सावधान! सावधान!" इसलिए हम भी कहते हैं—"सावधान! सावधान!"

३—बलिदान-प्रधान आर्य्य जाति

हम लोग यदि अपने इतिहास का मनन करें तो स्पष्ट विदित होगा कि आर्य्य जाति के लिए धर्म पर बलिदान होना एक साधारण सी बात है। बलिदान दो प्रकार का है। एक अपने अभीष्ट देवता को प्रसन्न करने तथा उनसे अभीष्ट वर प्राप्त करने के लिए बलिदान; दूसरा विधर्मियों द्वारा किये हुए अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए निःशस्त्र प्रतीकार बलिदान। पहले प्रकार के बलिदान के दृष्टान्तों से हमारे इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। इस प्रकार का सबसे उग्र बलिदान रावण का था, जो शिवजी महाराज को प्रसन्न करने के लिए अपना एक-एक सिर अपने हाथों से काट-काट करके चढ़ाता था। यह हुई पौराणिक बात; किन्तु भारत में अँगरेज़ी राज्य के चञ्चु-प्रवेश के पूर्व अभीष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए अपने प्राणप्रिय बालकों को बलि देने की प्रथा प्रचलित थी। यह कुप्रथा पीछे से सरकारी आज्ञा से बन्द की गई। प्राणियों को बलिदान देने की प्रथा अब भी सर्वत्र है। दूसरे प्रकार का बलिदान यवन-काल में प्रारम्भ हुआ। धर्म के नाम पर अत्याचार सहने का आर्य्य जाति के लिए यह पहला ही अवसर था। एक ओर आर्य्य-साम्राज्य मिट चुका था, दूसरी ओर यवनों के आक्रमणों के साथ उनका साम्राज्य स्थापित होने लगा था। उसी साम्राज्य के बल पर यवनों ने साम्राज्यहीन और भीतर ही भीतर छिन्न-विच्छिन्न आर्य्य जाति पर धार्मिक अत्याचार प्रारम्भ किये। धर्म-प्राण आर्य्य जाति तथा उसके धर्म को नष्ट करने के लिए सबसे प्रथम उसके धर्म-ग्रन्थ-संग्रह नष्ट किये गये; द्वितीय आर्य्य जाति के गुरु ब्राह्मणों पर अत्याचार हुए; तृतीय आर्य्य जाति के रक्षक क्षत्रियों को अनवरत युद्धों द्वारा परास्त करने का उपक्रम किया

गया; चतुर्थ यवनों ने अपनी हिन्दू अथवा आर्य्य प्रजा पर अत्याचार किया। जब धर्म-ग्रन्थ-संग्रह लुप्त होने लगे तब धर्म-प्राण ब्राह्मणों ने उनको कण्ठस्थ करके रक्षा करने का क्रम बाँधा। जब यवनों ने यह देखा तब उनका समस्त क्रोध उन ब्राह्मणों पर आ पड़ा। ब्राह्मण जाति ने अपने प्राण तक दिये किन्तु धर्म नहीं छोड़ा। इनकी रक्षा के लिए जो वीर क्षत्रिय उठे उन्होंने भी वीरता की पराकाष्ठा दिखाई और आर्य्य-धर्म बचाया। तब यवनों के अत्याचार साधारण जनता पर होने लगे तथा तलवार और अत्याचार के बल पर भारत में जो कुछ ऊधम मचा, इतिहास उसका साक्षी है। दक्षिण में छत्रपति शिवाजी, श्रीगुरु समर्थ रामदास, पश्चिम में राणा प्रताप, उत्तर में श्रीगुरु गोविन्दसिंह और पूर्व में गौराङ्ग प्रभु न होते तो यवनों ने आर्य्य जाति को हड़प कर ही डाला था। अब वह समय आया जब कि ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। आर्य्य जाति के सदृश यवनों का साम्राज्य भी नष्ट हो गया, वे भी दास हो गये। ऐसी अवस्था में एक और प्रकार का अत्याचार प्रारम्भ हुआ। वह यह कि धर्मान्ध यवन धर्मान्ध होकर धर्म के नाम पर हिन्दुओं को मार देते थे। यह हुआ ब्रिटिश प्रजा यवनों का ब्रिटिश प्रजा हिन्दुओं पर अत्याचार; किन्तु ये अत्याचार आर्य्य जाति में धार्मिक जीवन सञ्चार करने में कृतकार्य हुए। हिन्दुओं का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और हिन्दू राजे सङ्कुचित अर्थों में भारतवर्ष में ही विद्यमान थे। भारतवर्ष के बाहर कहीं भी हिन्दू साम्राज्य तो क्या एक भी छोटा सा हिन्दू राज्य शेष नहीं रहा। यवनों का साम्राज्य यहाँ से उठ गया था; किन्तु भारतवर्ष के बाहर काबुल, ईरान, तुर्किस्तान आदि में इनके स्वतन्त्र प्रबल राज्य थे। उस स्वतन्त्रता की उष्णता यहाँ के साम्राज्य-भ्रष्ट यवनों को भी पहुँचती रही है। इसीलिए ये हिन्दुओं के सदृश साधारण ब्रिटिश प्रजा होते हुए भी

उछलते-कूदते ही रहे। बेचारे हिन्दुओं पर डबल मार रही—एक विदेशी साम्राज्य के आधीन होना और दूसरे यवनों के धर्म-कोप का केन्द्र बनना। इस दुहरी क़ैंची में भी हिन्दू जाति बची रही! इसका कारण समय-समय पर धर्म-बलिदान ही है। हिन्दुओं ने क़ौमी-अङ्ग-सङ्कोच-वृत्ति का आश्रय लेकर भी अपने प्राण बचायेहैं।

यवनों के समय में धर्म के नाम पर जीते जी खाल छिलवाने-वाले और मुँह से उफ़ तक न करनेवाले सिक्ख गुरुओं का आर्य्य जाति पर कितना ऋण है? गुरु गोविन्दसिंह के बालकों और बालक धर्मवीर हक़ीकतराय के बलिदानों को कौन भुला सकता है? इन्होंने इच्छापूर्वक धर्म के लिए प्राण देकर धर्म की महिमा को प्रस्थापित किया है। हिन्दू धर्म के अनु-यायियों में इस प्रकार धर्म के लिए प्राण देने के आनुवंशिक संस्कार चिरकाल से चले आ रहे हैं। जब इनका साम्राज्य था तब इनपर अत्याचार कौन कर सकता था, इन्होंने भी धर्म के नाम पर किसी भी जाति पर अत्याचार नहीं किया। वैदिक धर्म और उसकी सभ्यता स्वयं इतनी श्रेष्ठ थी और है कि अन्य जातियाँ स्वयं इनमें आ मिलीं। हिन्दुओं में भी दो पन्थ थे किन्तु परस्पर भी इन्होंने कभी अत्याचार नहीं किया। यवनों के समय में भी चैतन्य आदि ने यवनों को वैष्णव बनाया, नानक ने अपने समय में यवनों को सिक्ख धर्म की दीक्षा दी किन्तु उपदेश के बल पर! यह यवन जाति ही है कि जिसकी खोपड़ी में यह समाया हुआ था और अब भी समाया हुआ है कि वह इस प्रकार अन्य धर्मों को अत्याचारों द्वारा नष्ट कर सकेगी। जब इनका साम्राज्य था तभी हिन्दुओं को न मिटा सके तो अब क्या मिटा सकेंगे? इन यवनों के अत्याचार केवल हिन्दुओं पर ही नहीं होते रहे हैं, इनमें परस्पर भी अत्याचार होते रहे हैं। रोमन कैथोलिकों ने सहधर्मी प्रोटेस्टेण्टों पर जिस प्रकार अत्याचार

किये इसी प्रकार के अत्याचार ये अपने से मत-भेद रखनेवाले अपने ही भाइयों पर करते चले आये हैं। काबुल, कन्धार, ईरान, टर्की, अरब आदि की ओर देखकर अब भी हमारे यवन भाई अपने साम्राज्य का सुख-स्वप्न देख रहे हैं और उसीके भरोसे पर सर्वत्र उछल-कूद मचाकर कभी-कभी मूर्खता तथा धर्मान्धता का परिचय दे डालते हैं;पर इससे आर्य्य धर्म का कुछ बिगड़ता नहीं।

यवन-काल में जो कुछ हुआ सो हुआ। इस ब्रिटिश काल में भी कभी-कभी इनकी धर्मान्धता के प्रमाण मिलते रहते हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्ष के राज्य में दो बड़े बलिदान हुए। पं०लेखराम आर्य्य-मुसाफ़िर का बलिदान तथा स्व० श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी का बलिदान। पहले बलिदान ने केवल आर्य्य समाज के मण्डल में खलबली मचा डाली थी। इस दूसरे बलिदान ने समस्त भारतीय हिन्दू जनता को ऐसा जगाया जैसे क्षुब्ध महासागर।

हिन्दू जाति के पापों के प्रायश्चित्तों के लिए ऐसे बलिदान होते हैं अथवा होते रहे हैं। ऐसे बलिदानों से ही जाति जागती है, घर टटोलती है, घर की शुद्धि होती है और समयानुसार व्यवस्था बदलती है। इस प्रकार ये बलिदान घाटे के सौदे नहीं हैं। आर्य्य समाज ने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए प्रथम शताब्दी में पं० लेखराम को बलि दिया। द्वितीय शताब्दी के आदि में स्वामी श्रद्धानन्द जी बलि-वेदी पर चढ़ गये। इस तरह जितनी भी बलियाँ चढ़ेंगी, भगवान् उतने ही प्रसन्न होंगे। मूर्ख हैं वे यवन या संसार की अन्य जातियाँ जो आर्य्य-धर्म, आर्य्य-सभ्यता तथा आर्य्य-संस्कृति को मिटाने का सुख-स्वप्न देख रही हैं। एक समय वह होगा जब आर्य्य-धर्म सर्वत्र प्रसरित होकर समस्त संसार उसीको शरण लेगा। बलिदान-प्रधान आर्य्य जाति का कुछ नहीं बिगड़ेगा। उसका धर्म ही उसको बचायेगा—"यतो धर्मस्ततोजयः।"

४—भारतवर्ष की हीनता का मुख्य कारण

भारतवर्ष की हीनता के अनेक कारण हैं किन्तु मुख्य कारण बौद्धिक हीनता ही है। भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य के चञ्चु-प्रवेश को लगभग डेढ़ सौ वर्ष होने आये हैं। इनकी रीति-नीति-पद्धति का पूर्ण अनुभव भारतवासियों को अच्छी तरह मिल चुका है। साक्षात् यूरुप आदि देशों में भी अपने तथा परायों के साथ इनका किस प्रकार का व्यवहार रहता है—इस बात का भी अनुभव मिल चुका है। फिर भी भारतवासी इन अनुभवों से लाभ नहीं उठा रहे हैं—यह बौद्धिक हीनता नहीं तो और क्या है ?

अभी-अभी आयरलैण्ड को कुछ स्वतन्त्रता मिली है। पिछले सैकड़ों वर्षों की कठिनाइयों के पश्चात् पिछले महायुद्ध के अवसर पर आयरलैण्ड को सूझा कि यही अवसर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का है और इस ज्ञान ने उसका बहुत-कुछ काम बना दिया। स्वर्गीय मैकस्विनी का राष्ट्र के इतिहासों में कदाचित् ही देखने को मिलनेवाला अपूर्व स्वार्थ-त्याग-नहीं-नहीं, मैं भूलता हूँ—अपूर्व प्राण-त्याग भी आयरलैण्ड की सिद्धि में बहुत बड़ा सहायक हुआ। हमारे देश में पूज्य महात्मा गान्धी ने भी घोर उपवास किया था। लोकमान्य तिलक ने भी नाना सङ्कट सहे थे। यदि कहीं मैकस्विनी की तरह माण्डले में लोकमान्य तिलक के प्राण-पखेरू उड़ जाते तो आज आधी नौकरशाही अपनी जन्मभूमि में और आधी अपनी जन्मभूमि के जल-मार्ग पर जहाज़ों में दिखाई पड़ती और जिस सुखद आलोक के दर्शन होते वह निराला ही होता।

आयरलैण्ड के वीर सैनिक डी०वैलेरा की बात मानी जाती और स्वतन्त्रता के कट्टर उपासकों में मतभेद होकर दो दल न हो जाते तो आज आयरलैण्ड केवल 'आइरिश फ्री स्टेट' (Irish Free

State) न रहकर 'स्वतन्त्र आयरलैण्ड' हो जाता। क्या भारतवासी आयरलैण्ड वालों के इस अनुभव से लाभ नहीं उठा सकते? हाँ, उठा सकते हैं; पर अपनी बुद्धिहीनता को कोई क्या करे?

जब आयरलैण्ड वाले स्वतन्त्रता के लिए झगड़ रहे थे तब स्काटलैण्ड वाले चुपचाप मौज से समय बिताते रहे। अब वे स्वयं उसी प्रकार का स्काटिश फ्री स्टेट चाहते हैं। जब आयरलैण्ड वाले झगड़ रहे थे तब उसका तो भला होता ही किन्तु स्काटलैण्ड का भी भाग्य जग जाता। स्काटलैण्ड की इस बेसमझी की बात भारतवासियों की बेसमझी से मिलती-जुलती-सी है। महायुद्ध के अवसर पर स्वर्गीय लोकमान्य चिल्लाते ही रह गये कि ऐसा मौक़ा सौ वर्षों में भी नहीं मिलेगा—तवा गरम हो रहा है, अपनी रोटियाँ उतार लो; पर भारतवासियों को बुद्धिहीनता तब भी नहीं गई। उस समय लोकमान्य तिलक की बात महात्मा गान्धी की समझ में भी नहीं आई। पीछे से महात्मा जी ने भी असहयोग का बिगुल फूँका।

फिर महात्माजी के असहयोग के समय में लोग उनको अपना सेनापति मानते रहे और उनकी आज्ञा को भङ्ग भी करते ही रहे! वे कहते रहे, 'अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा करो।' किन्तु 'अहिंसा' का स्थान 'हिंसा' ने लिया और 'सविनय' के स्थान में 'अविनय' आया! करनी चाहिए थी सरकारी क़ानूनों की अवज्ञा; होने लगी स्वयं महात्मा जी की अवज्ञा! उनके लेफ़्टिनेण्ट उनसे बिगड़ बैठे, घर में ही बग़ावत चल पड़ी! महात्मा चुपचाप साबरमती आश्रम में जा बैठे। फिर भी भारतवासियों की जो दशा हुई उसको लिखकर लेखनी को दूषित करने की अपेक्षा उस दशा का अनुमान करना ही ठीक है; अनुमान काहे का, यह तो सबकी अनुभूत बात है।

जिस देश के नेता तथा अनुयायी समर्थ न हों, समय की

गति से लाभ उठाना न जानते हों; शासक के गुण-अवगुणों को जानकर भी उससे लाभ उठाना अथवा अपनी बात साधना न जानते हों, संसार की स्वतन्त्र जातियों और राष्ट्रों के इतिहास का मनन करके अपना मार्ग न बना सकते हों और जिन राष्ट्रों ने इसी ब्रिटिश साम्राज्य में रहकर फिर भी अंशतः अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त किया उनके उपायों का भी अनुसरण करना न जानते हों, तो फिर ऐसे भारतवासियों को बुद्धिहीन क्यों न कहा जाय ?

देखने को आँखें हों तो सब कुछ दिखाई पड़े; पढ़ने को अवकाश हो तो उन-उन राष्ट्रों के इतिहास विद्यमान हैं और पास खर्च करने को पैसे हों तो देश-देशान्तरों में जाकर उन-उन स्वतन्त्र राष्ट्रों व राष्ट्र-नेताओं का साक्षात् अनुभव भी मिल सकता है। किन्तु भारतवर्ष के दुर्भाग्य को कोई क्या करे ? जो नेता सात समुद्र पार की एक बार नहीं, अनेक बार हवा खा आये हैं, वे भी तो अपने अनुभवों का दुरुपयोग कर रहे हैं!

सच है, ईश्वर जिनकी रक्षा करना चाहते हैं, उनको बुद्धि दे देते हैं और जिनका विनाश चाहते हैं उनकी बुद्धि हर लेते हैं। वास्तव में अभी हमारे दुर्दिन शेष हैं; पाप, दुराग्रह, फूट, ईर्ष्या, राग और द्वेष शेष हैं और सबसे बढ़कर सब दुर्गुणों की खान बुद्धिहीनता शेष है। धन से दरिद्र पुरुष अथवा जाति बच सकती है; किन्तु किसी ने ठीक ही कहा है कि—

"धी दरिद्रो न जीवति।"

जिसको, जिस जाति को, जिस राष्ट्र को, बुद्धि का दारिद्र्य लग गया, वह जाति, वह राष्ट्र नष्ट हुआ समझना चाहिए। यदि भारतवासी अपना उद्धार चाहते हैं तो इस 'धी-दरिद्रता' उर्फ़ 'बुद्धि-विहीनता' रूपी भयङ्कर रोग की निवृत्ति का शीघ्र उपाय करें।

५—नवयुग क्या है ?

:०:

ऋतुओं पर दृष्टि रखनेवाले प्रत्येक आबाल-वृद्ध पुरुष का यह अनुभव है कि प्रत्येक ऋतु धीरे-धीरे आता है और अपने से पूर्ववर्ती ऋतु में परिवर्त्तन कर डालता है, इतना कि लोग कुछ काल के लिए पूर्ववर्ती ऋतु की सत्ता को भूल जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, अयन और संवत्सर हमको नई परिस्थिति की ओर ले जाते रहते हैं। वही-वही बातें नये रूप में रङ्ग-ढङ्ग पलटकर आती जाती हैं। 'नवयुग' किसको कहते हैं ? पुराण (प्राचीन) युग का पुनर्जन्म ही 'नवयुग' है। कभी 'नवयुग' पुराण युग का सन्देश ले आता है, कभी कोई नया ही सन्देश सुना डालता है। नया इस अर्थ में कि उस नये रङ्ग-रूप में, नये साँचे-ढाँचे में साधारण जनता को पुराण युग के आभा की कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्य नामक प्राणी अपने मनोरञ्जन के लिए नित्य प्रति नई वस्तु चाहता है, चाहे वह नई वस्तु पुरातन वस्तु का रूपान्तर हो, चाहे वह स्वतन्त्र रूप से एकदम नई वस्तु हो। 'क्रान्ति' हो तो 'नवयुग' दीखे, 'नवयुग' आवे तो 'क्रान्ति' हो। एक प्रकार से देखा जाय तो 'क्रान्ति' और 'नवयुग' ये दोनों शब्द भिन्नाक्षर-युक्त किन्तु एकार्थवाचक और एकार्थ-साधक ही हैं। मैं इस 'नवयुग' में प्राचीनता की आभा देख रहा हूँ, इसलिए इस 'नवयुग' को प्यार की दृष्टि से देख रहा हूँ। आशा है कि यह 'नवयुग' अपने पूर्ववर्ती अनन्त युग परम्परा की याद दिलाता हुआ हिन्दू-समाज का ध्यान परम पुरुषार्थ की ओर आकर्षित करने का हेतु बनेगा।

:०:

६—सौम्य मूर्त्ति सहृदय पण्डित रामजीलाल शर्मा

मैं जब फ़ैज़ाबाद जेल में था, तब मैंने सुहृद्वर श्री पं० रामजीलाल जी के देहावसान के विषय में 'भारत' में पढ़ा था। उसमें उनका चित्र भी छपा था। जेल-बन्धन और उसमें सुहृद्-वियोग-समाचार! कितना दुःख हुआ—इसका अनुमान बाहर के लोग नहीं लगा सकेंगे। जेल के भीतर जितने भी सहृदय साहित्य-सेवी थे, सभी ने चार-चार आँसू बहाये, उनका गुण-गान किया। जेल-नियन्त्रण के कारण सहानुभूति का पत्र भी प्रियवर रघुनन्दन जी के नाम न भेज सके। जेल से छूटते ही हमने पहले यही काम किया अर्थात् सहानुभूति का और सम-वेदना का पत्र भेजा।

स्वर्गीय श्रीपण्डितजी मधुर स्वभाव के पुरुष थे, कोमल हृदय के पुरुष थे, दयालु थे और मित्र-मण्डल के पात्र थे। प्रबन्धक तो उच्च कोटि के थे। लेखकों में दूरदर्शी, सावधान लेखक समझे जाते थे। राग-द्वेष से यथासम्भव बचते थे। आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा साहित्य की, 'विद्यार्थी' द्वारा विद्यार्थियों की, 'खिलौना' द्वारा बच्चों की और 'हिन्दी प्रेस' द्वारा उपयोगी सस्ते साहित्य की जो सेवा की है, वह साहित्याकाश में निर्मल तारे की तरह चमक रही है।

हम तो उनके घर के से आदमी थे; उनसे भिन्न विचार रखनेवाले भी उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

ऐसे सुहृद-वियोग से किसका हृदय दोलायमान न हो रहा होगा ? हिन्दी साहित्य-सेवियों के इस महारथी के चले जाने से साहित्य-सेवियों में जो खण्ड पड़ गया है, उसकी पूर्त्ति शायद ही हो सके। एक बात उनकी और हमारी मन की मन में रही। वह यह कि उन्होंने आयोजना की थी कि साहित्य-सम्मेलन की आर्थिक दशा को ठीक करने के निमित्त ब्रह्म-देश में एक अच्छा डेपूटेशन जाय और अर्थ-संग्रह करे। पर उधर वे बीमार रहने लगे, इधर हमको राजनैतिक झमेलों के कारण तनिक भी अवकाश न मिल सका। फिर हम जेल में गये और बाहर पण्डित जी शरीर-रूपी जेल से मुक्त हुए। मेरा स्वास्थ्य जेल में बहुत ख़राब हो गया है और मैं नितान्त दुर्बल हूँ; इसीलिए इस समय इससे अधिक कुछ नहीं लिख सकता। यदि कभी उनका कोई विस्तृत जीवन-चरित्र छपा, तो उसमें मैं अपने विस्तृत विचार लिख सकूँगा। उनका सीतापुर-सम्मेलन का दिव्य भाषण अब तक मेरे कानों में गूँज रहा है।

७—फिर हैदराबाद में क्या हुआ ?

आज मैं फिर हैदराबाद के विषय में कुछ लिखना चाहता हूँ। हैदराबाद वही निज़ाम का हैदराबाद है, जिसके विषय में मैंने गत दिसम्बर मास में 'अर्जुन' द्वारा कुछ प्रकाश डाला था *।

आज यह सुनिए कि उन लेखों के निकलने के पश्चात् हैदराबाद में क्या हुआ ? जब वे लेख 'अर्जुन' में निकले, तब सप्ताह-दो सप्ताह पश्चात् ही वे लेख 'रियासत', 'सियासत' आदि कई अख़बारों में उद्धृत किये गये। वे अख़बार हैदराबाद में जाते हैं। उन अवतरणों व लेखों को हैदराबाद के मुसलमानी अख़बारों ने बड़े बड़े हैडिंग देकर छापा तथा बड़े विषैले नोट लिखे कि इन बातों की ख़बरें किस ज़रिये से गईं—इन बातों का पता लगाना चाहिए। उद्धृत लेखों में मेरा नाम तो था ही। सी० आई० डी० वालों को आर्य-समाज पर सन्देह होना ही था। उन्होंने डाक-विभाग को लिख दिया कि हैदराबाद से यदि नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ के नाम का पत्र जाय, तो उसको रोक लिया जाय। आर्यसमाज की डाक पर भी नज़र रखी जाने लगी। आर्यसमाज हैदराबाद के उपमन्त्री श्रीनरेन्द्र ने मेरे नाम एक पत्र भी भेजा था। वह सी० आई० डी० के हाथ लगा। उस पत्र में क्या था—मुझे पता नहीं; क्योंकि वह पत्र मुझे मिला ही नहीं। उसी पत्र के आधार पर यह निश्चय किया गया कि नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ जब हैदराबाद आये थे, तब सब ख़बरें नरेन्द्रजी द्वारा उनको मिलीं। श्री चन्दूलाल मन्त्री समाज को तलबी हुई।

* उक्त लेख इसी पुस्तक में नवम गुच्छक में देखिए।

उन्होंने पुलिस से कह दिया कि उन्हें कुछ पता नहीं है; तब उनका पिण्ड छूटा। नरेन्द्रजी ने स्पष्ट कह दिया कि जब शास्त्रीजी यहाँ आये थे, तब समाज में ही ठहरे थे। तब उन्होंने मुझसे जो पूछा, उसका उत्तर मैंने दे दिया। मैं समाज में इसलिए ठहरा कि मैं अपने भाई श्यामराव तोपखाने के पास ही ठहरना चाहता था, किन्तु वे निज़ाम सरकार के पेन्शनर हैं, मेरे ठहरने से वे भयभीत हुए और उन्होंने मुझे चुपके से कहा कि भई, मेरे पास मत ठहरो, तब मैं समाज में जाकर ठहरा। अस्तु; सी० आई०डी० के महकमे ने ऊपर रिपोर्ट की और ऊपरवालों ने सोचा कि नरेन्द्रजी को शहरबदर अर्थात् हैदराबाद से निर्वासित किया जाय; किन्तु यह मामला जब कौंसिल में पहुँचा तब वहाँ एक मेम्बर ने यह आपत्ति उठाई कि नरेन्द्रजी यहीं के निवासी हैं, उनका निर्वासन उचित नहीं, उनको तम्बीह दी जाय। नरेन्द्रजी ने पुलिस अफ़सरों से कह दिया था कि आप हमको तो कहते हैं; दीनदार सद्दीक़ खुलेआम जहाद बोलता फिरता है, हिन्दुओं के विरुद्ध सदा विष उगलता रहता है, उसको कुछ नहीं कहा जाता ! ट्रेञ्च साहब (डाइरेक्टर जनरल पुलिस) ने भी यही बात कही। तब निश्चय हुआ कि दीनदार सद्दीक़ को भी हुक्म दिया जाय कि वह आइन्दा से तक़रीरें बन्द करे। चुनाचे अब वह बोलने नहीं पाता है; पर चुप-चाप काम कर रहा है। इधर नरेन्द्रजी को हुक्म दिया गया कि अगर आइन्दा फिर ऐसी हरकत करेंगे तो कड़ी सज़ा दी जायगी। मुझे विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि एक मुसलिम नेता को निज़ाम सरकार की ओर से पहले पाँचसौ रुपये मिलते थे, फिर किसी वजह से बन्द किये गये। अब फिर वही वज़ीफ़ा मिलने लगा है। इनका यह काम है कि देहली अथवा इधर के अख़बारों में हैदराबाद के विषय में जो कुछ छपे, उसके कटिङ्ग वहाँ पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट में

भेजते रहना। वहाँ कौंसिल में तीन हिन्दू मेम्बर हैं, तीन मुसलमान, तीन अङ्गरेज़, एक ईसाई—इस प्रकार दस मेम्बर हैं। तीन हिन्दू हैं, उनकी तो कुछ चलती ही नहीं, प्रत्युत ऐसे क़ानून पास हो जाते हैं जिनमें हिन्दुओं को ही दबना पड़ता है। मसजिद के सामने बाजा बजने के प्रश्न पर जो नया हुक्म निकला है, वह सबको विदित है। प्रत्येक मसजिद के चारों ओर (चाहे वह छोटी हो अथवा बड़ी हो)—तीन-तीन सौ क़दम तक बाजा नहीं बज सकता। जो हिन्दू मसजिद के पास के तीन सौ क़दम के भीतर रहते हैं, वे नमाज़ के वक्त को छोड़कर बाजा बजा सकते हैं। इस हिसाब से नमाज़ के वक्त ४ से ६॥, ६ से १०॥, १ से २॥, ५ से ६॥, रात्रि को ६ से १०॥ इतने समय में बाजा नहीं बज सकता है। हिन्दुओं को कितनी दिक़्त है—इसका अनुभव मसजिदों के पास रहनेवाले हिन्दू ही कर सकते हैं। अस्तु; इस विषय को यहीं छोड़कर मैं स्वविषय में इतना ही लिखना चाहता हूँ कि 'अर्जुन' में जो मेरे लेख छपे थे, उनमें मैंने संयत भाषा का ही प्रयोग किया था और बहुत थोड़ा लिखा था। वह भी इस लिए लिखा था कि जनता अँधेरे में न रहे। इस झमेले में भविष्य में हैदराबाद मेरे लिए बन्द-सा ही समझिए; क्योंकि पुलिस की पक्की डायरी में नाम चढ़ चुका है।

८—वर्धा में महात्मा जी के दर्शन

साबरमती महात्माजी का व्यापक कार्य-क्षेत्र था तो वर्धा महात्माजी का राज-संन्यास का आश्रम है। इसका अर्थ यह नहीं कि महात्माजी भविष्य में कोई कार्य करेंगे ही नहीं। महात्माजी कार्य करेंगे और खूब करेंगे और असली भारतवर्ष यानी ग्रामों में, जिनकी संख्या सात लक्ष है, दिव्य स्फूर्त्ति का सञ्चार करेंगे।

उस दिन मैं वर्धा में आश्रम देखने गया था। महात्माजी के भी दर्शन हुए। पर, साबरमती के दर्शन व वर्धा के दर्शन में बहुत अन्तर था। महात्मा जी ने देखा कि लोग उनका साथ देते भी हैं और नहीं भी देते—ऐसा साथ नहीं देते जैसा देना चाहिए। महात्माजी ने आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा कि कांग्रेस में उनकी बात आदर-पूर्वक मानी जाती है, पर क्या कारण कि फिर भी कार्य ठीक नहीं होता? हाथ तो उनकी ओर ही उठते हैं, क्या कारण कि हृदय के अनुरूप सत्याग्रह का युद्ध उग्र रूप धारण नहीं करता?

महात्माजी को भान होने लगा कि सत्याग्रह-आन्दोलन के तत्त्व को लोग भली भाँति समझे नहीं अथवा उनमें उतनी सत्य की मात्रा नहीं अथवा न जाने व्यर्थ ही मैं कांग्रेस के सिर पर बोझ सा हो रहा हूँ।

यही विचार उनके मन में घूमते रहे और उसीका परिणाम यह हुआ कि महात्माजी ने अपना मोर्चा बदला। करते क्या? वे तो तनिक भी पीछे नहीं हटना चाहते थे, पर लोग आगे चलने में—उनके सत्य-अहिंसा-सत्याग्रह की व्याख्या समझने में घबराते थे। तब उन्होंने कांग्रेस को उसी जगह छोड़कर, जहाँ तक कि वे उसको अपने साथ खींचकर लाये थे, अपना मोर्चा बदला। बम्बई-कांग्रेस के महाधिवेशन का यही महातत्त्व है।

अब साबरमती का स्थान वर्धा ने लिया है। यद्यपि वर्धा में साबरमती-जैसी चहल-पहल नहीं है, तथापि वहाँ आश्रम की दिव्य शान्ति साबरमती को सी ही है। पहले समस्त भारतवर्ष और समस्त संसार का ध्यान साबरमती की ओर रहता था, अब सबकी टकटकी वर्धा की ओर है।

वर्धा-आश्रम में ग़ज़ब की शान्ति है। आश्रम में प्रवेश करते ही एक विचित्र प्रभाव मन पर पड़ता है। कोई व्यक्ति ख़ाली नहीं मिलेगा, कोई व्यक्ति व्यर्थ की बातें करता हुआ नहीं मिलेगा। सब अपने-अपने काम में घड़ी के काँटे की तरह सन्नद्ध दीख पड़ेंगे। किसीसे जितनी बात पूछो उतना ही उत्तर। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्माजी भी अपने ऊपर अधिक से अधिक नियन्त्रण करते हैं। जब आश्रम के अधिष्ठातृ-देवता की यह दशा है, तब आश्रमवासी जनों का क्या हाल होगा—यह स्वयं अनुमान करने अथवा अपनी आँखों से देखने की बात है। एक क्षण भी कोई व्यर्थ नहीं जाने देता। यहाँ अवन्ध्यकालत्व को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

मैं महात्माजी से दो-तीन मिनट ही मिल सका, किन्तु वैसे आश्रम में एक घण्टा भर रहा और चुपचाप स्थिति देखता रहा। प्राइवेट सेक्रेटरी द्वारा जो पहले से ही मिलने का समय नियत कर लेते हैं, वे ही महात्माजी से मिलने पाते हैं। अचानक कोई जा पहुँचे तो मिलना कठिन है। हाँ, प्रार्थना के समय कोई भी जा सकता है, उस समय मुक्त द्वार रहता है। सम्भवतः महात्माजी जब टहलने जाते अथवा निकलते हैं, तब भी किसीसे मिल-मिला लेते हैं।

इस समय वर्धा में ही ग्राम-सङ्घ का श्रीगणेश हो रहा है। म० गान्धी जब किसी कार्य को हाथ में लेते हैं तो फिर हटना नहीं जानते। सत्याग्रह का द्वार केवल अपने लिए खुला रख छोड़ने में यही तत्व है।

पूना के 'केसरी' में महात्माजी को उद्देश्य करके एक भाव-पूर्ण कविता छपी है। उसका अभिप्राय यह है:—

"राजा अर्थात् सरकार आपकी राजनिष्ठा को समझ सकने में असमर्थ है। सामान्य जन भी आपकी प्रजा-भक्ति समझने में अशक्त हैं। आपकी आत्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा अथवा सत्व-निष्ठा भी समझ में नहीं आ रही है। आप तो आकाश-गङ्गा हैं, अन्तरिक्ष के अत्युच्च वातावरण में उड़नेवाले स्वतन्त्र विहङ्गम हैं। आप इतने ऊँचे उड़ते हैं कि ज़मीन पर खड़े हुए व्यक्तियों को बड़ी कठिनता से नज़र आते हैं। हे महात्मन्! आप अपनी भाव-गङ्गा को वहाँ बहाइए जहाँ मोहिनी राजनीति का प्रवेश न हो, जहाँ छल-कपट-दम्भ न हो और जहाँ दाव-पेंच-कुनीति को स्थान न हो। जहाँ कोई किसी को छूता तक नहीं, उसको छूकर तुम अपना सा कर लेते हो। जहाँ कोई किसीकी बात नहीं सुनता, वहाँ दीन-दुखिया की पुकार सुनकर उसके दुःख को मिटाने का यत्न करते रहते हो। मूक-प्राणियों के दुःखों को भी दूर करने की चेष्टा करते रहते हो। तुम नङ्गे-भूखों की ख़बर लेते हो; जिनके कोई नहीं उनके तुम हो। हे महात्मन्! इस प्रकार संसार में तुम्हारा कार्य-क्षेत्र अपूर्व और अनोखा है।" इत्यादि।

अर्थात्, 'तेरी बात तू ही जाने। हम जैसों की समझ में तो कुछ नहीं आ रहा है।'—यही कवि का भाव है।

महात्माजी चलते-चलते कांग्रेस को एक औषधि दे गये हैं और उनको यह आशा है कि यदि कांग्रेस ने उस औषधि का यथारीति सेवन किया तो उसके सब रोग दूर हो जायँगे। वह औषधि है—'नूतन सङ्गठन'। देखना चाहिए कि उस औषधि से कांग्रेस की प्रवृत्ति में क्या फ़र्क़ पड़ता है।

पञ्चदश गुच्छक

१—सफल पत्रकार कौन है ?

[१]

इस काग़ज़ी युग में ऐसा कौन-सा पढ़ा-लिखा व्यक्ति है जिसका जी प्रेस चलाने, अख़बार निकालने या किसी न किसी रूप में जनता के सामने आने के लिए न चाहता हो ? सोचने में यह कार्य जितना सुलभ प्रतीत होता है उतना ही वह कार्य-रूप में परिणत करने एवं उसमें सफलता प्राप्त करने में कठिन है। पहले प्रेस की ही बात लीजिए। प्रेस के विना तो कुछ हो ही नहीं सकता। कहीं से पैसा मिला अथवा एकत्रित किया, किसी प्रकार प्रेस ख़रीदा, तो पहले तो चाँदी एकत्रित की फिर उससे सीसा ख़रीदा, क्योंकि सब टाइप सीसे के ही होते हैं, फिर उसमें से चाँदी निकालने का सुख-स्वप्न देखा—यह एक विचित्र प्रक्रिया है। प्रतिवर्ष भारतवर्ष में सैकड़ों प्रेस खुलते और बन्द हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके सञ्चालक प्रेस को रसायन-विद्या से अनभिज्ञ रहते हैं—झूठी सम्भावना में प्रेस खोल बैठते हैं। जिसके पास प्रेस ख़रीदने और खोलने के लिए पर्याप्त धन है और जिसमें यदि दो-एक वर्ष काम ठीक न चला तो घाटे को सहन करने की शक्ति है, तो वही आगे भी ठहर सकेगा। जिनके पास पर्याप्त धन भी है, अपना प्रेस भी है और बाहर का काम न भी आवे परन्तु छपाई के लिए घर का ही काफ़ी काम है, तो भी वे सुभीते में रहते हैं।

वे लोग भी आनन्द उठाते हैं जो किसी पूँजीपति का आश्रय लेकर उसीकी छाती पर नाच नाचते रहते हैं; हानि हो तो पूँजीपति की, लाभ हो तो अपना—ऐसा उनका सौदा रहता है। एक धनिक शिकार हाथ से गया, दूसरा पकड़ा—ऐसी उनकी वृत्ति

रहती है। ऐसा सुयोग दुर्योग से नहीं बनता और न सब कोई इस विद्या में पारङ्गत ही होते हैं।

उपर्युक्त बात व्यक्ति-व्यक्तियों की कही गई है। अब रही साझे की बात। इस गुलाम देश में साझे की कम्पनियों में, साझे के प्रेस और इस प्रकार के कार्य्यों में परस्पर शीघ्र ही अविश्वास हो जाता है। एक का धन लगा हो, दूसरा परिश्रम कर रहा हो तो सुन्दरम्, अतिसुन्दरम्। पर प्रायः देखा गया है कि कार्य प्रारम्भ होने के कुछ मास पश्चात् ही परस्पर अविश्वास होने लगता है, फिर अलग होना पड़ता है। बड़ी-बड़ी लिमिटेड संस्थाओं का भी यही हाल है। 'श्री' का मूल है विश्वास और विश्वास, दृढ़ विश्वास एवं दृढ़ अध्यवसायसे क्या-कुछ साध्य नहींहै?

अब लीजिए सम्पादकों की बात। यदि प्रेस भी अपना हो, धन भी हो और स्वयं ही सम्पादक हो तो और बात है; नहीं तो प्रायः पराधीन सम्पादक दुःखी ही रहता है। जिस पत्र की नीति अपने हाथों में न हो उस पत्र का चलाना क्या? वह लेखनी क्या जिससे दूसरा हाथ पकड़कर जो चाहे लिखवा ले? आजकल ऐसे पत्र गिनती के ही हैं, जिनका अपना प्रेस हो और जिनकी नीति केवल सम्पादक पर निर्भर हो। प्रायः प्रतिशत ९७ सम्पादक ऐसे ही हैं जिनकी गर्दन दूसरों के हाथों में रहती है। जब चाहे, जिस प्रकार चाहे मरोड़ दी। धन और मनस्विता का मेल कठिन-सा ही रहता है। मनस्विता जब धन के आधीन रहने लगती है तब उसकी जो दुर्दशा होती है, उसका वर्णन न करना ही अच्छा। आर्य-जगत् में श्री पं० हरिशङ्कर शर्मा कविरत्न भूतपूर्व सम्पादक 'आर्यमित्र' की उज्ज्वल मनस्विता का ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे सम्मुख है।

यदि सम्पादक, प्रबन्धक आदि एक ही उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं और उनकी नीति एक ही होती है तो काम सुचारु रूप से

चलता रहता है। यदि सम्पादक अपने मान-सम्मान को गिरवी रखकर केवल उदर-दरी की पूर्त्ति के लिए स्व-स्वामी के अनुकूल चलता रहता है तो भी एक ढङ्ग से काम अच्छा ही रहता है, पर सम्पादक अपनी शक्ति का नाश कर लेता है।

यह आवश्यक नहीं है कि सफल सम्पादक को अवश्य ही धन मिले। कभी-कभी यश इतना मिल जाता है और एकाध लेख से ही मिलता है कि यदि उस यश के बदले उतने ग्राहक मिल जायँ तो प्रेस का, प्रेस के स्वामी का एवं सम्पादक के कुनबे का भला हो। स्व० श्री पं० बालकृष्ण भट्ट को कौन नहीं जानता? कौन कह सकेगा कि वे सफल सम्पादक नहीं थे? पर जन्म-भर यत्न करने पर भी उनके अपने मासिक पत्र के लिए इतने भी ग्राहक नहीं मिले, जिससे पत्र का व्यय निकल आता। जिन समाचार-पत्रों के सैकड़ों-सहस्रों ग्राहक होते हैं और जो अपने पैरों पर खड़े होते हैं वे सब सफल पत्र हैं—यह भी बात नहीं। सफलता अथवा असफलता ग्राहकों व धन पर निर्भर नहीं, अपितु जिस उद्देश्य से जो समाचार-पत्र प्रवृत्त होता है उस उद्देश्य की पूर्त्ति की मात्रा पर निर्भर है।

इस दृष्टि से कितने सम्पादक सफल हुए हैं, कितने समाचार पत्र सफल हुए हैं—यह ध्यान-पूर्वक विचारने की बात है। आर्ज-कल के अख़बारों पर दृष्टि डालिए और विज्ञापनों को देखिए। क्या यह विज्ञापनों का खेल जिनको पढ़कर किसीकी भी ग्रीवा लज्जा से नीची हो सकती है, यह स्पष्ट नहीं करता कि केवल धन के लालच में गन्दे-गन्दे विज्ञापन छापे जाते हैं—ऐसे विज्ञापन छापे जाते हैं जिनके विषय में सम्पादक स्वयं विश्वास नहीं रखता? एक ओर सम्पादकीय स्तम्भों में नशीली वस्तुओं का ज़ोरदार खण्डन, दूसरी ओर सिगरेटों का विज्ञापन! एक ओर अन्ध-विश्वास का खण्डन, दूसरी ओर ज्योतिषके विज्ञापन!

एक ओर पवित्रता एवं सदाचार के उपदेश, दूसरी ओर 'काम' को नग्नावस्था में दिखलानेवाली औषधियों के विज्ञापन, सिनेमा के चित्र-प्रदर्शन ! जब एकमात्र उद्देश्य ही धन ठहरा फिर इस बात का विचार कहाँ कि पाठक-वर्ग पर इस द्विविध-विरुद्ध प्रवृत्ति का क्या प्रभाव पड़ेगा। समाचार-पत्रों के समाचारों को देखो तो स्तब्ध ही रहना पड़ेगा। व्यभिचार, बदमाशी आदि के समाचार बड़े से बड़े शीर्षक देकर छापे जाते हैं ! इस प्रकार जैसे भी अख़बार बिके, पैसे हाथ में आवें—वही उपाय किया जाता है। कौन कहेगा कि उद्देश्य को तिलाञ्जलि देकर जनतात्मा की कुरुचि अथवा कुवासना को तृप्ति द्वारा धन कमानेवाले पत्रकार सफल पत्रकार हैं ?

वस्तुतः सम्पादक अथवा पत्रकार लोगों का मार्ग-दर्शक है। जब उनको ऊपर का मार्ग नहीं सूझता तब साधारण संसार का मार्ग लेकर ही वे अपना काम करते रहते हैं। धन के प्रलोभन से पत्रकार क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालते ? धन के प्रलोभन से क्या-क्या पक्षपात वे नहीं करते ? पर यह कोई अच्छी पद्धति नहीं है और न ऐसे पत्रकार सफल पत्रकार ही कहला सकते हैं—चाहे उनका अख़बार सहस्रों की संख्या में क्यों न बिकता हो, चाहे उनके पास कितना ही धन क्यों न आता हो। ऐसे पत्रकार अपने पेट का भले ही हित-सम्पादन कर सकें, देश का हित नहीं साध सकते। पत्रकार सदाचारी होना चाहिए, निर्लोभी होना चाहिए और उद्देश्य पर मर-मिटनेवाला होना चाहिए। ऐसा पत्रकार सफल पत्रकार है—चाहे उसके पास धन भले ही न हो, चाहे उसके पत्र के ग्राहक परिमित संख्या में ही क्यों न हों। ऐसे पत्रकार के हाथों में ही नैतिक विजय रहती है।

[२]

पत्रकार जब कभी किसी विषय पर लिखने बैठे तब उसका हृदय ही कह देगा कि वह उसका लेख सफल परिणामदर्शी होगा अथवा नहीं; पर यह तभी हो सकेगा जब कि वह अपनी आत्मा को जनता की आत्मा के साथ मिलाकर लिखने का अभ्यासी हो।

जब सम्पादक अथवा पत्रकार जनता का प्रतिनिधि बनकर लिखने की बात कहता है तब तो वह जनता को छोड़कर नहीं रह सकता। चाहे साक्षात् जनतात्मा के सम्पर्क में आइए, चाहे कल्पना-तरङ्गों द्वारा जनतात्मा से मिलिए, पर मिलना पड़ेगा ज़रूर। ऐसे सम्पादक अथवा पत्रकार ही जनतात्मा में क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं।

क्या ऐसे दृष्टान्त नहीं मिलते कि जनतात्मा के हृदय के साथ हृदय मिलाकर लिखनेवाले महापुरुषों ने दो-चार लेखों में ही देश भर में क्रान्ति मचा दी, देश भर की भ्रान्ति मिटादी और देश भर में शान्ति कर दी ? जो बात सम्पादकों एवं पत्रकारों की है, वही बात कवियों एवं ग्रन्थ-लेखकों की है। ऐसे कवियों की चार पंक्तियों ने देश एवं राष्ट्र का उत्थान किया; देश को पतन से बचाया। ऐसे ग्रन्थ-कर्ता के एक ही ग्रन्थ ने राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिला दी। ऐसे पत्रकार अथवा सम्पादक के एक लेख ने निर्जीव राष्ट्र में प्राण-सञ्चार कर दिया। ऐसे एक नहीं, अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इतिहास ऐसी बातों का साक्षी है। यह सब लेखनी के सदुपयोग पर निर्भर है। जिन्होंने इस लेखनी का मानव जाति के लिए सदुपयोग किया, वे अमर हो गये। जिन्होंने दुरुपयोग किया, स्वार्थ-साधना की, उनकी भी लेखनी कभी-कभी चमकी सही, पर कुछ देर चमककर अन्धकार में न जाने कहाँ विलीन हो गई।

पत्रकार एवं सम्पादक का कार्य पवित्र मङ्गल कार्य है। यह योग्य हाथों में ही होना चाहिए। तभी जनता का कल्याण हो

सकता है। वर्त्तमान पत्रकारों में कई ऐसे दोष हैं जो सर्वथा त्याज्य हैं।

१—वे अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य नहीं करते।

२—समय का ध्यान नहीं रखते।

३—देश-हित की अपेक्षा अपने हित को अधिक महत्व देते हैं और अपने हित के लिए जनता की निर्बलताओं को भड़का-कर उसका दुरुपयोग करते हैं।

४—अपने विषय में वे मिथ्या भ्रम में रहते हैं। अपना परी-क्षण नहीं करते।

५—जनता से दूर रहते हैं; उसमें मिलते-जुलते नहीं।

६—आत्मा को बेचकर लिखते हैं।

७—जिस वातावरण में बैठकर ये लिखते हैं वह इतना दूषित रहता है कि उसमें बैठकर किसीकी भी लेखनी स्वतन्त्र गति से नहीं चल सकती।

अब तो जितने भी समाचार-पत्र हैं वे किसी न किसी दल के पत्र हैं। उनमें उन्हींके दल की नीति प्रधान रहती है। वे पत्र दूसरों की बातों को चाहे जितनी अच्छी हों, कभी भी प्रधानता देकर छाप नहीं सकते। 'लीडर' सुन्दर सम्पादित पत्र है, पर वह कभी भी कांग्रेस की बातों को महत्त्व नहीं देगा। हाँ, काट-छाँटकर छापता रहेगा। अनेक पत्र ऐसे हैं कि जिनकी अपनी नीति है ही नहीं। जैसी हवा देखी, पोठ फेरते गये, रुख़ बदलते गये। वर्त्तमान राजनैतिक वातावरण में भिन्न-भिन्न दलों के पत्र-कार अपनी-अपनी नीति वर्तते हैं तो आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि जिस विदेशी राज्य-पद्धति के अधीन हमारा देश है वह राज्य-पद्धति स्वयं दल-बन्दी पर निर्भर है, इसीलिए हमारे देश के पत्र-कार भी विलायती पत्रकारों को गुरु माने बैठे हैं और उन्हींकी डगर पर चलते-रहते हैं।

इतनी बात सच है कि जिसके पास पत्र नहीं, वह व्यक्ति,

संस्था, समाज, जाति और राष्ट्र मूक ही है। इस वर्त्तमान युग में पत्र के विना काम नहीं चल सकता। पत्रकारों की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई है कि वे चाहें तो आज राष्ट्रों में वैमनस्य डालकर लड़ा दें, लड़ते हुए राष्ट्रों में शान्ति की स्थापना कर दें, किसी भी प्रभावशाली दल को मटियामेट कर दें। किसी राष्ट्र में अनपेक्षित भ्रान्ति फैलाकर उसको किंकर्तव्यविमूढ़ बनाकर चाहें जो करें।

हम तो चाहते हैं कि पत्रकार की यह संस्था युग युग बनी रहे, किन्तु चाहते हैं कि उसका सदुपयोग हो, उससे ठीक-ठीक कार्य हो, वह शान्ति का साधन हो, सत्य-प्रसार का साधन हो, भ्रान्ति का साधन न हो, संसार के अज्ञान निवारण का—उसको शान्ति-सुमति-समृद्धि का आगार बनाने का साधन हो। न कि भ्रान्ति में पड़े हुओं को और भी अधिक उद्भ्रान्त बनाने का साधन बने। न कि अज्ञान में पड़े हुओं का सदैव अज्ञान में ही पड़े रहने का साधन बने। न कि दास्यता की शृङ्खलाओं में जकड़े हुओं को सदैव दास्यता में ही डाले रखने और उनके अज्ञान पर स्वार्थ साधने व मनमाना करने का साधन बने।

हम देख रहे हैं कि समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, साधन-सामग्री और ऐश्वर्य का उपयोग ही आज इसलिए किया जा रहा है कि छोटे-छोटे राष्ट्र एवं व्यक्ति सदैव पद-दलित रहकर दास्य व अज्ञान में सड़ते रहें और बड़े-बड़े राष्ट्र एवं व्यक्ति चौकड़ी बनाकर मौज लूटें। पवित्र पत्रकारों का कर्तव्य है कि इस तिमिरावृत्त दशा में जनता की आँखों में तीव्र अंजन डालें और अन्याय एवं अत्याचार के इस विश्व-व्यापी आक्रमण के विरुद्ध जनता में प्रतिवाद की भावना उत्पन्न करें। इस भावना को उत्पन्न करने, बढ़ाने और उचित दिशा में लगाने में जो पत्रकार जितना सफल होता है, वह उतना ही सफल पत्रकार है। हमारी दृष्टि में पत्रकार की सफलता की यही एकमात्र कसौटी है।

:o:

२—संसार के इतिहास क्या कहते हैं?

अँगरेज़ी की एक कहावत है कि इतिहासों की पुनरावृत्ति होती रहती है अर्थात् इतिहासों के दृष्टान्त पुनः पुनः समय-समय पर जगत् के सम्मुख किसी-न-किसी रूप में आकर जनसमुदाय, जानपद, राष्ट्र, देश, संसार को कुछ स्मरण दिला जाते हैं, कुछ सचेत कर जाते हैं, कुछ सिखा जाते हैं। इसी दृष्टि से संसार के इतिहासों का महत्त्व है, फिर चाहे ऐसे इतिहास वंश-परम्परा से, राष्ट्र-परम्परा से, कर्णोपकर्णिका से आये हों, अथवा इतिहास के पन्नों में श्वेत पत्रों पर कृष्णाक्षरों में लिखे गये हों। यद्यपि सब इतिहास भिन्न-भिन्न वर्ण वाले काग़ज़ों पर कृष्णमसी से ही लिखे गये हैं, मुद्रित हुए हैं, पर उन पन्नों में कृष्णाक्षरों में लिखे गये वाक्य सुवर्णाक्षरों का मूल्य रखते हैं। किसी-किसी इतिहास में लिखे गये वाक्यों का तो मूल्य लगाना ही कठिन है। समस्त पृथ्वी भी मूल्य में दी जाय तो भी उन वाक्यों का, उन वाक्यों में उपवर्णित गम्भीर सत्य तत्त्वों का संसार में क्या कोई मूल्य दे सकता है। इसी दृष्टि से इतिहासों का महत्त्व है।

आज-कल के लोग कहते हैं कि पुराने लोग इतिहास के महत्त्व को जानते न थे, पर यह उनकी भूल है। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास को एक विशेष विद्या में माना गया है और हमारे ऋषि-मुनि जब कभी दृष्टान्त का अवसर आता है तब 'इति-ह-आस' (ऐसा निश्चय से था) 'इति-ह-ऊचुः—वृद्धाः' (ऐसे बड़े-बूढ़े कह गये) ऐसे वाक्यों से ही प्रारम्भ करते देखे गये। किसी

घटना का स्थान, तारीख, सन्, उस घटना से सम्बद्ध महापुरुष अथवा विशिष्ट पुरुषों का नाम-धाम, उनके जीवन की विशेष बातें इत्यादि का उल्लेख इतिहास में आना ठीक ही है, पर असली तत्त्व देखना चाहिए, ये तो ऊपर-ऊपर के छिलके हैं। असली तत्त्व तो वह सत्य है, जो उन बातों से प्रकाशित होता है और संसार में मार्ग-दर्शक का काम देता है। आज-कल स्कूलों-कालेजों में जो इतिहास रटाया जाता है, वह तो छात्रों के विनाश-मात्र का कारण है, वह स्वसंस्कृति के विनाश का कारण है। हमारे इतिहास-पुराण, जैसे भी हैं, जिस रूप में भी मिल रहे हैं, चाहे उनमें कथा–गाथा की भले ही भरमार हो, पर सबमें एक बात पर बल है, सबमें एक बात पर ज़ोर है। वह यह कि 'यतो धर्मः ततो जयः'–जिधर धर्म रहा है, रहेगा, उधर ही जय होगी; 'सत्यमेव जयते नानृतम्'– जिधर सत्य होगा, अधिक सत्य होगा, रहा है, उधर ही जय रही है और रहेगी। यदि इतिहास इस बात को नहीं सिखाता तो फिर उस इतिहास का लाभ ही क्या ? फिर वह इतिहास ही क्या ? हमारा इतना बड़ा महाभारत किन्तु चार श्लोकों में उसका सुन्दर तत्त्व आ जाता है। वे चार श्लोक ये हैं—

माता पितृ सहस्राणि पुत्रदार शतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

संसार में सैकड़ों वार आये-गये, सैकड़ों वार पुत्र-स्त्री, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धवों का सम्पर्क हुआ, ऐसे न जाने कितनी वार हुआ और कितनी वार होगा, कोई ठिकाना है ?

शोकस्थानसहस्राणि दुःखस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ़म् आविशन्ति न पण्डितम्॥

संसार में शोक के अवसर सहस्रों वार आते और जाते हैं, दुःख के प्रसङ्ग सैकड़ों वार आते और जाते हैं; पर तत्त्वदर्शी

पण्डित संसार के तत्त्व पर दृष्टि रखकर घबराता नहीं, मूर्ख ही घबराते रहते हैं।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः जीवो नित्यो सुखदुःखे त्वनित्ये॥

किसी इच्छा, लोभ, भय से मनुष्य को कभी धर्म नहीं छोड़ बैठना चाहिए, कभी कर्त्तव्य से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। धर्म नित्य है, सदैव साथ देनेवाला है, पर वह जिससे बनता है वह साधन-सामग्री अनित्य वस्तु है। जीव नित्य है, पर उसके साथ समय-समय पर चिपटते रहनेवाले सुख-दुःख अनित्य हैं; इसलिए घबराते क्यों हो, कर्त्तव्य-पथ पर अड़े रहो—इतना कहकर अन्त में सौति ऋषि कहते हैं कि:-

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

और कैसा उलटा ज़माना आया, मैं ऊपर हाथ उठा-उठाकर चिल्ला रहा हूँ, कोई सुनता ही नहीं! लोगो! धर्म से ही तुम्हें अर्थ मिलेगा, राज्य मिलेगा, सांसारिक ऐश्वर्य मिलेगा। तुम धर्म पर ही क्यों नहीं आरूढ़ रहते ?

बस महाभारत, इतिहास, पुराण में इसी सत्य पर बल देने के लिए इतना विस्तार किया गया है और यह सत्य त्रिकालाबाधित सत्य है। प्राचीन समय के समस्त इतिहासों का यही सार है, जो अब भी संसार के राष्ट्रों की दशा पर चरितार्थ हो रहा है। अर्वाचीन राष्ट्रों के इतिहास भी हमको कई तत्त्व सिखलाते हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'-इसी तत्त्व को छान्दोग्य उपनिषद् में

'शत ज्ञानिनामेको बली कम्पयते'

'इन शब्दों में कहा है अर्थात् एक डण्डे वाला सौ कोरे

ज्ञानियों को कँपा देता है। यह सत्य है, पर तात्कालिक सत्य है; पारमार्थिक सत्य नहीं। केवल भौतिक बल पर भरोसा रखनेवाले और देवों को समय-समय पर परास्त करनेवाले असुर आख़िर देवों से हारे ही। प्राचीन इतिहास-पुराणों में उपवर्णित देवासुर-संग्रामों के अन्त में देवों की, सात्त्विक वृत्ति वालों की विजय हुई है। अब भी संसार में देवासुर-संग्राम बराबर चल रहे हैं। दीखने को दीख रहा है कि असुर देवों को नचा रहे हैं, दबोचे जा रहे हैं, खाये जा रहे हैं, पर पारमार्थिक सत्य की फिर भी जय होगी। फिर यह भी बात ध्यान रखने की है कि देवों में जब स्वार्थ आने लगता है, तभी वे हारने लगते हैं; नहीं तो वे त्रिकाल में भी हार नहीं सकते। असुर सदा देवों के छिद्र देखते रहते हैं और उसी स्थान में हरा देते हैं। आज-कल संसार के राष्ट्रों व महाराष्ट्रों में वही आसुरी प्रकृति घुसी हुई है और केवल भौतिक बल पर समझ बैठे हैं कि वे सदा संसार को मनमाना नाच नचाते रहेंगे, पर अन्त में देवों की ही विजय होती है और होगी। पारमार्थिक सत्य ही फिर उभरेगा और आसुरी वृत्ति वालों को पाठ पढ़ायेगा। आज संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र देव नीचा देख रहे हैं, दब रहे हैं, नीचे जा रहे हैं, मानो अन्धकार प्रकाश को खाये जा रहा है; पर यदि संसार के देव स्वार्थ-रहित होकर एक साथ जुटकर आसुरी वृत्ति वालों पर आक्रमण करेंगे तो पुनः संसार सुख-शान्ति, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का आगार बनकर संसार का मनुष्य-समाज परस्पर समानता के नाते वर्तने लगेगा और संसार एक रहने का स्वर्ग-मय स्थान बनेगा। अब तो संसार, सब कुछ होते हुए कोरा नरक है—इतिहास यही कह रहा है।

३—देशभक्तों की जाति

मैं एक दिन एक लाला से कांग्रेस का काम करने के लिए कह रहा था, तब उसने सहज स्वभाव से कहा कि, "यह तो आप लोगों का ही काम है, हम लोगों को फ़ुरसत कहाँ ?" उसने यह बात सहज स्वभाव से कही, किन्तु यह बात मुझे बहुत चुभी और सोचने लगा कि क्या यह काम हम लोगों का ही है, और लोगों का नहीं ? देश का काम क्या थोड़े से लोगों का ही है ? देश भर के लोगों का नहीं ? देश भर का दुःख तभी दूर हो सकता है, जब देश भर के लोग मिलकर उसके दूर करने का प्रयत्न करें। मैं तो यह देख रहा हूँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की तरह देशभक्तों की भी एक विशेष जाति बन रही है, जिनका काम यही है कि देश के अनाचार और अत्याचारों को दूर करने का प्रयत्न करना, जनता को सावधान करना, सरकार से लड़ना, जेलों में जाना, फिर बाहर आना, फिर लोगों के उपहास सहना और फिर उन्हीं के लिए मरना। अब तो लोग यही समझ रहे हैं कि देशभक्त जाति के मुट्ठी भर लोग सब कुछ कर लेंगे, यह उन्हींका काम है। कोई घटना हो जाय तो लोग कहने लग जाते हैं कि कांग्रेस क्यों चुप है। पूछने लग जाते हैं कि कांग्रेस वाले क्या कर रहे हैं।

अब सर्वत्र चुनाव-काण्ड की चर्चा है। वैसे तो लोग बड़े बलपूर्वक जाति-पाँति का खण्डन करते हैं, किन्तु जब चुनाव का प्रश्न आता है तो वैश्य वैश्य को वोट देगा; जाट जाट के लिए डटेगा; क्षत्रिय क्षत्रिय के लिए और कायस्थ कायस्थ के लिए, चौहान चौहान के लिए और गूजर गूजर के लिए लड़-मरेगा।

ऐसे मौक़ों पर देशभक्त जाति के उम्मीदवार को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि देशभक्त जाति का उम्मी-

दवार अपने को किसी धर्म-विशेष अथवा प्रचलित जाति-विशेष का प्रतिनिधि नहीं मानता, क्योंकि उसका धर्म 'देशसेवा' ही होता है। देशभक्त जाति के पुरुष का, नर-नारी का यही काम है कि जब कांग्रेस का बिगुल बजे तब कान खड़े कर लेना, सावधान होकर उसकी बातों को सुनना और उसकी आज्ञाओं को पालन करना।

पहले ज़माने में भी जिसने, जिस जाति ने जिस काम को सँभाला, वह व्यक्ति अथवा वह जाति उसी काम की हो गई और आज तक वंश-परम्परा से वही काम चला आ रहा है। इसी प्रकार भारतवर्ष में एक नवीन देशभक्त जाति उत्पन्न हो गई है और जब-जब भारत पर सङ्कट आयेगा शेष लोग रक्षा के लिए उसी देशभक्तों की जाति की ओर दृष्टि डालेंगे।

देशभक्तों की जाति में ब्राह्मण वे हैं जो राष्ट्रोत्थान के लिए नये-नये सिद्धान्तों का आविष्कार करके उनका प्रचार अथवा प्रसार मौखिक अथवा लेख रूप में अथवा ग्रन्थ-निर्माण द्वारा करते हैं। क्षत्रिय वे हैं जो अहिंसात्मक असहयोग द्वारा अत्याचारी क़ानूनों का प्रतिकार करके जेलादि के कष्ट भोगते हैं। वैश्य वे हैं जो हाथों में गज़ लेकर खादी बेचते हैं अथवा फेरी लगाते हैं अथवा फ़ण्ड एकत्रित करके क्षत्रियों की सहायता करते हैं तथा ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार शूद्र भी समझिए। इसी प्रकार पोलिटिकल संन्यासी वे हैं, जिन्होंने देश-कार्य के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है। इस प्रकार पोलिटिकल फ़ील्ड में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संन्यासी, भिक्षु आदि हो ही गये। यह देशभक्तों की जाति जितनी भी बढ़ेगी उतना ही कल्याण है।

जब यह बात है तो इस जाति का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। कोई जाति विद्या-तप के बिना नहीं चमक सकती। इस नई जाति ने अब तक जितना तप तपा है उससे भारतवर्ष में पर्याप्त जागृति हुई है—इसमें सन्देह नहीं; तथापि मुख्य उद्देश्य की

पूर्त्ति के लिए अत्यन्त तप की आवश्यकता है। देश का कोई काम लीजिए, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, उसकी पूर्त्ति में ही जब इतनी शक्ति लगती है, तो इस देशभक्त जाति के सामने जो महानुद्देश्य है उसकी पूर्त्ति के लिए कितनी शक्ति, कितने बल और कितने तप की आवश्यकता होगी—इसका अनुमान विज्ञ वाचक स्वयं लगा सकेंगे।

भगवान् करे इस जाति में सच्ची लगन के, सच्ची धुन के लोगों की संख्या बढ़े—इसमें नक़ली और फ़सली देशभक्तों की संख्या कम होकर असली देशभक्तों की संख्या बढ़े।

कई वार ज़ोर-शोर के आन्दोलन उठे और बड़े वेग से उठे और समय पाकर क्षीण हो गये। कौन्सिलों और असैम्बली के अखाड़ों में कई वार ज़ोर-आज़माई हुई। कई वार आगे बढ़े, कई वार पीछे हटे। युद्धों में प्रायः ऐसा ही होता है। पर बड़े खेद से देखा जा रहा है कि अभी भारत में बहुत अज्ञान शेष है, जिसके दूर किये विना देशभक्तों की यह जाति बहुत आगे नहीं बढ़ सकेगी।

संसार के समस्त दुःखों का मूल अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान है। भारतवासियों को अभी अपनी परिस्थिति अथवा स्वरूप का भली भाँति ज्ञान ही नहीं हो पाया है। स्वयं कुछ करते नहीं, सामग्री जुटाते नहीं, कही हुई बात मानते नहीं, त्याग-तपस्या करते नहीं और समस्त दोष नेताओं अथवा देशभक्तों के सिर मढ़ते रहते हैं! यह तो समस्त देश भर का—राष्ट्र का दुःख है।

'न जानपदिकं दुःखं एकः शोचितुमर्हसि'

यह तो सबका—पैंतीस करोड़ जन-समुदाय का—दुःख है। अकेला-दुकेला नेता अथवा मुट्ठी भर देशभक्त क्या कर लेंगे जब तक कि सब लोग थोड़ा-थोड़ा सहारा नहीं देंगे?

'सोयं व्यायामकालः नोत्सवकालः।'

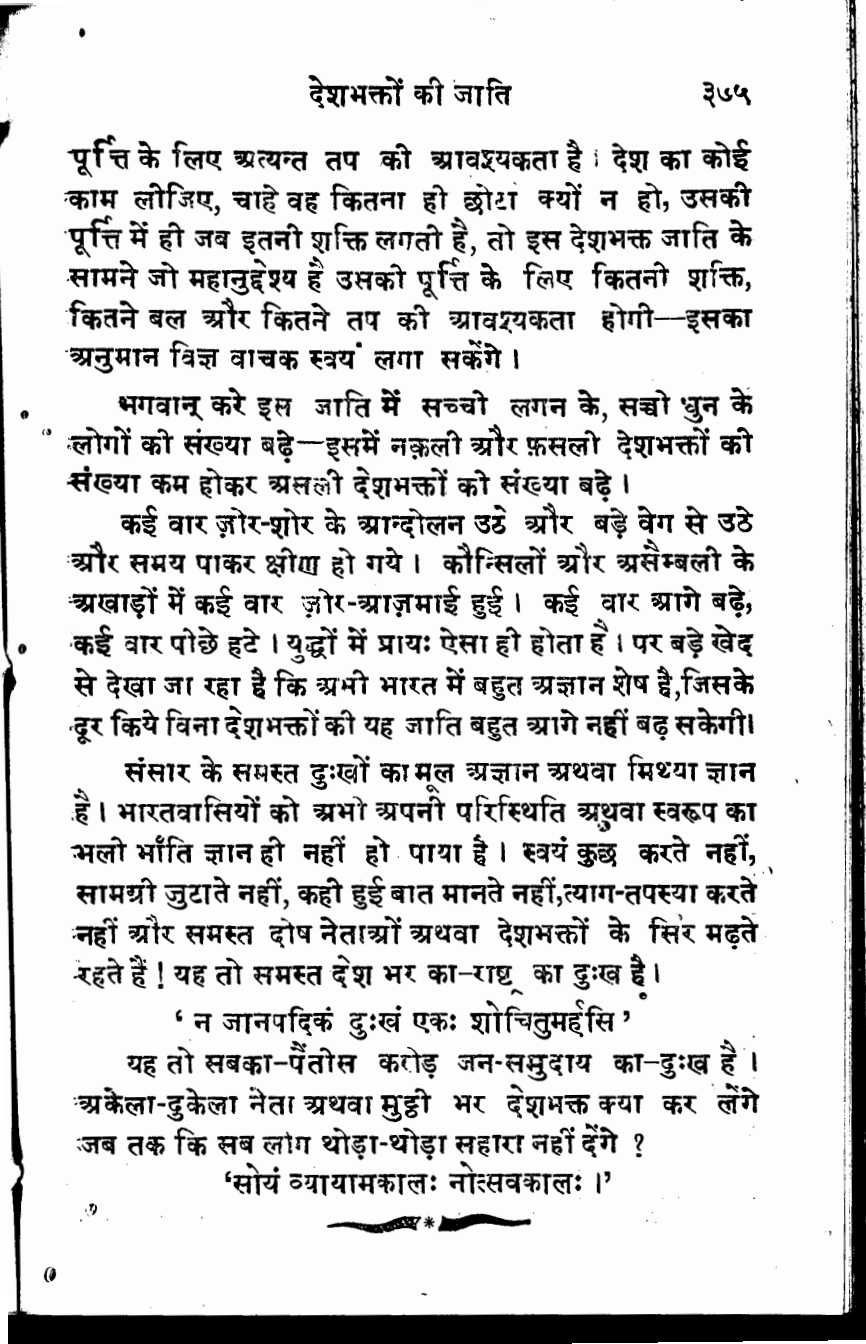

४—हेल हिटलर

[१]

वाचक, यह मैं नहीं कह रहा, जर्मनी में आबाल-वृद्ध की जिह्वा पर यह शब्द चढ़ा हुआ है। जैसे हमारे यहाँ 'बन्देमातरम्' यह राष्ट्रीय भाव-सूचक शिष्टाचार का रिवाज चल पड़ा है, इसी प्रकार जर्मनी में सर्वत्र 'हेल हिटलर' चल पड़ा है। हिटलर जर्मनी का हृदय-सम्राट् है, दैवीशक्ति का द्योतक महापुरुष है। 'हिटलर' व 'स्वस्तिक' के चित्र तावीज़ में रखकर उसको गले में लटकाने अथवा बाँह पर बाँधने का जर्मनीमें मानो फ़ैशन-सा हो गया है।

ठीक ही है, जिस व्यक्ति ने जर्मन राष्ट्र की नाक बचाई, जिस दिव्य स्फूर्त्ति की ज्वलन्त मूर्त्ति ने निराश जर्मन राष्ट्र में प्राण सञ्चार कराकर फिर उसको संसार के महान् राष्ट्रों व शक्तियों की समान पंक्ति में ला-बिठाया, जर्मन राष्ट्र उसको दैवी शक्ति न माने तो और क्या माने ?

जब महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मन राष्ट्र के प्रतिनिधियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध वर्सेलिस की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े, तब कौन जानता था कि समीप भविष्य में एक ऐसे विचक्षण पुरुष का प्रादुर्भाव होगा जो इस सन्धि-पत्र की धज्जियाँ उड़ा देगा ? कौन जानता था कि जर्मनी के एक कोने में केवल सात व्यक्तियों के साथ बैठा हुआ एक नवयुवक कोई ऐसी निगूढ़ मन्त्रणा कर रहा है जिससे जर्मनी में कायापलट हो जायगा ? किसको ख़बर थी कि मज़दूरों के सङ्घों द्वारा अथवा उनकी साधारण क़वायद द्वारा प्रारम्भ किया हुआ उसका कार्य एक महती प्रबल राष्ट्र सेना के रूप में बल पकड़ जायगा ?'

हर हिटलर के यथार्थ समाचार इस देश में नहीं आने पाते। अन्य राष्ट्रों ने उसको हर प्रकार से बदनाम करने का प्रयत्न

किया है। विशेष रूप में यहूदियों के साथ कठोर बर्त्ताव के कारण संसार भर में उसकी तीव्र आलोचना की गई है, पर यहूदियों की मनोवृत्ति को जाननेवाले इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि हर हिटलर का इतना दोष नहीं जितना कि धनलोलुप यहूदी लोगों का। यहूदियों की सदा सर्वत्र व्यापार-बुद्धि की प्रशंसा रही है। बस, यह केवल व्यापार-बुद्धि से प्रभावान्वित होकर ही जिस देश में भी जाते हैं, रहते हैं, बसते हैं, अपना एक निराला ही ढङ्ग रखते हैं। इनकी गृध्र-दृष्टि केवल धन पर ही रहती है। तब अपनी प्रबल महत्त्वाकांक्षा में बाधक सिद्ध होनेवाली इन प्रवृत्तियों को हर हिटलर कैसे सहन कर लेता? ये यहूदी लोग अन्य देशों के माल को लाकर जर्मनी में बेचा करते थे। ये यहूदी अपने समाचारपत्रों को नीति को राष्ट्र के विपरीत रखते थे। ये विदेशियों की सहायता से कभी-कभी अनर्थ कर बैठते थे। ये यह ख़याल किये बैठे थे कि जर्मन जित राष्ट्र है, सब ओर से दबा पड़ा है, हमारा क्या बिगाड़ लेगा। बस, इन्हीं कारणों से हर हिटलर की क्रोधवह्नि प्रज्वलित हो उठी और उसने उग्र रूप पकड़ा। तभी से वहाँ आर्य-अनार्य का प्रश्न उठा; अनार्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध के लिए निषेधाज्ञा प्रचलित हुई; किन-किन गुणों से युक्त कुलों में विवाह होना चाहिए और किन-किन दोषों से युक्त कुलों में नहीं—इसकी पत्रिका प्रचलित हुई। जर्मनी के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न बेकारी का था और हर हिटलर ने अपनी बुद्धिमत्ता से उसको हल किया। उसने जर्मनी के शिक्षणालयों का दृष्टिकोण ही सर्वथा बदल डाला है और अब जर्मनी के शिक्षा-विभाग का राष्ट्र-हित की दृष्टि से सञ्चालन हो रहा है, न कि केवल तत्त्वज्ञानी उत्पन्न करने की मशीन को दृष्टि से। नवयुवकों में सैनिक शिक्षण शिक्षा-विभाग का प्रधान अङ्ग हो गया है।

दर्जे में–सम्मान में किसी राष्ट्र से न्यून रहने की कल्पना तो दूर रही, वह अपने आपको दूसरे नम्बर पर भी रखना, रहना, सुनना भी हतक समझ रहा है। इसीलिए राष्ट्र-सङ्घ से पृथक् हो बैठा है और कह रहा है कि सम्मिलित हूँगा तो अन्य महान् राष्ट्रों के समान हैसियत में आऊँगा। बात करूँगा तो समता की दृष्टि से करूँगा, अन्यथा नहीं। अन्य महान् शक्तियों को चिन्ता सी पड़ गई है कि यदि जर्मन-राष्ट्र इसी प्रकार राष्ट्र-सङ्घ से पृथक् रहकर अपनी शक्ति बढ़ाता रहा तो हम किस खेत की गाजर-मूली रहे? हर हिटलर ने वर्सेलिस की सन्धि-पत्र की धज्जियाँ तो बखेर ही दीं, पर अपनी राष्ट्र-सेना भी इतनी प्रबल कर ली कि अन्य महान् शक्तियों को भी अपनी-अपनी चिन्ता पड़ गई और वे हर प्रकार से जर्मनी को प्रसन्न करके उसको राष्ट्र-सङ्घ में लाने की चिन्ता में हैं। उनको यह भी चिन्ता है कि कहीं हर हिटलर जापान से मिल बैठे तो फिर क्या होगा? वह भी तो राष्ट्र-सङ्घ से रूसा बैठा है और चीन में स्वेच्छापूर्वक ताण्डव नृत्य का अभिनय कर रहा है। इस समय हर हिटलर संसार की महती विभूतियों में से एक दिव्य विभूति है। संसार में जिसको भी एक बार चल जाती है, वह फिर पुज ही जाता है। हिटलर की बात चली, हिटलर अवतारी पुरुष माना जाने लगा। इटली में मुसोलिनी की चल पड़ी थी, वह भी दिव्य महापुरुष मान्य जा रहा है। जिन महापुरुषों द्वारा स्वदेश में, स्वराष्ट्र में प्राण सञ्चरित होकर देश व राष्ट्र ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का आगार हो जाते हैं, सुख-शान्ति-समाधान से रहने लग जाते हैं, उनमें स्वाभिमान की जोती-जागती ज्योति जगमगाने लगती है। उन महापुरुषों को नमस्कार! उनमें भले ही कोई दोष हो, राष्ट्र-हित की चिन्ता में उनसे भले ही कोई अकृत्य हो गया हो,

वह सब राष्ट्रीय हित की दृष्टि से क्षम्य है। हम-जैसे गुलाम देश में पड़े हुए प्रतिक्षण दास्य-शृङ्खलाओं में जकड़े हुए व्यक्तियों को उन महापुरुषों के गुण-दोष-निरूपण का कोई अधिकार नहीं।

[२]

जुलाई १९३५ का 'विशाल-भारत' "फ़ैसिज़्म के कारनामे" से प्रारम्भ हुआ है। इन कारनामों के लेखक हैं 'विशाल-भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी के कनिष्ठ भ्राता श्री रामनारायण चतुर्वेदी एम० ए०। श्री सम्पादक 'विशाल-भारत' ने उस लेख की एक मुद्रित प्रति हमारे पास भेजने की कृपा की है। पहले तो हमारी समझ में नहीं आया था कि यह मुद्रित लेख हमारे पास क्यों भेजा गया। किन्तु समस्त लेख को आद्योपान्त पढ़ जाने के पश्चात् हम इस लेख को भेजने का कारण समझ सके। एक प्रकार से यह लेख मुसोलिनी और हिटलर के प्रशंसकों के लिए करारा उत्तर है। क्योंकि उत्साही लेखक ने हिटलर के अत्याचारों का वर्णन करके हिटलर के प्रशंसकों को कई प्रकार से ललकारा है और पूछा है कि क्या हिटलर का यही आर्यत्व है।

हम यह नहीं कह सकते कि 'अर्जुन' में छपे हमारे 'हेल हिटलर' लेख को पढ़कर उत्तर-रूप में यह लेख लिखा गया है। यह हो सकता है कि प्रशंसनीय लेखक ने हमारा वह लेख पढ़ा हो, इसीलिए अपना मुद्रित लेख हमारे पास भिजवाया है। हम इस कृपा के लिए सम्पादक तथा लेखक महोदय को धन्यवाद देते हैं। श्री रामनारायणजी ने जिन महानुभावों के प्रमाणों के आधार पर हिटलर अथवा नाजियों को अत्याचारी सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है वे लेखक कौनसे भले आदमी हैं और उनके बुजुर्गों के कारनामों का भी कुछ ध्यान है? हम स्वयं जिस सुराज्य में रहते हैं उसके ही कारनामे देखिए। शासकवर्ग के बुजुर्गों

के बुजुर्गों के बुजुर्गों ने क्या-क्या किया—यह भी सोचिए? पाश्चात्य देशों में विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। उसी का कुदरती जवाब स्टैलिन, हिटलर, मुसोलिनी, कमालपाशा, डी वैलेरा हैं। जैसी जिस देश की बीमारी, वैसी ही उस देश की औषधि। सिर पर तो साँप है और साँप की दिव्य औषधियाँ अथवा रामबाण औषधियाँ हिमालय में! ऐसी गति हो गई तो फिर काले नागों से कौन छुटकारा पा सकेगा?

श्रीरामनारायण एम० ए० ने हिटलर के 'माई स्ट्रगल' के आधार पर उसके विचारों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। किन्तु श्रीरामनारायणजी को यह विचारना चाहिए कि हिटलर इन विचारों का क्यों हुआ। स्पष्ट है कि वहाँ के दम्भी साम्राज्य-लोलुप राष्ट्रों ने मिलकर जर्मनी को हीन दशा में पहुँचाने का यत्न किया, इसलिए 'मरता क्या न करता'—इस न्याय से स्वदेश के उद्धारार्थ हिटलर को वैसा बनना पड़ा। आप हिटलर को कहते हैं—हमारे सर होर हिटलर से किस बात में कम हैं? कहीं वह भारत के डिक्टेटर होते तो फिर तमाशा देखते।

हिटलर के प्रतिनिधि डाक्टर रोजनबर्ग ने कहा था कि "हम जर्मनों को भारतीयों के प्रति सहानभूति रखने के लिए कोई वजह नहीं है—उन भारतीयों के प्रति जिन्होंने महायुद्ध में तीन लाख से भी ज़्यादा सिपाही यूरोप को भेजे।"

श्रीरामनारायणजी ने इस उद्धरण को देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जो जर्मन भारतीयों के विषय में ऐसा विचार रखते हैं, उनके साथ, विशेषतः हिटलर और हिटलर के प्रतिनिधियों के साथ, भारतवासी क्यों सहानुभूति करें? उनकी प्रशंसा क्यों करें? मैं कहता हूँ कि भारतीय जैसे गुलमटों को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र प्रशंसा नहीं करेगा—जो स्वयं गुलमटे हैं और अन्यों को भी गुलाम बनाने के लिए यूरोप तक धावे

बोलते रहते हैं। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो वह यूरोप के महाभारत में कभी न पड़ता। मरने देता इन यूरोपवालों को आपस में। भारतवासियों के प्राण इतने सस्ते हो गये हैं कि सौ-पचास रुपये पर जहाँ चाहे ले जाओ और कटवाओ इनके गले भेड़ों के सदृश !

श्री रामनारायणजी को यह अच्छी तरह ज्ञात हो कि केवल 'आर्य' शब्द प्रचलित करने के कारण अथवा 'स्वस्तिक'-चिह्न-युक्त जर्मन-पताका के कारण ही कोई हिटलर का भक्त अथवा प्रशंसक नहीं है, प्रत्युत प्रशंसक इस बात के कारण हैं कि महायुद्ध के पश्चात् जो जर्मन राष्ट्र मृतप्राय हो चुका था, उस राष्ट्र को उसने फिर प्रबल राष्ट्र बनाकर संसार के महाराष्ट्रों की पंक्ति में ला-बिठाया है। ऐसा करने में उसको जो-जो करना पड़ा, वह उसने बेधड़क होकर किया। थोड़े-बहुतों पर अत्याचार हो गये होंगे, पर 'अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक भला' इस दृष्टि से हिटलर ने कुछ व्यक्तियों को बलि दिया तो वह नैतिक दृष्टि से क्षम्य ही है। हिटलर की प्रत्येक बात अथवा सिद्धान्त के हम समर्थक नहीं हैं और न ही भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्श को दृष्टि से हम विचार करना चाहते हैं। हमारा अभिप्राय 'हेल हिटलर' कहने से केवल यह है कि जैसी विकट परिस्थिति थी उसमें से हिटलर ने जर्मन राष्ट्र का उद्धार किया है—इसीलिए हम उसके प्रशंसक हैं।

आज हमें यह नहीं सोचना है कि हिटलर व उसके प्रतिनिधियों अथवा अनुयायियों का साम्यवादियों की ओर क्या रुख है अथवा यहूदियों के साथ क्या बर्ताव है। श्रीरामनारायणजी को ज़रा यह भी सोचना चाहिए कि साम्यवादियों का अपने से मतभेद रखनेवालों के साथ क्या रुख है। यदि हिटलर ने यह कहा कि "जनता का एक आदमी होने के नाते और एक ऐसा व्यक्ति

होने के नाते जो मानवता का मूल्य नैतिक माप के अनुसार आँकता है तथा इन 'पददलित' नामधारी राष्ट्रों की जातीय हीनता को जानते हुए (जैसा कि मैं जानता हूँ) मैं अपनी जाति के भाग्य को इन जातियों के भाग्य के साथ नहीं बाँध सकता।" तो मैं पूछता हूँ कि जब जर्मन राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न सामने हो, तब हिटलर अन्य जातियों के भाग्य के साथ अपनी जाति का भाग्य क्यों बाँधे। जब अपने घर को आग लग गई हो तब सांसारिक बुद्धि वाला पुरुष पहले अपने घर की आग बुझायेगा। श्रीरामनारायणजी को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि राजनीति कोई सन्तों का अखाड़ा नहीं है।

इस समय पाश्चात्य देशों के सम्मुख व्यष्टि व समष्टि के रूप में अनेक विकट प्रश्न उपस्थित हैं। वहाँ की परिस्थिति और शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप वहाँ के तत्त्ववेत्ता अनेक उपाय ढूँढ़ रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं, अनुभव की कढ़ाई में तले जा रहे हैं। वहाँ मज़दूर और पूँजीपति का प्रश्न सबसे जटिल है। हिटलर की प्रशंसा इसी बात में है कि उसने अपने देश में मज़दूरों का प्रश्न सुन्दर रीति से हल किया और ऐसे सुन्दर रूप में हल किया कि वह उनका आराध्य देवता हो गया। उसने पूँजीपतियों को भी नहीं बिगाड़ा।

साम्यवादियों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे केवल किसान और मज़दूरों का ही वर्चस्व रखना चाहते हैं। असली सच्चा साम्यवाद तो वही है जिसमें सब प्रकार के लोग सुख-समाधान से रह सकें और कोई दल किसी दल पर अत्याचार न कर सके। यह क्या बात हुई कि एक दल का अत्याचार तो मिटा, पर दूसरे दल का अत्याचार आरम्भ हो गया? यूरोप का साम्यवाद अभी कढ़ाई में चढ़ा हुआ है, अभी एक घान भी अच्छी तरह उतरने नहीं पाया।

षोड़श गुच्छक

१—देवासुर-संग्राम

[१]

जब से मनुष्य-सृष्टि उत्पन्न हुई है तभी से देवासुर-संग्राम का नाम चला आता है। असुर सदैव देवों के पीछे पड़े रहते हैं। जहाँ ज़रा-सा इनका छेद मिला, दोष देखा कि वहाँ आक्रमण करके देवों को मार भगाते हैं, उनका पीछा करते हैं। देव भी फिर सँभलकर असुरों को परास्त करते हैं। तब असुर कहीं छिप जाते हैं और उनको ढूँढ़ निकालना देवों के लिए कठिन कार्य हो जाता है। चाहे जो हो, देवासुर-संग्राम अत्यन्त पुरातन संग्राम है और सृष्टि के आदि से लेकर बराबर चला आया है और महाप्रलय तक चलेगा। इस देवासुर-संग्राम के इतिहास को देखने से हम कई सत्य सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं।

(१) देव और असुरों में कभी मेल नहीं होता।

(२) देव तभी हारते हैं जब इनमें स्वार्थ की मात्रा आ जाती है; अन्यथा इनको कोई हरा नहीं सकता।

(३) पहले-पहले देव हारते हैं, अन्त में देवों की ही विजय होती है।

(४) देव सीधे-साधे होते हैं, इसलिए असुरों की माया में आ जाते हैं।

(५) असुर मायावी होते हैं और अन्त में इनका मायाजाल टूट जाता है।

(६) वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में अलङ्कार-रूप में देवासुर-संग्राम के वर्णन आये हैं।

(७) पुराण, इतिहास, महाभारत में देवासुर-संग्राम ऐतिहासिक रूप में आये हैं।

(८) जब देवासुर-संग्राम अध्यात्म-रूप में आया है वहाँ सत्त्व, रज, तम गुणों का परस्पर युद्ध समझ लेना चाहिए। वेदों में वृत्रासुर-युद्धादि वर्णन और रूप में आये हैं।

एक वार देवासुर-संग्राम में जब देव परास्त हुए तो देव वेदमन्त्रों में जा छिपे। वहाँ भी असुरों ने देवों को ढूँढ़ निकाला, तब देव वेद-मन्त्रों के स्वरों में जा छिपे। असुरों को स्वरों का ज्ञान नहीं था इसलिए देवों को ढूँढ़ नहीं सके। तब वे निराश लौटे।

इस अलङ्कार में गूढ़ार्थ है और वेदवित् विद्वान् इस पहेली को अच्छी तरह समझते हैं। उपनिषदों में इन्द्रियों और उनकी विविध वृत्तियों को देवासुर-संग्राम के रूप में वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक रूप में दैवी गुणों से युक्त पुरुष अथवा समुदाय देव हैं और आसुरी वृत्ति के प्रतिनिधि असुर हैं।

गीता अध्याय १६ में दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् का यथार्थ दिग्दर्शन है। उसको एक वार समझ लेने से देवासुर-संग्राम समझ में आ जाता है। उसीसे संसार के समस्त युद्धों पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। वह इस प्रकार है—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अक्रोध (४) त्याग (५) शान्ति (६) अपैशुन (७) दया (८) अलोलुपत्व (९) मार्दव (१०) ह्री (११) अचापल (१२) तेज (१३) क्षमा (१४) धृति (१५) शौच (१६) अद्रोह, (१७) नास्तिकमानिता—इन गुणों के प्रतिनिधि देव कहलाते हैं और आसुरी सम्पद् के प्रतिनिधियों में निम्न-लिखित बातें होती हैं—

(१) दम्भ (२) दर्प (३) अभिमान (४) क्रोध (५) पारुष्य (६) अज्ञान (स्व-स्वरूप का)। इन्हीं दो प्रकार के गुणों से (दैवी और आसुरी) युक्त दो प्रकार की सृष्टि होती है और कभी एक वृत्ति वाले प्रबल हो जाते हैं और कभी दूसरी वृत्ति वाले। इन्हीं दो प्रकार की वृत्ति वाले समुदायों का प्रभाव संसार की

शान्ति-सुख, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि पर पड़ता रहता है। आज-कल संसार में आसुरी वृत्ति का प्राबल्य है। केवल भौतिक बल पर भरोसा रखकर वर्तनेवाले असुर और आध्यात्मिक दृष्टि रखकर, लोक-परलोक का ध्यान रखकर न्यायपूर्वक वर्तनेवाले देव हैं। गीता के निम्नलिखित श्लोक पाश्चात्य भौतिक उपासक राष्ट्रों पर अक्षरशः चरितार्थ होते हैं:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

गीता १६ अ०—(७—१७)

भावार्थ--आसुरी वृत्ति में उत्पन्न होनेवालों में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, स्वरूप का अज्ञान होता है अथवा रहता है। उनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान अथवा भान नहीं रहता और न सच्चे अर्थों में शौच, आचार और सत्य ही रहता है। ये लोग संसार को मिथ्या बतलाते हैं, ईश्वर को नहीं मानते हैं और संसार को केवल भोग और ऐश्वर्य की सामग्री समझते हैं। वे आँखें मूँदकर, गर्दन अकड़ाकर संसार को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वे अशुचि, दम्भ, मान, मद में फँसकर दौड़ते रहते हैं किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओं की ओर, और समझ बैठते हैं कि संसार में आने का एक-मात्र उद्देश्य विषय-भोग हैं। इस प्रकार कामी-क्रोधी ये लोग सैकड़ों आशा-पाशों में फँसे रहकर अन्याय से उनकी पूर्त्ति के लिए सचेष्ट रहते हैं। आज मुझे यह मिला, कल मैं वह ले लूँगा; यह तो है ही और भी ले लूँगा; आज मैंने उसको पछाड़ा, कल दूसरों को देखूँगा; मैं ही ईश्वर अर्थात् समर्थ हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, ऐश्वर्यवान् हूँ, मेरे-जैसा और कौन हैं—ऐसा-ऐसा समझ पड़े रहते हैं कामोपभोगों के पीछे।

क्या आज-कल के पाश्चात्य राष्ट्रों की स्थिति ठीक ऐसी नहीं है जैसा कि ऊपर कहा गया है ? जब असुरों के कुदिन आते हैं तब उनमें भी 'मात्स्यन्याय' (बड़ी मछली छोटी को निगलती—उस प्रकार का न्याय) प्रवृत्त होता है।

हमको तो यह दीखता है कि पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास आदि में उपवर्णित देवासुर-संग्रामों की पुनरावृत्ति पाश्चात्य देशों में हो रही है। इस समय देव निर्बल हैं इसीलिए

इन आसुरी वृत्ति वालों का दमन करना अत्यन्त कठिन कार्य हो गया है। जब तक देव प्रबल नहीं होते तब तक आसुरी वृत्ति वालों का साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य चलेगा ही—इस बात में किसीको भ्रम न रहना चाहिए।

[२]

महाभारत में लिखा है कि जब असुरों ने पृथ्वी पर मनुष्य-रूप में जन्म लिया तब देवों ने भी मनुष्यों में जन्म लिया और उन्हींका देवासुर-संग्राम महाभारत के युद्ध-रूप में प्रकट हुआ। पौराणिकों का अवतारवाद भी किसी अंश में इस प्रकार के देवासुर-संग्राम में देवों को सहायता पहुँचाने के निमित्त ही है। ये देवासुर-संग्राम सब देशों में, राष्ट्रों में होते रहते हैं और सब प्रकार की परिस्थितियों में होते रहते हैं। असुरों में सात्विक गुण नहीं होता—यह बात नहीं, उनमें रजोगुण की प्रधानता रहती है। देवों में निरा सात्विक भाव रहता है—यह भी बात नहीं, उनमें सत् की मात्रा अधिक रहती है। तमोगुण रजोगुण के अधीन रहता है, और रजोगुण और तमोगुण सत् के अधीन रहते हैं। इसीलिए रजोगुणी विश्वामित्र परम सात्विक वशिष्ठ को नहीं जीत सके। महात्मा गान्धी के अहिंसात्मक आन्दोलन का मूल इसी वशिष्ठ-विश्वामित्र की कथा में है। जो बात वशिष्ठ और विश्वामित्र में वैयक्तिक रूप में थी, महात्मा गान्धी उसी बात को समष्टि-रूप में लाकर भारत को वशिष्ठ बनाकर यूरोप-रूपी विश्वामित्र को परास्त करना चाहते थे अथवा चाहते हैं। हम यूरोप को विश्वामित्र की उपमा इसलिए देते हैं कि विश्वामित्र की भाँति पाश्चात्य विज्ञानवादी दूसरी सृष्टि की रचना करने की चेष्टा में हैं। उनका सब भरोसा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान द्वारा आविष्कृत शस्त्रास्त्र-सामग्री पर निर्भर है और उसके द्वारा ही वे सदैव 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'—इस सिद्धान्त को रटते रहते हैं

और इसीलिए आसुरी वृत्ति के परम उपासक हो रहे हैं। इसलिए सम्प्रति दैवी सम्पद-विहीन देवों को कुछ नहीं समझ रहे हैं।

यह संसार केवल 'अहंभाव' पर ही निर्भर है। जहाँ 'अहं-भाव' गया उसके लिए तो संसार नष्ट हो गया। समस्त दुःखों का कारण ही 'अहं' है। जन्म-मरण-बन्धन-चक्र का कारण भी 'अहं' है। इस 'अहं' का रजोगुण से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहता है। जब एक ओर 'अहं' रहे और दूसरी ओर 'अनहंकार', तब तो देवासुर-संग्राम को अवसर कम मिलता है अथवा मिलता ही नहीं। वहाँ 'अहं' की चलती ही नहीं, किन्तु जहाँ छोटा 'अहं' बड़े 'अहं' के साथ टकराता है, वहाँ छोटा 'अहं' मरा ही समझिए। जब दो सम-बल 'अहं' आपस में टकराते हैं तब संग्राम बहुत देर तक चलता है और चलता है तब तक बराबर, जब तक एक सर्वथा दब न जाय अथवा नष्ट न हो जाय। यह हुई एक 'अहं' की दूसरे 'अहं' के साथ टकराने की अथवा भिड़न्त की गाथा। किन्तु यदि दोनों ओर असंख्य 'अहं' हों तब उनके भिड़न्त का अनिष्ट परिणाम सोचा भी नहीं जा सकता। फिर संसार में शान्ति-सुख, ऋद्धि-समृद्धि को स्थान कहाँ? फिर न्याय-अन्याय, जन्म-सिद्ध अधिकार की चर्चा को स्थान और अवसर ही कहाँ? महाभारत-युद्ध के समय दुर्योधन को इतना भी विवेक नहीं रहा कि वह पाँच ग्राम देकर पाण्डवों से छुटकारा पा लेता! उसको इतना विवेक भी नहीं रहा कि शान्ति के दूत बनकर आये हुए कृष्ण भगवान् को ही पकड़कर बाँधने की सोचने लगा!

यह बात अच्छी तरह ध्यान रखने की है कि मनुष्य में अथवा मनुष्य-समुदाय में यदि 'अनहंकार' की मात्रा स्व-स्वरूप को भूल जाने के कारण आई हो, नष्ट हो गई हो अथवा तमोगुण के आवरण आ जाने के कारण आई हो तो वह 'अनहंकार' कौड़ी काम का नहीं। वस्तुतः वह 'अनहंकार' ही सुखदायक अथवा

सुखमूलक है अथवा होगा, रहेगा, जो विवेक के पश्चात्, स्वरूप-ज्ञान के पश्चात् हुआ हो। इस समय भारतवर्ष में जो अनहंकार है वह स्मशान-शव के तुल्य निर्जीव है। जब यह स्वरूप को समझेगा—सन्तोष व समाधान का विषय है कि वह स्वप्नावस्था से जागृत अवस्था में आ रहा है—तो पुनरपि दैवी सम्पद् का स्वामी बनकर अपनी ही नहीं अपितु संसार भर को आसुरी वृत्ति को पछाड़ सकेगा। पाश्चात्य जगत् आसुरी वृत्ति के भरोसे पर संसार भर को तुच्छ समझ रहा है, तो पौरस्त्य जगत् में भी उनके 'अहं' से टक्कर देने के लिए जापान का 'अहं' चौकस खड़ा है। और गीता का यह सिद्धान्त—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥'—

'जैसे को तैसा' वेग से उमड़ रहा है। सब गोरे वर्ण वाले 'अहं' एकत्रित होकर गरज रहे हैं तो काले वर्ण वालों के 'अहं' भी अपना जमघट बनाकर गोरे 'अहं' पर टूट पड़ना चाहते हैं। पीत वर्ण वालों का 'अहं' अपनी अलग ही खिचड़ी पकाना चाहता है। इस प्रकार श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, भूरे वर्ण वाले राष्ट्रों व जनपदों के 'अहं' रणक्षेत्र में कूदकर परस्पर संहार करने पर उतर रहे हैं। अब यदि प्राचीन समय की वर्ण-व्यवस्था टूटती जा रही है तो पाश्चात्य देशों में यह नई वर्ण-व्यवस्था चल पड़ी है। उस पुरातन व्यवस्था में यदि गुण-कर्म-स्वभाव का ध्यान रखा जाता था तो इस नई वर्ण-व्यवस्था में केवल स्वदेश व स्व-वर्ण (रङ्ग) का ध्यान रखा जाता है। इनके 'अहं' ने इतना मुँह पसारा है कि ये स्वदेश व स्व-वर्ण से भिन्न प्रदेश व वर्ण वालों को सर्वथा निगल जाना चाहते हैं। श्वेतवर्णी अमेरिका वालों ने रक्तवर्णी समुदाय को (रेड इण्डियनों को) प्रायः नष्ट कर ही डाला है। श्वेतवर्णी इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, इटली ने अफ़रीका के छोटे-छोटे कृष्णवर्णी राष्ट्रों को मुँह में डालना प्रारम्भ किया ही

है। पीतवर्णी जापान ने पीतवर्णी स्वपड़ोसी कोरिया, मंचूरिया को दबा डाला है और चीन को भी दबाने के लिए कमर कस रहा है। श्वेतवर्णी इङ्गलैण्ड कृष्णवर्णी भारत को खग्रास ग्रहण हो रहा है। ये सब आसुरी वृत्ति का परिणाम नहीं तो क्या है? कहाँ 'विश्वबन्धुत्व' की बड़ी-बड़ी बातें एक ओर, और कहाँ भारतवर्ष को अनन्त काल तक दास्यता की शृङ्खला में जकड़ रखने की बात दूसरी ओर ! उधर 'अहं' का यह हाल है तो इधर हमारा 'अहं' सर्वथा नष्ट हो गया है; विवेक के कारण नहीं, स्वरूप-ज्ञान के कारण परब्रह्म में लीन होने के कारण नहीं अपितु अविवेक, अज्ञान, मिथ्याज्ञान के कारण। तब इस 'अहं' के बाज़ार में हमको कौन पूछता है? हमारे पुरातन पूर्वजों में भी 'अहं' था पर वह दैवी सम्पद् के वातावरण में पला हुआ था। इसीलिए वह किसीके अधिकार नहीं छीनता था; किसी दूसरे राष्ट्र को सदैव दास बनाकर रखने को, पददलित करने की उसको चिन्ता नहीं थी; वह दूसरों के राज्यों को छीनकर अपने स्वार्थ-लोलुप साम्राज्य का पेट नहीं भरता था; उसकी वर्ण-व्यवस्था उस उस देश व राष्ट्र के रङ्ग-रूप पर निर्भर नहीं रहती थी। अब तो यह वर्त्तमान आसुरी वृत्ति अत्यन्त निकृष्ट दशा को पहुँच गई है। पुराने असुर धर्म-कर्म करते थे, तप करते थे, सब कुछ था। केवल उनमें एक ही दोष था, वह यह कि वे देवों को सर्वथा नाश करना चाहते थे। ये असुर कैसे कि न आस्तिक हैं, न धर्म को मानते हैं, न लोक-परलोक पर विश्वास है, न कर्म-फल पर विश्वास है, न ईश्वर की न्याय-परायणता पर विश्वास है। सब कुछ स्वयं करना चाहते हैं और स्वेच्छानुसार करना चाहते हैं और केवल ज्ञान-विज्ञान के बल पर मद में आकर नाच रहे हैं और कह रहे हैं—

"कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया"

हमारे-जैसा कौन है? वे संसार में ही सब सुख मान रहे हैं। भौतिक ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझ रहे हैं और उस सुन्दर तत्त्व को सर्वथा भूल रहे हैं जो यह कहता है कि—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः"

वह जो परमात्मा है जिसका नाम 'भूमा' है वही सच्चे सुख का देनेवाला है। उसीको जानना चाहिए। आख़िर यह आसुरी काण्ड कब तक चलेगा? एक दिन वह भी होगा जब यह भी अपने प्राण बचाने के लिए आश्रय ढूँढ़ता फिरेगा।

[३]

(अधिदैव और अधिभूत)

देवासुर-संग्राम कहिए, सुरासर-संग्राम कहिए, है एक ही बात। प्रजापति ने जब सृष्टि उत्पन्न की तब सु = अच्छे अंशों से 'सुर' हुए, वे ही देव कहलाये। असु=बुरे अंशों से जो उत्पन्न हुए वे 'असुर' हैं। दूसरा एक मत है कि जो केवल असु अर्थात् प्राण=बल=भौतिक बल के आधार पर जीवित रहते हैं, संसार में गर्जते हैं, अभिमान में आकर अन्यों को तर्जते हैं, वे ही असुर हैं। जो भौतिक बल-ऐश्वर्य पर भरोसा न रखकर आत्मिक बल से संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं वे हैं देव। जो दान द्वारा, ज्ञानादि-प्रसार द्वारा, स्वगुणों के प्रकाश द्वारा संसार को अच्छे मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा करते हैं, वे देव हैं।

भारतवर्ष में असुरों की कमी नहीं है। दैवी गुणों के प्रतिनिधि हिन्दू हैं, आसुरी गुणों के प्रतिनिधि मुसलमान हैं और हैं हमारे शासकवर्ग और उनके जाति-बन्धु। सत्त्व गुण की चरम सीमा पर हिन्दू बैठे हैं; राजसी घोड़े पर चढ़े श्वेतबन्धु, तामसी माया से आवृत्त हैं मुसलमान-बन्धु। इस प्रकार भारतवर्ष में भी प्रकृति अथवा माया के तीन गुण सत्त्व-रज-तम का एक विचित्र सम्मिश्रण हो रहा है। इनमें भी देवासुर-संग्राम

चलता ही रहता है। एक सहस्र वर्ष की अनवरत दासता और पर-चक्र के कारण हिन्दुओं अथवा आर्यजाति के सत्त्व में प्राण ही नहीं रहा है। श्वेताङ्ग महाप्रभुओं का रजोगुण चरम सीमा को पहुँचकर अब नीचे तमोगुण को ओर घिसट रहा है। हिन्दुओं की तरह दासता के वातावरण में चिरकाल तक रहने से मुसलमानों का रजोगुण तमसाऽऽवृत्त हो रहा है। इसलिए भारतवर्ष में रहते हुए भी इनको अरब-स्थान के स्वप्न दिखलाई पड़ रहे हैं। इधर यह घर की दुर्दशा, उधर पाश्चात्यों की क्रूरता। इसमें से ही किसी मध्य मार्ग से बाहर निकलकर दुःख, क्लेश, सङ्कट, दास्य, दरिद्रता से छुटकारा पाना पड़ेगा। संसार में कौन है जो दुःखों से छुटकारा नहीं चाहता? इन्द्रियों की ज़ोरावरी से छुटकारा पाने के लिए, शरीर के भीतर ही स्थित काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से छुटकारा पानेके लिए कितना देवासुर-संग्राम करना पड़ता है। तब कहीं स्वदेह पर स्वराज्य पाकर मनुष्य स्वाराज्य (मोक्ष) का अधिकारी होता है। यह तो हुई संसार के बन्धनों से छुटकारा पाने की बात; पर ऐसा छुटकारा जिनके नसीब में होता है ऐसे कितने पुरुष होंगे? लक्षों-करोड़ों में एक। अवशेष संसार तो उस प्रकार के मोक्ष को अपेक्षा भौतिक दासता से ही छूटने का प्रयत्न करेगा। उसके लिए पर-राज्य से छुटकारा ही मोक्ष है। उस प्रकार के मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी देवासुर-संग्राम करना पड़ेगा ही क्योंकि दासता में समस्त गुणों का नाश होता है, चाहे वह इन्द्रियों की दासता हो, चाहे वह किसी समाज, समुदाय, जाति अथवा राष्ट्र की दासता हो। भारतवर्ष इसी प्रकार की दासता से छुटकारा पाना चाहता है। जब छुटकारा पाने की इच्छा हुई तो उसके लिए शक्ति-सम्पादन का कार्य अपरिहार्य हो गया है। नख से शिख तक शस्त्रास्त्र-सुसज्जित पाश्चात्य 'अहं' के साथ निस्तेज 'अहं' का टक्कर लेना साधारण व सुलभ बात

नहीं है। उसको तो दिव्य गुणों द्वारा दैवी सम्पद् की प्राप्ति करनी पड़ेगी और देवासुर-संग्राम भी पुराने ठाठ का करना पड़ेगा। भारतवर्ष के दिव्य गुणों का ह्रास परचक्र के कारण हुआ, स्वार्थ के कारण हुआ, अनवरत दासता के कारण हुआ। भारतवर्ष इस बात को अनुभव करने लगा है। अब संसार की परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान उसको हो चला है। जगा तो सही, किन्तु बहुत देर में जगा। उसका यह जगना संसार भर के लिए कल्याणकारी हो। सर्वतोबद्ध भारतवर्ष अब मुमुक्ष बन रहा है, उसमें साधक के लक्षण आ रहे हैं—यह हर्ष की बात है। वह यह अनुभव करने लगा है कि आसुरी वृत्ति को दूर करना उसका परम कर्त्तव्य है। इस आसुरी वृत्ति के दूर किये बिना संसार में कभी शान्ति नहीं विराज सकती, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि टिक नहीं सकती।

अस्तु, देवासुर-संग्राम के इतने लौकिक विवेचन के पश्चात् हम वैदिक देवासुर-संग्राम की ओर आते हैं। वैदिक देवों का मुख्य प्रतिनिधि है इन्द्र और वही प्रायः सब असुरों को परास्त करता रहता है, वही वृत्र के टुकड़े कर डालता है। वही नमुचि को भगाता है। वही शम्बर की माया का भेद जानता है और उसका छेदन कर डालता है। इन्हीं वृत्र, नमुचि, शम्बर आदि-आदि नामों का लौकिक नामों के साथ सादृश्य देखकर ऐतिहासिक पक्ष कहता है कि जब वेदों में इन्द्र-वृत्रासुर के से युद्धों का वर्णन आता है तब वेदों को इतिहास-परक ही मानना चाहिए। किन्तु निरुक्तकार ने इस पक्ष का खण्डन करके वृत्र, शम्बर आदि शब्दों के अर्थ 'मेघ' किये हैं और बतलाया है कि ये तो इन्द्र=मेघों को प्रेरणा करनेवाले, उनको तोड़ने-फोड़ने वाले वायु और वृत्र=मेघ के युद्ध का आलङ्कारिक वर्णन है इत्यादि। इस प्रकार आलङ्कारिक वर्णन-परक अनेक वेदमन्त्र दिखलाये जा सकते हैं—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥
दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वानप तद्ववार॥
अव शम्बरं भेत्

इत्यादि मन्त्र प्रमाण-रूप में दिये जा सकते हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टि में बराबर देवासुर-संग्राम किसी-न-किसी रूप में आया है।

इस मनुष्य के शरीर में ही सत्त्व, रज, तम की स्वाभाविकता के कारण देवासुर-संग्राम होता रहता है—इस बात का अनुभव प्रतिक्षण सब करते ही रहते हैं। इसीलिए योगिजन को भी सत्त्व-संशुद्धि को चरम सीमा तक पहुँचने में भीतर ही भीतर अनेक युद्ध करने पड़ते हैं। संसार में जितने उपद्रव हैं सब रजोगुण अथवा तमोगुण के खेल हैं। जब रजोगुण और तमोगुण प्रबल होकर सत्त्व को दबा डालते हैं तभी क्लेशों का प्रारम्भ होकर मनुष्य वस्तुतः स्व-स्वरूप को नहीं समझने पाता। जब सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबा लेता है तब यथार्थ ज्ञान द्वारा मनुष्य को आनन्द मिलने लगता है।

प्रलय—सत्त्व, रज, तम (साम्यावस्था)

पुरुष-भेद	सब से अधिक	कम	उससे कम
सात्त्विक	सत्त्व	रजोगुण	तमोगुण
राजसी	रजोगुण	सत्त्व	तमोगुण
तामसी	तमोगुण	रजोगुण	सत्त्व (नाम मात्र)

स्वभावतः जिस प्रकृत्ति का पुरुष होगा उसकी प्रवृत्ति उसी प्रकार के कर्मों को ओर जायगी। इसीलिए तीन प्रकार की बुद्धि, तीन प्रकार को श्रद्धा, तीन प्रकार को प्रवृत्ति, तीन प्रकार के कर्म और तीन प्रकार के फल देखे जाते हैं। यदि हम इस विषय का विवेचन करने लगें तो लेख बहुत बढ़ जायगा।

संक्षेप से कहना हो तो कह सकते हैं कि देवासुर-संग्राम सत्त्व-रज-तम इन गुणों का खेल है और यह खेल; व्यष्टि, समष्टि, जनपद, राष्ट्र आदि सभी में देखने को मिलता है। यह देवासुर-संग्राम कभी मिट नहीं सकता, बन्द नहीं हो सकता क्योंकि—

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति निग्रहः किं करिष्यति।'

यह तत्त्व बराबर अपना काम करता रहता है और करता रहेगा।

संसार चाहता है कि संसार से युद्ध-प्रथा उठ जाय तो संसार शान्ति-सुख-समाधान से रह सकेगा, संसार स्वर्ग बन जायगा; किन्तु यह भी नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता; क्योंकि संसार में तीनों गुण रहेंगे और अपनी माया दिखलाते रहेंगे। हाँ, कभी किसी गुण का ज़ोर बढ़ जायगा, कभी किसीका; कभी एक ही गुण सबसे अधिक बल पाकर दूसरे दो गुणों को दबा देगा; कभी दूसरा दूसरे दो गुणों को पछाड़ेगा; कभी तीसरा सब से बढ़ जायगा। तीनों गुणों में से किसी एक गुण को सर्वथा नष्ट करना सर्वथा असम्भव है। योगिजन भी सत्त्वगुण के शिखर पर चढ़कर रजोगुण और तमोगुण के डङ्क को काटकर फेंक देते हैं। फिर वह डङ्क उनको बाधा नहीं पहुँचाते, परन्तु यह बात तो योगिजन की है। योगिजन का संसार से क्या काम? संसार तो त्रिगुणात्मक है। संसारी पुरुष इन गुणों में लिप्त रहते ही हैं, उनमें इतनी शक्ति कहाँ कि तीनों गुणों से ऊपर उठ सकें? इसीलिए देवासुर-संग्राम सदैव बने रहेंगे और इनका बना रहना भी संसार के कल्याण का हेतु है, बोध का हेतु है; इसलिए देवासुर-संग्राम से घबराना नहीं चाहिए। जब ऐसे संग्राम चलें तब देवों का साथ देना चाहिए जिससे असुर परास्त हों और देश, जनपद, राष्ट्र और संसार का कल्याण हो।

२—सभ्यता का आदि केन्द्र

मानव-समाज की सभ्यता का आदि मूल केन्द्र कौनसा भू-भाग रहा होगा, इस विषय में पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों में विप्रतिपत्तियाँ चली आ रही हैं। पाश्चात्य विद्वान् यही मानते चले आ रहे हैं कि वेद आर्यों की तात्कालिक सभ्यता का दिग्दर्शन करानेवाले उच्च कोटि के धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार पौरस्त्य विद्वानों में चिरकाल से यह पक्ष चला आ रहा है कि वैदिक वाङ्मय आर्यों की ऐतिहासिक तथा धार्मिक घटनाओं से परिपूर्ण है। किन्तु, इनमें भी दो भेद हैं। एक वे ऐतिहासिक पक्ष वाले जो वेदों में तथाकथित इतिहास को पुराकल्प का (पूर्वसृष्टि का) मानते हैं, अर्थात् पुराकल्प की, पूर्वसृष्टि की कथाएँ। दूसरे इस पक्ष को नहीं मानते। पौराणिक लोग पुराकल्प के आधार पर ही वेदों की उन तथाकथित गाथाओं अथवा कथाओं को मानते हैं।

वस्तुतः वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और उनका प्रकाश ऋषियों के हृदयों में हुआ, यही पक्ष सबसे प्रबल और सबसे प्राचीन है। मन्वादि महर्षि इसी पक्ष के हैं। निरुक्तकार भी "तद्येनाँस्तप्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्तद्दृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते" इसी पक्ष को मानते हैं। मनु ने तो स्पष्ट कहा है—

अग्निवायरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

अग्नि, वायु, आदित्यादि द्वारा वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। द्वादश अध्याय में स्पष्ट कहा है कि 'अशक्यं चाप्रमेयं च' मनुष्य वेदों को बनाने में असमर्थ है, वह इस प्रकार की रचना रच नहीं सकता।

इस प्रकार उपनिषदों के शब्दों में भी 'यस्य निश्वसितं वेदाः' ईश्वर का निश्वास वेद है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है—इस विषय में 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतःऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि अन्तःस्थ प्रमाण भी मिलते हैं। तो भी पाश्चात्य विद्वान् तथा पाश्चात्य ढङ्ग का

अनुसरण करनेवाले भारतीय विद्वान् वेदों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर इस बात की खोज में लगे रहे हैं कि मानव-समाज की सभ्यता का आदि मूल केन्द्र कौनसा है। पाश्चात्य विद्वान् प्रायः एक मत हैं कि मानव-समाज की सभ्यता का केन्द्र मध्य एशिया रहा है और वहीं से आदि आर्य सब देशों में फैले, कोई भारत की ओर आये, कोई यूरोप (हरिवर्ष) देश की ओर गये। प्रथम-प्रथम इस पक्ष का बड़ा ज़ोर रहा, किन्तु स्व० लोकमान्य तिलक ने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य से एक नवीन आविष्कार किया कि आर्यों की आदि वसति उत्तरध्रुव में थी। तब पाश्चात्य विद्वान् चकित हुए। स्व० प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने लोकमान्य तिलक को लिखा था कि आपकी अद्वितीय कृति 'उत्तरध्रुव में आर्यवसति' ने अन्वेषण तथा अनुसन्धान के लिए एक नया द्वार खोला है।

इस पक्ष को सिद्ध करने के लिए लोकमान्य तिलक ने समस्त पाश्चात्य पद्धति का प्रयोग किया था। इस नये आविष्कार से सर्वत्र एक हलचल मच गई और अन्य भारतीय विद्वान् भी इसकी खोज में डट गये। स्वर्गीय आचार्य पण्डित सामश्रमी फ़ेलो 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बेंगाल' ने लोकमान्य की इस उक्ति का प्रबल खण्डन किया कि आर्य उत्तरध्रुव के निवासी थे। आपने अर्वाचीन समय की भारतीय नदियों और प्रदेशों के मिलते-जुलते नामों के आधार पर यही सिद्ध करने का भरसक उद्योग किया कि आर्य भारत के ही निवासी थे। महाराष्ट्र के विद्वान् श्री पावगी ने भी इसी प्रकार का प्रयत्न किया।

इन सब विद्वानों ने वेदों का गौरव बढ़ाया तो सही किन्तु वेदों को उस स्थान पर लाकर न बिठा सके जहाँ मनु ने बिठाया था। इसका कारण यह है कि इनकी अनुसन्धान-पद्धति केवल पाश्चात्य रङ्ग-ढङ्ग की रही। ये यही मानकर चले कि वेद ऋषियों के बनाये हुए हैं, वेद उनकी भिन्न-भिन्न प्रदेश की यात्रा और सभ्यता

को वर्णन करनेवाले पुस्तक हैं। कोई-कोई इनको ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते हुए भी पुराकल्प का इतिहास मानते चले आये हैं। इनके मत में वेदों में व्यक्ति विशेषों के नाम आते हैं, नदियों और प्रदेशों के नाम आते हैं, वे पुराकल्प के हैं। यही इतिहास परम्परा से चला आया है। प्रमुख वेदभाष्यकार इसी प्रकार का इतिहास मानते थे। अस्तु। हम अर्वाचीन विद्वानों की बात कह रहे थे। इनके अनुसन्धान में एक बड़ी त्रुटि यह है कि वे विदेशी भाषाओं की धातुओं से वैदिक शब्दों का अनुसन्धान करके अनर्थ करते चले आये हैं, जैसे पाश्चात्य विद्वान् 'आर्य'शब्द की व्युत्पत्ति के लिए विदेशी धातु'अर्' अथवा इसी प्रकार की अन्य धातुओं से काम लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि आदि आर्य खेतिहर अर्थात् किसान थे और वर्त्तमान आर्य-सन्तान खेतिहर आर्यों की सन्तान हैं। ये लोग यह बात भूलते हैं कि जब हमारी भाषा में हमारे धातु हैं तो अपनी भाषा की सिद्धि के लिए ग्रीक, लैटिन तथा अन्य भाषाओं की सहायता लेने की क्या आवश्यकता है; और है भी ऐसा करना एक महान् अनर्थ की बात। अब प्रायः समस्त भाषा-शास्त्र-कोविदों का एक मत हो चला है—नहीं, नहीं हो गया है—कि संस्कृत समस्त संसार की भाषाओं की जननी है; संस्कृत अर्थात् देववाणी वेदवाणी से ही उत्पन्न हुई है। तब क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि लैटिन, ग्रीक भाषाओं की धातुओं के बल पर वैदिक वाङ्मय का अनुसन्धान किया जा रहा है? श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालङ्कार ने भी इसी प्रकार का हास्यास्पद प्रयत्न करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आर्यों को सभ्यता का केन्द्र मिश्र देश है, इत्यादि। यदि हम भी संस्कृत धातुओं के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों के साहित्य का अनुसन्धान करें—और ऐसा करने का हमको पूर्ण अधिकार है जब कि पाश्चात्य विद्वान् भी

संस्कृत भाषा को सर्वभाषा-जननी मानते हैं—तो पाश्चात्य विद्वानों को कैसा लगेगा जब कि हम अपने ढङ्ग से साहित्य को तोड़ें-मरोड़ेंगे। पौरस्त्य वाङ्मय का अनुसन्धान पौरस्त्य ढङ्ग से ही होना चाहिए। वेदों में विपाट आदि नदियों का उल्लेख देखकर केवल नाम-सादृश्य से यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि आर्य पञ्जाब के ही आदि निवासी थे—यह बात ऐतिहासिक पक्ष में भले ही ठीक जँचती हो किन्तु यह वैदिक साहित्य को निरुक्ति का प्रकार नहीं। इसी प्रकार नाम-सादृश्य से अफ़ग़ानिस्तान से पञ्जाब तक इक्कीस नदियों के नाम गिनाकर आर्यों को अफ़ग़ानिस्तान से आये हुए बतलाने का प्रयत्न है। जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है तो उसका देश-विशेष, जाति-विशेष, राष्ट्र-विशेष, प्रदेश-विशेष, नदी व पर्वत-विशेष से क्या सम्बन्ध है? महाप्रलय के पश्चात् जो भी भू-भाग जलमय सृष्टि के ऊपर सबसे प्रथम प्रकट हुआ वहीं मनुष्य की सृष्टि हुई, यही मानना पड़ेगा और भूगर्भ-विद्या-विशारद अब यह मानने लगे हैं कि महाप्रलय में से सबसे प्रथम हिमालय और त्रिविष्टप (तिब्बत) का भाग ऊपर आया और वहीं प्रथम-प्रथम मनुष्य-सृष्टि हुई होगी। अगत्या ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश ऋषियों द्वारा वहीं हुआ होगा। अतः मानव-समाज का आदि मूल केन्द्र, सभ्यता का आदि मूल केन्द्र त्रिविष्टप देश है और वहीं से आर्य भिन्न-भिन्न देशों में गये और वर्त्तमान संसार का मानव-समाज उसी आर्य-वंश की परम्परा है। इस दृष्टि से आर्य सभ्यता का आदि केन्द्र त्रिविष्टप देश है। ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं; पाश्चात्य अनुसन्धान-पद्धति से नहीं; अपितु प्राकृतिक रीति से।

३—आर्यसमाज की प्रगति

यह कहते हुए सन्तोष होता है कि आर्यसमाज जिन सिद्धान्तों का प्रचार करता चला आया है, उन सिद्धान्तों को जनता अपनाने लगी है; पर आश्चर्य यह है कि जनता सिद्धान्तों को तो अपनाती जाती है पर अपने को आर्यसमाजी कहलाना पसन्द नहीं करती! इसका कारण क्या है—इसीकी खोज अत्यन्त आवश्यक है। मेरा अपना अनुभव यह है कि आर्यसमाज को तर्क-वितर्क द्वारा लोगों के = परधर्मियों के, मुख बन्द करने की विद्या तो आ गई है पर हृदय को आकर्षण करने की विद्या नहीं आई। तर्क-वितर्क की भी कोई हद होती है। आर्यसमाज के तर्क-वितर्क इतने अधिक बढ़ गये हैं कि वह घर को भी काटने लगे हैं। आर्यसमाज को तर्क-वितर्क-शैली का (जिससे कि अन्य लोग पराश्त हो चले थे) अनुकरण अन्य मतावलम्बी भी करने लगे हैं और वे आर्यसमाज को बुरी तरह काटने भी लगे हैं। आर्यसमाज ने काटना सिखाया; वह काटना उसीके सामने आ रहा है। आर्यसमाज की तर्क-वितर्क की क़ैंची में श्रद्धा के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। यही कारण है कि आर्यसमाज परमतों का मुख भले ही बन्द कर सके वह हृदयों को आकर्षित नहीं कर रहा है। दूसरे शब्दों में, आर्यसमाज जनता के मस्तिष्क पर तो अधिकार कर लेता है पर हृदयों पर अधिकार नहीं। आर्यसमाज में ज़रा किसीको किसी बात पर सन्देह अथवा संशय हो जाय तो उसका सन्देह दूर करना तो अलग रहा सब उसको काट खाने को दौड़ते हैं। धर्म-संशय-निर्णय के लिए स्वतन्त्र निष्पक्ष विद्वानों की समिति होनी चाहिए। वर्त्तमान आर्यसमाज की प्रगति इसीलिए रुक रही है कि विद्या-सभा, धर्म-सभा, राज-सभा इन तीन प्रकार की सभाओं का यथार्थ में अभाव है। वर्त्तमान आर्यसमाज शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार न तो धर्म-सभा है, न विद्या-सभा है, न राज-सभा है। एक सोसाइटी है

जिनका उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु सङ्गठन विचित्र ढङ्ग का है, जिसमें ऐसी विचित्रता है कि ऐसे सङ्गठन में अज्ञ-विज्ञों का बराबर सम्मिश्रण रहता है और अज्ञ-समुदाय विज्ञ-समुदाय को जैसा चाहे नाच नचाता रहता है। ऐसे सङ्गठन में न तो विद्वानों का यथोचित आदर होता है, न और कुछ। विद्वान् लोग भी ऐसे सङ्गठन में बिगड़ जाते हैं। पूज्यपूजा-व्यतिक्रम होता रहता है। फिर बतलाइए आर्यसमाज की प्रगति कैसे हो? आर्यसमाज में समालोचना का कार्य सर्वथा बन्द है। यह कार्य सच्चे सम्पादकों का है, पर सम्पादकों ने भी अपने आपको बेच डाला है, वे भला समालोचना क्या करेंगे? वे जिस दल के पत्र का सम्पादन करते हैं, उसीके गीत उनको गाने पड़ते हैं, भिन्न दलों के पत्र भी "तू कहे न मेरी, मैं कहूँ न तेरी" इस नीति का आश्रय लेकर जहाँ तक हो सके दूसरे दल को नहीं छेड़ते। दुर्भाग्य से दलों में मनमुटाव हो जाय और पत्रों में लिखा-पढ़ी तक की नौबत आ जाय तो राम-रावण के युद्ध का-सा दृश्य एक बार तो जनता के सामने आ ही जाता है। मैं भूलता हूँ राम-रावण के युद्ध का-सा दृश्य नहीं अपितु दो रावणों के युद्ध का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त आर्यसमाज की बागडोर तीन हाथों में चली आ रही है:—१—सरकारी कर्मचारियों के हाथों में; २—वकीलों के हाथों में अथवा ठेकेदारों के हाथों में, इन लोगों को हम नीम सरकारी लोग कहते हैं; ३—ज़मीदारों के हाथों में। इस प्रकार लगाम को कभी कोई किधर से खींचता है और कभी कोई किधर से। परिणाम यह कि आर्यसमाज रूपी घोड़ा बिगड़ गया है। वह अब किसीकी पर्वाह नहीं कर रहा है। जा रहा है सरपट, न जाने किधर? यह भी पता नहीं, कहाँ, किस खड्ड में, जा गिरेगा? गाड़ी के सवार भयभीत हैं और चिल्ला रहे हैं। यह सब इसीलिए है कि

आर्यसमाज तमोगुणमिश्रित रजोगुणी पुरुषों का अखाड़ा बन गया है; इसमें आध्यात्मिकता का एकदम अभाव है। प्रति-दिन सन्ध्या व हवन के समय कई वार 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का पाठ करनेवाले भाई 'ॐ भ्रान्तिः भ्रान्तिः भ्रान्तिः' के चक्कर में पड़े हुए हैं। अब तो फिर एक वार दयानन्द आवें और ऐसे ज़ोर से आवें कि घरवालों की खूब ही ख़बर लेवें तब तो भले ही सुधार हो। पक्के स्वामी के कच्चे अनुयायियों में अब वह दम कहाँ है? संसार का उपकार करने के लिए जितने उग्र त्याग-तपस्या की आवश्यकता है, वह कहाँ है? संन्यासी-मण्डल यदि त्यागी, तपस्वी, निर्लोभ, शान्त, दान्त होता, तो आज आर्य-समाज इस प्रकार हीन अवस्था को न पहुँचता; उसमें इस प्रकार अनधिकार चेष्टा न दिखलाई पड़ती। पर संन्यासियों को तो धनी पुरुषों के इर्द-गिर्द चक्कर काटने में ही परम सन्तोष हो रहा है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्त तो फैलेंगे, काम भी होगा और खूब होगा किन्तु वह आर्यसमाज के नाम से न होगा। अस्तु, अपने राम को क्या, आम खाने से मतलब कि पेड़ गिनने से? दो शब्दों में कहना हो तो मैं लिख अथवा कह सकता हूँ कि स्वामी दयानन्द की विजय हुई; उनके प्रचलित सिद्धान्तों की—पूर्व से ही वेदों में विद्यमान किन्तु भूले-भटके लोगों को फिर से याद दिलाये गये सिद्धान्तों की—विजय हुई, किन्तु आर्यसमाज की हार हो रही है, वह बराबर हार रहा है। लोग कहेंगे कि स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा प्रचारित वैदिक सिद्धान्तों की विजय है तो वह आर्यसमाज की ही विजय है। मेरे भोले भाई! तुम भूलते हो, ज़रा सोच-विचार करो तो मेरे कथन की सत्यता में सन्देह न रहेगा।

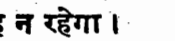

४-आर्यसमाज की शक्ति बढ़ाने का उपाय

आर्यसमाज का अब तक का काल (१) विरोध-काल, (२) प्रचार-काल, (३) सहानुभूति-काल, (४) संस्था-काल, इन चार कालों में बाँटा जा सकता है। जब स्वामी दयानन्द ने प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया तब चहुँओर से उनका इतने ज़ोर का विरोध हुआ कि स्वामी दयानन्द-जैसे शक्तिशाली व्यक्ति ही उसको सँभाल सके। इस विरोध-मिश्रित प्रचार-काल में स्वामीजी ने बड़ा कार्य किया। विरोध दोनों ओर से चला; स्वामीजी ने भी इधर से प्रबल विरोध किया, दूसरी ओर से भी खूब विरोध हुआ।

स्वामीजी के देहावसान के पश्चात् असली प्रचार-कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी अपने समय में प्रायः नगरों में ही आते-जाते रहे। स्वामीजी के पश्चात् आर्य भाई ग्रामों में भी पहुँचने लगे। इस प्रचार-काल में दूसरी ओर से विरोध की मात्रा थी तो सही, किन्तु स्वामीजी के समय की-सी तीव्र मात्रा नहीं थी। इस प्रचार-काल में आर्य्यों की संख्या बढ़ती गई। समाजों की भी संख्या बढ़ती गई। प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हुई और इसके पश्चात् ही जनता की ओर से सहानुभूति-काल का प्रारम्भ हुआ। आर्यसमाज के कार्य को ठोस रूप में परिणत करने के लिए संस्था-काल आया। संस्थाओं से आर्यसमाज की धाक तो सर्वत्र बैठ गई, किन्तु संस्थाओं को चलाने के लिए धन की बड़ी आवश्यकता पड़ने लगी और इस प्रकार आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान धन-संग्रह की ओर अधिक जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि प्रचार-कार्य ढीला पड़ गया, क्योंकि संस्थाधिपतियों का मुख्य काम धन-संग्रह ही हो गया। संस्थाओं के अधिकारी बाहर निकलते तब धन-संग्रह के लिए ही निकलते। किंतु आर्यसमाज के लिए यह संस्था-काल अथवा संस्था-युग

महँगा पड़ा। अस्तु, आज के लेख का अभिप्राय शक्ति-सञ्चय के उपाय बतलाने का है, इसीलिए केवल भूमिका-रूप में उपर्युक्त चारों कालों का निर्देश अपरिहार्य था।

मनुष्य एक समाज का प्राणी है। उसके साथ बोलने-बैठने, खाने-पीने, आमोद-प्रमोद करने के लिए अपने-जैसे प्राणियों की आवश्यकता रहती है। केवल मनुष्य नामक प्राणी की यह गति नहीं, कीट, पशु, पक्षी आदि में भी समुदाय में मिलकर रहने की प्रवृत्ति देखी जाती है, फिर भला बुद्धिमानों में श्रेष्ठ मनुष्य का बिना किसी समुदाय के निर्वाह कैसे हो सकता? पशु-पक्षी आदि के समुदाय का उद्देश्य परिमित रहता है, किन्तु मनुष्य नामक प्राणी का समाज, किसी उच्च उद्देश्य से प्रेरित होकर ही चलना चाहिए। ऐसा न हुआ तो फिर पशु-पक्षी के समुदाय और मनुष्यसमाज में भेद ही क्या रहेगा? जिस सभा, समाज, सोसाइटी में निम्नलिखित बातें नहीं होंगी वहाँ कम मनुष्य टिकेंगे—(१) उसमें अनुरूप मान-सम्मान, (२) उसके जी लगने का साधन, (३) कुछ प्राप्ति चाहे वह ज्ञान की, धन की, किसी प्रकार की भी क्यों न हो, (४) कुछ मानसिक शान्ति, (५) कुछ सत्सङ्ग। इसी प्रकार के अन्य कारण भी हो सकते हैं, जिनसे मनुष्य आकर्षित होकर समाज का एक अङ्ग बन जाता है।

आर्यसमाज धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित हुई समाज है। इसमें जो भी प्रविष्ट होगा इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर होगा। 'धर्म' शब्द व्यापक अर्थ रखता है और 'धर्म' शब्द से यह सबकी धारणा बन गई है कि धर्म से सुख-शान्ति-समृद्धि मिलती है, किन्तु समाज में आने के पश्चात् जब सुख-शान्ति-समृद्धि नहीं मिलती, तब लोग उकता जाते हैं, घबरा जाते हैं और समाज को छोड़ बैठते हैं। (१) आर्यसमाज का सङ्गठन रजोगुणी सङ्गठन है। (२) रजोगुण सदैव प्रकाश व अन्धकार के मिश्रित दृश्य दिखलाता रहता है। (३)

आर्यसामाजिक सङ्गठनमें सत्त्वगुण-विशिष्ट पुरुषों को स्थान नहीं। (४) आर्यसमाज का सङ्गठन धन पर अधिक बल रखता है, धार्मिक बल पर निर्भर नहीं, इत्यादि इत्यादि कारणों से शान्ति-प्रिय सज्जनों को आर्यसमाज में केवल गृह-कलह और वाचालता अथवा वाचाटता के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता।

मेरी समझ में अब आर्यसामाजिक लोग इतना अधिक बोल चुके हैं कि यदि व्याख्यानों को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी जाय तो कोई हानि नहीं होगी। व्याख्यानों के स्थान में धार्मिक ग्रन्थों की कथा हुआ करे तो अच्छा है। अब तो व्याख्यान और बकवाद ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के हो चले हैं। अस्वाभाविक रूप में गला फाड़ना, एक ही विषय में अनेक विषय मिलाकर ऐसी खिचड़ी बना डालना जिसमें एक विषय का भी ठीक-ठीक उपपादन न हो, स्वविषय-प्रतिपादन की अपेक्षा अज्ञ श्रोतृ-समुदाय को कुरुचि को पूर्ण करने की ओर प्रवृत्ति रखना इत्यादि बातें ऐसी हैं जिससे विज्ञजन-समुदाय समाज से ऊब गया है; वह समाज में आत्मा के उठाने की कोई बात नहीं देख रहा है। आर्यसमाज में मेम्बरों की संख्या तभी बढ़ती है, जब दलबन्दी के रूप में कोई झगड़े खड़े होते हैं। ऐसे मेम्बरों की अभिवृद्धि को हम लोग अज्ञान से 'तरक्की' कह बैठते हैं।

अब तो समाज में शक्ति-सञ्चय के दो ही प्रकार हैं। सत्सङ्ग और स्वाध्याय। स्वाध्याय से स्वधर्म-ग्रन्थों का परिज्ञान और सत्सङ्ग से आनन्द मिल सकता है। 'रविवार' का दिन झगड़ालू आर्यसमाजियों के लिए छोड़ देना चाहिए और शेष दिनों में किसी एक दिन अथवा दो दिन प्रति सप्ताह सत्सङ्गाभिलाषी अथवा स्वाध्यायाभिलाषी आर्य भाई मिलकर आनन्द-लाभ उठा सकते हैं। स्वाध्यायादि के लिए पण्डित विद्वान् पुरुषों का संग्रह अत्यावश्यक है। समाज में ऐसे भी पुरुषों की आवश्यकता है जो

स्वधर्म-ग्रन्थों का परिशीलन करें। ऐसा किये विना समाज-रक्षा नहीं हो सकती, तुलनात्मक साहित्य बढ़ नहीं सकता। आर्य-समाज की दुर्बलता का समय देखकर जैनी लोग भी आर्यसमाज के पीछे बुरी तरह पड़े हैं, पर जैन-साहित्य के उत्तम ज्ञाता हमारे यहाँ कितने हैं? बौद्ध दर्शन के विज्ञ कितने हैं? और तो और इस समय राधास्वामी मत जैसे शान्त प्रकृति लोग भी आर्य-समाज के पीछे पड़ रहे हैं। यदि आर्यसमाज व अन्य धर्मावलम्बियों के साहित्य की तुलना की जाय तो मानना पड़ेगा कि वे लोग अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अच्छे साहित्य का निर्माण कर रहे हैं, जैनी लोग तो इस विषय में बाज़ी ले जा रहे हैं।

आर्यसमाजियों को तो इलैक्शन-ज्वर ने ऐसा पछाड़ रखा है कि इनको प्रतिवर्ष के इस इलैक्शन से ही फुरसत नहीं। गृह-कलह के कारण न सत्सङ्ग है और न स्वाध्याय। विद्वानों का कोई आदर नहीं। जो मूर्ख-मण्डली को प्रसन्न करता है, उसी की तूती बोलती है!

आज तक आर्यसमाज की उन्नति इसलिए होती रही कि आर्यसमाज प्रत्येक विषय में जनता के आगे रहा। जनता का स्वभाव ही है कि जो आगे आयेगा उसीके पीछे-पीछे वह चलेगी। अब आर्यसमाज पिछड़ गया, पिछड़कर पीछे चिल्लाता है पर सुनता कौन है? आगेवाला ले जा रहा है सबको अपने पीछे-पीछे।

आर्य भाई इन सब बातों को नहीं समझते या नहीं अनुभव करते, सो यह बात नहीं। सब समझते हैं, सब अनुभव करते हैं, पर रजोगुणी बुद्धि के कारण उनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो रहा है—ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कोई एकदम ऊपर को वेग से उठी हुई वस्तु फिर रसातल में धँस रही है। आर्य भाइयों को इन सब बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए और शीघ्रातिशीघ्र अपने मार्ग पर आना चाहिए।

५—उपाकर्म की महत्ता

'उपाकर्म' आर्यों का, आर्य-संस्कृति के उपासकों का महत्त्व-पूर्ण त्यौहार है—भारतवर्ष में आहिमालयात्, आसेतुबन्धात् मनाया जाता है। यह त्यौहार विशेषतः ब्राह्मणों का अर्थात् शिक्षा-कार्य में प्रसक्त, संलग्न गुरु-शिष्यों का है। श्रावणी पूर्णिमा को बड़े महत्त्वपूर्ण विधि-विधान के साथ ब्राह्मण-समुदाय अर्थात् जिनका पवित्र पुण्य-कार्य शिक्षा-दीक्षा का है यज्ञोपवीत बदलते हैं। दक्षिण में जिस धूम-धाम से यह त्यौहार ब्राह्मणों के यहाँ मनाया जाता है वैसा भारतवर्ष के किसी भू-भाग में नहीं।

सब एक गोत्रवाले ब्राह्मण किसी एक सगोत्रीय के गृह पर एकत्रित होते हैं। वही आचार्य, पुरोहित, कुल-गुरु सबको यज्ञोपवीत दे देता है। पञ्चगव्य प्राशन करता है, उपाकर्म यथासाङ्ग करता है और कर्म-समाप्ति पर सबका भोज होता है। पुरोहित, आचार्य, गुरु, कुल-गुरु को खूब दक्षिणा—श्रद्धापूर्वक—दी जाती है। प्रातःकाल से प्रारम्भ हुआ यह कर्म मध्याह्न दो बजे तक चलता है। श्रावणी पूर्णिमा को यह जो विधि-विधान होता है इसीका नाम धार्मिक अथवा शास्त्रीय परिभाषा में 'उपाकर्म' है। उपाकर्म की एक विशेष पद्धति है। उत्तर भारत में भी प्रचलित है और सनातनधर्मावलम्बी ब्राह्मण बड़े ठाठ से उपाकर्म करते-कराते हैं। ब्राह्मणों के घरों में, बड़े-बड़े जलाशयों के किनारे, तीर्थ-स्थानों में श्रावणी को एक ही आनन्द देखिएगा। प्राचीन समय से यह विधि-विधान चला आता है। इस श्रावणी से लेकर गुरु-शिष्यों के पठन-पाठन-क्रम में परिवर्त्तन हो जाता था। श्रावणीके पश्चात् शुक्ल पक्ष में वेदों का और कृष्ण पक्ष में वेदाङ्गों

का अध्ययनाध्यापन होता था। यह परिवर्त्तन माघ तक रहता, फिर श्रावणी के पूर्व जो क्रम रहता था उसीका उपक्रम होता था। अर्थात् माघ से लेकर श्रावणी तक वेदाध्ययनपर जो विशेष बल दिया जाता था श्रावणी के पश्चात् वेदाङ्गों पर आ पड़ता था। हमारे शास्त्रानुसार अनध्यायों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है, उन्हीं दिनों में अनध्याय रहता था। वर्षा-ऋतु की प्रबलता श्रावण से मानी जाती है। और श्रावणी को—यदि ऋतुचक्र ठीक-ठीक घूमता है तो—वर्षा का पूर्ण बल बढ़ता है और वर्षा-ऋतु का प्रभाव मनुष्य की शारीरिक दशा पर होने लगता है, इसलिए अध्ययनाध्यापन में क्रम बदलना, ढीला करना अपरिहार्य हो जाता है। इन दिनों में पठन-पाठन-क्रम ढीला करके इतिहास, पुराण, नाराशंसी आदि चल पड़ते थे और कथा-प्रसङ्ग द्वारा ज्ञान को विशेष व्यापक अभिवृद्धि होती थी। आज दुर्दैव से वह प्राचीन शिक्षा-पद्धति नहीं रही। प्राचीन शिक्षा-दीक्षा का स्थान नई शिक्षा-दीक्षा ने ले लिया, भला ये उस प्राचीन उपाकर्म-पद्धति की महत्ता को क्या समझें? जिनकी समझ में यज्ञोपवीत एक कच्चा तागा और व्यर्थ का बोझ है वे उपाकर्म की महत्ता क्या जानें और क्या मानें? प्राचीन संस्कृति के उपासक किसी प्रकार षोडश संस्कार, सैकड़ों यज्ञ-याग, अनेक दीक्षाओं के रूप में अपनी संस्कृति की रक्षा किये हुए हैं। इनके सैकड़ों त्यौहारों में इसी पवित्र संस्कृति के अवशेष चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। उन सबकी रक्षा करना आर्य-संस्कृति के उपासकों का परम कर्त्तव्य है। श्रावणी ब्राह्मणों का, विजयादशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का और होली शूद्रों का विशेष त्यौहार माना जाता है, किन्तु सबके त्यौहारों में सब कोई भेद-भाव को छोड़कर सम्मिलित होते और आनन्द-मङ्गल मनाते हैं। प्रत्येक पर्व पर याग-इष्ट आदि प्रचलित है ही, वह सबके हितार्थ है। त्यौहारों में कुछ विकृत भाग

आ गये हैं। उनमें यथार्थ संशोधन करके मूल त्यौहारों, संस्कारों, यज्ञ-यागों, विधि-विधानों की रक्षा होनी चाहिए। हिन्दू-जाति, आर्य-जाति त्यौहार-प्रिय जाति है और इसके त्यौहारों पर दृष्टि डालने से पता चलेगा कि इसके त्यौहार, मनुष्य जाति के स्वभाव पर दृष्टि डालकर रखे गये हैं, अतएव स्वाभाविक हैं।

आज-कल अर्थात् अर्वाचीन समय में 'उपाकर्म' के साथ रक्षा-बन्धन चल पड़ा है, जिसमें राखी बाँधी जाती है। यह भी परस्पर भ्रातृ-भाव और रक्षा का बन्धन उपयोगी है, यदि उस रक्षा-बन्धन के पीछे शक्ति भी हो तो। राखी बाँधते समय यह श्लोक बोला जाता है—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रति बन्धामि रक्षे मा चल मा चल॥

इस श्लोक के लोग नाना अर्थ लगाते हैं। मैं इसको इस प्रकार लगाता हूँ—जिस हेतु महाबली राजा बली के भी राखी बाँधी गई थी, उसी हेतु से, हे भाई, मैं यह राखी तेरे बाँधता हूँ। हे रक्षे (राखी) तू अपने स्थान से च्युत न होना, कभी च्युत न होना।

यदि भारतवासी सचमुच अब भी रक्षाबन्धन के यथार्थ भाव को समझकर परस्पर रक्षा-बन्धन की प्रतिज्ञा करें तो क्या कुछ नहीं हो सकता। यदि प्राचीन शिक्षा-दीक्षा, रीति-नीति-संस्कृति के उपासक 'उपाकर्म' के महत्त्व को समझकर केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से स्वधर्म में संलग्न रहें तो क्या कुछ नहीं हो सकता। आर्य-संस्कृति व धर्म के पालक, पोषक, रक्षक, धारक, अभिवर्द्धक साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य के अभाव में आर्य-संस्कृति के उपासकों की यह हीन दशा हुई तो आश्चर्य ही क्या है? 'क्या कभी यह होगा कि वे दिन फिर नसीब होंगे?' प्रतिध्वनि आ रही है—'क्या कभी यह होगा कि वे दिन फिर नसीब होंगे?'

६—मेधा की अरथी

परमात्मा ने मनुष्य नामक प्राणी में बुद्धि को विशेषता रखी है; किन्तु यह प्राणी कभी ज्ञान-पूर्वक, कभी अज्ञान-पूर्वक, अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता-कराता रहता है, कभी अपनी ही विपरीत बुद्धि द्वारा अपना ही नहीं प्रत्युत अपने साथियों का, अपने समुदाय अथवा समाज का नाश कर डालता है। इसीलिए गायत्री-मन्त्र में "धियो यो नः प्रचोदयात्" की प्रार्थना की गई है जिससे बुद्धि सदसद्-विवेकशालिनी होकर सन्मार्ग बतलाने में समर्थ हो सके। इसीलिए गायत्री-मन्त्र को वेदमाता कहा गया है। वस्तुतः गायत्री-मन्त्र वेदमाता है अर्थात् बुद्धि देने-वाली, बुद्धि बढ़ानेवाली, वेदों में प्रगतिशील विप्रों की बुद्धि को पवित्र तथा तीक्ष्ण बनानेवाली है। इसीलिए एक सुन्दर श्लोक में विदुर जी ने बुद्धि के विषय में इस प्रकार कहा है—

न दैवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥

देव किसीकी रक्षा डण्डा लेकर नहीं किया करते अपितु जिसको रक्षा करनी होती है उसको बुद्धि दे देते हैं और जिसका नाश करना होता है—'बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति' उसकी बुद्धि को खींच लेते हैं। यह श्लोक इतना सरल है कि इस पर अधिक टीका-टिप्पणी की आवश्यकता ही नहीं। श्लोक के सरल होने पर भी इसका भाव अति गम्भीर है।

जब संसार में बुद्धि का इतना महत्त्व है तब उस बुद्धि को पाकर जो लोग उसका दुरुपयोग करते हैं—उनको क्या कहा

जायगा ? ये लोग बुद्धि का सदुपयोग करते-कराते रहते तो इनका भी भला होता और इनकी सोसाइटी या समाज का भी भला होता, किन्तु ऐसे लोगों को तो देवों की मार है इसलिए इनको उलटा ही सूझता है। फिर उलटी बुद्धि का जब उलटा परिणाम निकलता है तब बैठकर रोने और चिल्लाने लगते हैं—

मेरे मन ने मुझको बहुत ही सताया ;
कुसङ्गी किया और कुमारग बताया ।
मुझे झूठी बातों से बहकाके इसने ,
हरेक काम उलटा ही मुझसे कराया।

जब एक बार बुद्धि का नाश हुआ तब रोने-चिल्लाने से क्या हो सकता है ? यह बुद्धि का नाश क्यों होता है ?

षडिन्द्रियेषु देहेषु छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन इनमें किसी इन्द्रिय में किसी प्रकार का छिद्र = दोष = कमी = न्यूनता आ जाय, रह जाय वहीं से पुरुष की बुद्धि झिरने लगती है, वहीं से उसका नाश होने लगता है। जैसे एक मशक में ज़रा-सा छेद हो जाय तो वहीं से धीरे-धीरे एक-एक बूँद करके पानी निकलता जाता है और कुछ काल में मशक ख़ाली हो जाती है। यही बुद्धि की दशा है। इसीलिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन इनसे यथार्थ काम लेना चाहिए ।

'मेधा की अरथी' कहिए–'बुद्धि का दिवाला' कहिए, है एक ही बात। किन्हीं-किन्हीं को मेधा का अजीर्ण हो जाता है तब वे जो भी उलटा देते हैं उसको वातांशी श्वान भी नहीं सूँघ सकते—ऐसा वह विष, गरल, ज़हर होता है। संसार में सदसद्-विवेकशालिनी बुद्धि हो तो सब कुछ है, इसीके बल पर सब कुछ प्राप्त हो सकता है, इसीके आश्रय से असाध्य भी साध्य

बन जाता है। जहाँ बुद्धि नहीं, वहाँ सब कुछ होते हुए भी नष्ट ही है। तीन प्रकार के गुण—सत्त्व, रज, तम हैं। तीन प्रकार की बुद्धियाँ हैं—सात्त्विकी, राजसी, तामसी। तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं—सात्त्विकी, राजसी, तामसी। तीन प्रकार के कर्म हैं—सात्त्विक, राजस, तामस। इसीलिए तीन प्रकार के फल होते हैं—सात्त्विक, राजस, तामस।

स्वभाव से ही जो पुरुष जिस बुद्धि का होगा अर्थात् जिस पुरुषमें सत्त्व,रज,तम में से जिस गुण को प्रधानता होगी वह उसी प्रकार की सात्त्विकी, राजसी, तामसी श्रद्धावाला होगा और

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'

वह अपनी स्वाभाविक श्रद्धानुरूप उसी प्रकार सत्त्व-रज-तम गुण वाले कर्मों में प्रवृत्त होगा और उसी प्रकार के फल को पायेगा। इसीलिए मनुष्य प्रकृति के वश में रहता है।

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।' (गीता)

ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृति के अनुरूप ही चेष्टा करता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है, 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—हे अर्जुन तेरी प्रकृति = तेरा स्वभाव तुझको विवश करेगा और तुझे फिर अस्त्र-शस्त्र उठाने पड़ेंगे। थोड़े समय के लिए तेरी प्रकृति पर आवरण पड़ा है तो क्या, थोड़े समय के लिए तुझमें हृदय-दौर्बल्य आ गया है तो क्या, फिर तुझे वैसा ही बनना पड़ेगा।

हाँ, तो हम मेधा की अरथी की बात कह रहे थे। जब एक पुरुष की, साधारण पुरुष की मेधा की अरथी निकलती है तब उसकी ओर किसीका ध्यान नहीं जाता किन्तु जब विशिष्ट पुरुष की मेधा की अरथी निकलती है तब उस अरथी को देखने के लिए लोग उत्सुकता से दौड़ते हैं और उस अरथी वाले पर तरस खाकर लौट आते हैं। जब समुदाय के समुदाय की मेधा

की अरथी निकलती है तब मेधावान समुदाय उस अरथी का उपहास करके, उसकी खिल्ली उड़ाकर हृदयान्तस्तल में छिपी हुई ईर्ष्या, असूया, मत्सर, दीर्घद्वेष की तृप्ति कर लेता है। बहुत से व्यक्ति, समाज, समुदाय, राष्ट्र, सङ्घ दूसरों की मेधा की अरथी पर ही जीवित रहते हैं। एक व्यक्ति को बुद्धि का दिवाला निकलता है तो दूसरे बुद्धिमान् उससे लाभ उठाते हैं। एक राष्ट्र को बुद्धि का दिवाला निकला कि दूसरे राष्ट्र का काम बना समझिए। लोग बुद्धि की अपेक्षा सांसारिक ऐश्वर्य-भोग-विभूति, साधन-सामग्री को विशेष महत्त्व देते हैं किन्तु पास में बुद्धि न हो तो वह ऐश्वर्य, वह भोग, वह विभूति, वह साधन-सामग्री अथवा साधन-सम्पत्ति किस काम की? केवल धर्मशास्त्र ही बुद्धि की शुद्धि पर बल देते हैं, सो बात नहीं। नीति-शास्त्रकारों की समस्त ऋजु और कुटिल नीतियों का भार बुद्धि की शुद्धि पर निर्भर है। महाभारत में विदुर जो कहते हैं कि—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रीन चतुर्भिः वशे कुरु।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव॥

एक बुद्धि से दो का अर्थात् कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करके तीनों को अर्थात् मित्र, उदासीन, शत्रु को चार से अर्थात् साम, दान, दण्ड, भेद से वश में करो और पाँच को अर्थात् पाँच इन्द्रियों को जीतकर छहों को अर्थात् सन्धि, निग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव जानकर सातों को अर्थात् स्त्रियाँ, द्यूत, मृगया, मद्यपान आदि सात दोषों से बचकर सुखी बनो।

यह राजा के लिए उपदेश है। इसमें भी बुद्धि की शुद्धि पर सब कुछ निर्भर है।

कोई-कोई जान-बूझकर अपनी मेधा की अरथी भरे बाज़ार में निकालते रहते हैं, ऐसों को क्या कहा जाय? एक ओर भरे बाज़ार में मेधा की अरथी निकालते हैं, दूसरी ओर

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

कहकर करुणानिधान भगवान् से मेधा के लिए प्रार्थना करके मेधार्थी बनते हैं ! भगवान् ऐसे मेधार्थियों से प्रसन्न तो क्या होते होंगे, उनके पास जो कुछ थोड़ी-बहुत मेधा की अस्थियाँ बची होंगी उनको भी निकाल लेते होंगे !

मेधा के लिए प्रार्थना करते हो तो मेधा का सदुपयोग करना सीखो; तब तो कुछ बनेगा नहीं तो नष्ट तो हो ही चुके हो। वैद्यों के पास विषों की महौषधि रहती है इसीलिए कोई वैद्य यह कहे कि औषधि तो मेरे पास है विष खाने में क्या हानि है और ऐसा कहकर विष खा बैठे तो उसको कौन विज्ञ पुरुष बुद्धिमान वैद्य कहेगा ? इसी प्रकार मेधार्थी लोग 'हमारे पास दुर्मेधा के साथ-साथ सुमेधा भी है इसलिए दुर्मेधा से काम लेंगे और काम बिगड़ने लगे तो सुमेधा के सहारे बचा लेंगे।'—ऐसा कहने लगें तो यह कोई बुद्धिमता की बात नहीं होगी। समाज, समुदाय, राष्ट्र के अङ्ग-भूत प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी मेधाशक्ति का सदुपयोग करे जिससे उसका तथा उसके समुदाय का भला हो और सुख-प्राप्ति हो।

इतनी विस्तृत भूमिका के पश्चात् हम अपने आर्य भाइयों से व्यक्तिगत रूप में और सम्मिलित समुदाय के रूप में भी स्पष्ट पूछना चाहते हैं कि क्या आप अपनी मेधा का यथार्थ सदुपयोग करते हैं ? प्रार्थना में भगवान् से पूर्व पितरों की सी मेधा को माँगते हैं तब आपके हृदय के भाव तो शुद्ध होते हैं ? आप शून्य हृदय मेधार्थी तो नहीं बनते ?

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनोः यथा वः सुसहासति॥

जब आप इस मन्त्र को पढ़कर भाव प्रकट करते हैं तब भी मेधाशक्ति आपके साथ रहती है कि नहीं ? यदि उपर्युक्त समस्त प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' हो तो मैं पूछता हूँ कि तुम्हारी आँखों के सामने प्रति दिन मेधा की अरथी के दृश्य के दृश्य निकलते रहते हैं उनको तुम कैसे देख लेते हो—यही भारी आश्चर्य है। प्रमाण के लिए कतिपय दृष्टान्त उपस्थित करता हूँ—

(१) स्वामी दयानन्द के अनुयायी कहलाते हुए भी, वैदिक तथा आर्य-संस्कृति के उपासक कहलाते हुए भी, आर्यसमाज में शिखा-सूत्र-विहीनों का एक सम्प्रदाय चल पड़ा है—यह क्या है ? मेधा की डबल अरथी नहीं तो क्या है ? इस पन्थ के अग्रणी अब "न लिङ्गं धर्मकारणम्" का उपदेश कर रहे हैं जो कि चतुर्थाश्रम वालों के लिए है।

(२) आर्यसमाज के उच्छृङ्खल नवयुवकों की ओर से 'मनु को फूँक दो','मनु को जलादो' की आवाज़ उठ रही है—यह क्या है ? स्वामी दयानन्द जिस मनु का इतना आदर करते हैं उसी मनु की ये लोग ऐसी दुर्दशा कर रहे हैं।

(३) इतने वर्षों तक—अर्द्धशताब्दी तक—पचास वर्ष तक—स्वामी दयानन्द के पीछे चलकर अब स्वामी दयानन्द के 'निर्भ्रान्त'-'अनिर्भ्रान्त' होने का प्रश्न उठाया जा रहा है—यह क्या है ? दिङ्मूढ़ लोगों की ओर से यह प्रश्न उठ रहा है—यही आश्चर्य है।

(४) स्वामी दयानन्द के अनुयायी कहलाकर 'हम इसमें यह नहीं मानते, वह नहीं मानते'—यह कहने का तात्पर्य क्या है ? तुम्हें कोई बात नहीं भाती, नहीं रुचती तो भले ही न मानो किन्तु उसमें हठात् परिवर्त्तन करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया ?

(५) चोटी जाय तो जाने दो, शिक्षा जाय तो जाने दो, कोई हानि नहीं, पर 'शर्मा-वर्मा' मत लिखो, इससे समाज का नाश होगा—ऐसा कहने-वालोंकी बुद्धि कहाँ है ? राजा के विना कोई

व्यवस्था नहीं चलेगी-इतनी बात मानकर भी लोग 'यह मत करो, वह मत करो' इत्यादि बातें ऐसे टोन में कहते हैं मानो ये ही आर्य-समाज के बानी, मुबानी हैं, व्यवस्थापक हैं, आचार्य हैं और मानो इनकी बातों को, आदेशों को आज ही कोई माने लेता है। ऐसे एक नहीं, दस-बीस दृष्टान्त दे सकता हूँ पर लेख बहुत बढ़ता जा रहा है। स्थालीपुलाक न्याय से इतने ही से समझ लीजिए।

प्रौढ़ीवाद की भी हद आ गई, अहन्ता की भी पराकाष्ठा हो गई, इस प्रकार मेधा की अरथी निकल रही है तो भी लोग कह ही रहे हैं कि मेधार्थी लोगों में मेधा विद्यमान है।

ब्रह्मदेव ने जब सृष्टि बनाने का काम समाप्त किया तब मसाले के रूप में बहुत सा कङ्करोट, सीमेण्ट आदि बचा रहा। ब्रह्मदेव को चिन्ता हुई कि इस कङ्करोट, सीमेण्ट आदि का क्या किया जाय। बहुत विचार करने पर भी कुछ न सूझ पड़ा तब ब्रह्मदेव के एक बूढ़े मंत्री ने यह सुझाया कि इस मसाले को उन लोगों के दिमाग़ों में ठसाठस भर दीजिए जो मेधाशक्ति से काम नहीं लेते। इस कार्य से भी जो कुछ बचे उसको ऐसे लोगों के कानों में लगाया जाय जो विवेक की बातों को सुनते ही नहीं। फिर भी कुछ मसाला बचे तो ऐसे लोगों के जिह्वा के अग्रभाग में लगाया जाय जो सदैव असम्बद्ध प्रलाप, लेख आदि द्वारा सभा-समाज-समुदाय आदि का अहित करते रहते हैं। ब्रह्मदेव को यह परामर्श अत्यन्त रुचा और उसने ऐसे सब व्यक्तियों को पकड़वाया जिनके मस्तिष्क में मेधा का अभाव था और ठूँस दिया उस पोल में थोड़ा-थोड़ा मसाला। तभी से मनुष्यों में दुर्मेधा लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई। संसार भर की लोक-संख्या के अनुपात से आर्यसमाज के हिस्से में भी ऐसे दस-बीस मसालेदार लोग आये तो आश्चर्य ही क्या है?

धृतराष्ट्र के नीति मंत्री थे संजय. विदुर - कणिक.

७—सञ्जय

महाभारत में सञ्जय का स्थान बड़े मार्के का है। यह सदा धृतराष्ट्र के पास रहता था, उसके मन के संशय निवारण करता था और धर्म-मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को मधुर शब्दों में कहने की शैली या तो विदुर को आती थी अथवा सञ्जय को। जब धृतराष्ट्र को सञ्जय के वाक्यों, उपदेशों तथा नीतिपरक विवेचनाओं से तृप्ति नहीं होती थी तब वह (धृतराष्ट्र) विदुर को बुलवा भेजता था और उससे अपने संशय निवारण करने का प्रयत्न करता था। सञ्जय और विदुर सदैव धृतराष्ट्र को समझाते रहते थे कि पुत्र-मोह में पड़कर धर्म को मत छोड़; जिसका अधिकार है उसको राज्य सौंप दे। विदुर ने यहाँ तक कह डाला था कि दुर्योधन को सर्वथा छोड़ दे, तब तेरा कल्याण होगा। धृतराष्ट्र ने विदुर से स्पष्ट कह दिया था कि क्या करूँ, जब तुम्हारी बातें सुनता हूँ तब तुम्हारी-जैसी मति हो जाती है, पर दुर्योधन से मिलने पर वह बदल जाती है; इसलिए मैं यह मानने लगा हूँ कि प्रारब्ध में ही सब कुछ है, पुरुषार्थ को धिक्कार है। जब धृतराष्ट्र को कूटनीति की बातों के सुनने की इच्छा होती थी, तब वह अपने प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ मन्त्री कणिक को बुलवा भेजता था। यद्यपि सञ्जय और विदुर का प्रभाव धृतराष्ट्र पर था तथापि धृतराष्ट्र मन ही मन में कणिक को विशेष मानता था।

सञ्जय क्या था? अन्धे धृतराष्ट्र की आँखें था। सञ्जय क्या था? धृतराष्ट्र की सहारे की लकड़ी था। सञ्जय क्या था? बार-बार घबरानेवाले धृतराष्ट्र का ढाढस था। इतिहास-पुराण की साक्षात् चलती-फिरती मूर्त्ति था। सञ्जय सरल प्रकृति व सरल नीति का पुरुष था, यथार्थ वक्ता था। जब धृतराष्ट्र उसकी बातों को, नहीं मानता था, तब भी वह उसके पास क्यों रहा?

असली बात यह है कि पुरातन लोग अन्न को अधिक महत्त्व देते रहे हैं। जिसका भी एक वार अन्न खा लिया उसको कभी धोखा नहीं देते थे, विश्वासघात नहीं करते थे, उसका आमरण साथ देते थे। जब स्वामी अन्याय, अधर्म, अत्याचार पर उतरता था तब सच कह देते थे कि वह अनर्थ न करे, अधर्म पर न चले, अत्याचार को बन्द करे। वार-वार कहते थे और स्वामी के साथ ही रहकर अपने प्राण तक दे देते थे। यही बात सञ्जय की थी; यही बात द्रोणाचार्य की, कृपाचार्य की थी; यही बात भीष्म-पितामह की थी। जब भीष्मपितामह से पूछा गया कि अन्यायी-अत्याचारी धृतराष्ट्र, दुर्योधन का साथ क्यों दे रहे हो, तब उसने स्पष्ट कहा कि:—'अर्थस्य पुरुषो दासो दासो अर्थो न कस्यचित्'—पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है, इत्यादि।

महाभारत में एक ही दृष्टान्त ऐसा हुआ है जिसने धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन का साथ छोड़ा और वह पाण्डवों की ओर जा मिला और उधर से लड़ता रहा। उसका नाम है विकर्ण जो धृतराष्ट्र के एक सौ लड़कों में से एक मनस्वी, स्वाभिमानी, तेजस्वी और धर्मभीरु पुत्र था।

अस्तु; महाभारत में सञ्जय एक महत्त्व का पात्र है। उसके सब वचन एकत्रित किये जायँ तो विदुर-नीति की भाँति एक सञ्जय-नीति भी बन सकती है। महाभारत में भगवान् व्यास ने सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी थी जिसके बल पर सञ्जय महायुद्ध के सब समाचार जानकर धृतराष्ट्र को बतलाया करता था। सञ्जय धृतराष्ट्र का रूटर था, संवाददाता था, न्यूज़-एजेन्सी था, अशोशियेटेड का प्रतिनिधि था, फ्री प्रेस का सदानन्द था, यूनाइटेड प्रेस का भूत था। आज-कल ऐसे संवाददाता कहाँ हैं? अस्तु, यह बात तो पूछने को रह ही गई कि देहली का काग़ज़ 'सञ्जय' किस धृतराष्ट्र का संवाददाता है, सहचारी है?

८—स्वामी श्रद्धानन्द का सन्देश

स्वामी श्रद्धानन्द का मिशन एक स्वार्थत्याग का मिशन था। उनमें निर्भयता, उद्देश्य-प्रियता, कार्य-दक्षता इत्यादि गुण ओत-प्रोत थे। जब पञ्जाब में सबसे पूर्व उनका प्रकाश हुआ था तब वहाँ दो दल हो गये थे। महात्मा पार्टी का नेतृत्व महात्मा मुन्शी-राम निभा रहे थे, इसीलिए महात्मा-पार्टी जीवित रह सकी। उस समय महात्मा मुन्शीराम अपनी सत्य-प्रियता, धर्म-परा-यणता, सरलता आदि के लिए विख्यात थे। जब आर्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब ने गुरुकुल की रीति पर एक प्राचीन शिक्षणालय खोलने का निश्चय किया तब महात्मा-दल की शक्ति द्विगुणित हो गई। महात्मा मुन्शीरामजी ने प्रतिज्ञा की कि जब तक वे तीस सहस्र रुपया गुरुकुल के लिए एकत्रित नहीं कर लेंगे तब तक जालन्धर अर्थात् अपने घर लौटेंगे नहीं। महात्मा मुन्शीरामजी ने उत्तरी भारत में सब जगह भ्रमण किया, हैदराबाद-दक्षिण तक भी पहुँचे। भगवान् की कृपा से प्रतिज्ञा पूरी हुई। पञ्जाब के मुन्शीराम अब उत्तरीय भारत के मुन्शीराम हो गये। गुरुकुल के खुलने के पश्चात् महात्मा मुन्शीरामजी की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। उनके जीवन भर के परिश्रम का फल—गुरुकुल भारतवर्ष के सम्मुख है। अब तो जगह-जगह गुरुकुल हैं, महाविद्यालय हैं और प्राचीन संस्कृत व संस्कृति के उद्धार का प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं। महात्मा मुन्शीराम ने अपना तन, मन, धन सब अपनी प्रिय संस्था के लिए लगा दिया।

जब आप संन्यास-दीक्षा लेकर भारतीय जनता के सम्मुख आये तब आप सर्वभारतीय बन गये। उनके कतिपय विशिष्ट गुण जो आर्यसमाज के सङ्कुचित वातावरण के कारण विकसित न हो सकते थे, अब जनता के सम्मुख विकसित रूप में आये। वे पार्टीबन्दी के ऊपर उठे हुए सचमुच महात्मा थे इसीलिए

सर्वप्रिय हो गये थे और सब क्षेत्रों में डटकर काम करते थे। जिस क्षेत्र में पहुँचते सबसे पहले पहुँचते और सबसे आगे रहते। क्या कांग्रेस, क्या हिन्दू-सभा, क्या सार्वदेशिक सभा, क्या शुद्धि-सभा, क्या अछूतोद्धार, जिधर ही कमज़ोरी देखते उधर ही पहुँचकर ऐसा काम करते कि जनता मुग्ध हो जाती। मुसलमानों की बेसमझी व देहली की दुर्घटना के कारण उनको हिन्दू नेता होने की जो ख्याति प्राप्त हुई वह उस समय के भारत-वर्ष के गृह-कलह की स्थिति के कारण ही हुई। वस्तुतः उस प्रकार की स्थिति से स्वामी श्रद्धानन्द जी के कतिपय दिव्य गुणों पर आवरण-सा पड़ गया। इसमें दोष आर्यसमाज का है क्योंकि उसने ही स्वामीजी के सर्वभारतीय स्वरूप को उज्ज्वल नहीं होने दिया। वस्तुतः स्वामीजी सर्वभारतीय नेता बन चुके थे—वे किसी दल, पक्ष, धर्म, सम्प्रदाय के नहीं रहे थे। उस दिव्य शक्ति का आभास उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् मिला। आर्यसमाज ने अपनी सङ्कुचित वृत्ति से सिद्ध कर दिया कि उनके नेता सर्व-भारतीय नेता नहीं हो सकते। यदि कोई शक्तिशाली पुरुष सङ्कुचित क्षेत्र से निकलकर व्यापक क्षेत्र में आ जाता है, तो फिर भी आर्यसामाजिक लोग उस पुरुष का पीछा नहीं छोड़ते।

लेखक को महात्मा मुन्शीराम व स्वामी श्रद्धानन्दजी के साथ रहने व काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ऐसे धीर, वीर, त्यागी, तपस्वी, मानी नेता के पास जिसने भी निवास किया वही उसकी महत्ता को समझ सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द का मिशन है निर्बलकी सहायता का, निर्बल को सबल के अत्याचारों से बचाने का, उदार व्यापक भाव का, प्राचीन संस्कृति व सभ्यता का, देश व धर्म के लिए मर मिटने का, आत्मोद्धार का और निस्तेज भारत को सतेज बनाने का। जिसने उनके मनोभाव को अच्छी तरह समझा है वह उनके मिशन में सर्वात्मना सहायक ही रहेगा।

९–'पशु-बलिदान'

[समालोचना]

शीर्षोक्त नाम से ३२ पृष्ठ की एक पुस्तिका महामना मालवीयजी ने विद्वज्जनों के विचारार्थ तैयार कराई है, जिसे पशु-बलि-निरोध-समिति कलकत्ता ने प्रकाशित किया है। इस पुस्तिका में महामना मालवीयजी के विचारों का संग्रह है और संग्राहक हैं पण्डित होरावल्लभ शास्त्री। पुस्तिका भारतीय विद्वानों के पास भेजी जा रही है जिससे कि वे अपने अभिप्राय प्रकट करें। यह पुस्तिका जिस परिस्थिति में प्रकाशित की गई है उसके कारण इसको बहुत महत्त्व प्राप्त हो गया है। महामना मालवीय जी ने श्री रामचन्द्र शर्मा से कलकत्ते में प्रतिज्ञा की है कि वे पशु-बलि-विरोध के लिए भरसक यत्न करेंगे। उस प्रतिज्ञा का यह प्रथम फल है।

पुस्तिका में यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि यज्ञ-काल में पशु-बलि की प्रथा थी तथापि यह आवश्यक नहीं था कि पशु की बलि चढ़ायी जाय, पशु-बलि का काम अन्य द्रव्यों से चलाये जाने की बात भी यज्ञ-याग-पद्धतियों में मिलती है। फिर यज्ञ भी सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार के होते थे और उनमें सर्व-श्रेष्ठ हिंसा-शून्य सात्त्विक यज्ञ माना जाता था। जैसे 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०—२५) की टीका में जपयज्ञ द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि 'हिंसादि दोषशून्यत्वेन' (मधुसूदनी टीका)—उसमें हिंसादि दोष नहीं होते।

'जपयज्ञस्य यज्ञान्तरेभ्यो हिंसादिराहित्येन प्राधान्यम्।'
(आनन्दगिरि टीका)

'हिंसादि न होने के कारण जपयज्ञ अन्य यज्ञों से प्रधान हैं।'

'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।' (मनु)

'विधियज्ञ से जपयज्ञ का फल दस गुना है।'

भागवत में तो स्पष्ट कहा है कि 'केवल यज्ञ से ही यज्ञीय पशु-बध-सम्बन्धी पाप किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता। जैसे कीचड़ से कीचड़ साफ़ नहीं हो सकता, मद्य से मद्य की सफ़ाई नहीं हो सकती, उसी प्रकार भूत-हत्या के पाप यज्ञ से दूर नहीं हो सकते।'

यथापङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवेकां न यज्ञैर्माष्टुमर्हति॥

मनु ने (१०—६६) अजादि पशु-घात को सङ्करीकरण पाप बतलाया है और (१२—१२५) में चान्द्रायण रूप में उसका प्रायश्चित्त बतलाया है। तैत्तिरीय श्रुति में आया है कि यज्ञ में मारे जानेवाले पशु को देखकर अध्वर्यु मुख फेर लेता है। यदि पशु-बलि में पाप नहीं होता तो वह अपना मुख क्यों फेर लेता? ऋत्विजों के लिए प्रायश्चित्त भी बतलाया गया है—

'याजयित्त्वा प्रतिगृह्य अनश्नन् त्रिः स्वाध्यायमधीयीत।'

इस प्रकार पशु-हिंसा-युक्त यज्ञ कराकर और प्रतिग्रह लेकर ऋत्विजों को चाहिए कि प्रायश्चित्त रूप में तीन उपवास रखें और उपवास-काल में स्वाध्याय में संलग्न रहें।

प्रायश्चित्त रूपमें इस प्रकार के मन्त्र भी मिलते हैं—

यत्पशुर्मायुपकृतोरोवा पद्भिराहते अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वहंसा॥

महाभारत में मोक्ष-धर्म के २७ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में यह वर्णन आया है कि—

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्मात् हिंसा न यज्ञिया॥

शुद्ध चरु आदि से यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण ने स्वशापविमो-

चनार्थी किसी मृग को उसकी प्रार्थना करने पर यज्ञीय अग्नि में डाला तो उस समय उस ब्राह्मण का तप नष्ट हो गया।

इससे सिद्ध है कि यज्ञ की हिंसा भी धर्मसङ्गत नहीं होती।

श्री नागेश भट्ट ने तिङर्थनिरूपण में स्पष्ट लिखा है कि कोई भी पशुबलि हो वह हिंसा अवश्य है और उसमें पाप भी अवश्य है। आलम्भन का अर्थ हवन नहीं किन्तु स्पर्श है। 'आलम्भनमत्र स्पर्शः'। यज्ञीय हिंसा में पाप होने के कारण ही पुराणादि ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि सौ अश्वमेध के फलस्वरूप इन्द्रपद का उपभोग करते समय इन्द्र को रावण महिषासुरादि से दुःख हुआ करता था।

अतएव च इन्द्रादेः शताश्वमेधफलधाराश्रुतिः पुराणादिषूपवर्णिता।

यज्ञान्तर्गत हिंसादिजन्यपापफलस्य यज्ञफलभोगान्तरूपपत्तेरुपपत्तिसिद्धत्वात्।

उपर्युक्त तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर श्री मालवीयजी ने सिद्ध किया है कि पशु-बलि हिंसा और पापयुक्त है और पशु-बलि के विना भी उत्तम रूप में देवि-पूजन हो सकता है। यह हिंसा सब तामसी कर्म है। दुर्गा-सप्तशती के पूजा-प्रकरण के अन्तिम श्लोक को उद्धृत करके यह स्पष्ट किया है कि गन्ध, पुष्प, फल तथा माँसरहित नैवेद्य से पूजित होकर देवी पुत्र, धन, धर्म में मति और शुभ गति देती है। वह श्लोक यह है—

स्तुता संपूजिता पुष्पैः धूपगन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे गतिं शुभाम्॥

महामना मालवीयजी जगदम्बा के उपासकों से करुणा-भरे शब्दों में प्रार्थना करते हैं कि—

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

इत्यादि श्लोकों का प्रतिदिन पाठ करनेवालों का परम कर्त्तव्य है कि जगदम्बा के सब असहाय निर्दोष सन्तानों पर दया करें और उनको वध को अकथनीय वेदना से बचावें। जगदम्बा की पूजा का सबसे उत्तम मार्ग यही है।

पण्डितजी ने अहिंसा अर्थात् हिंसा के निषेध में महाभारत से बहुत से प्रमाण उद्धृत किये हैं। अन्य अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि देवी की पूजा में अथवा व्रत में किसी प्रकार की हिंसा अपेक्षित नहीं है और जहाँ कहीं हिंसा का विधान है वहाँ अन्य पदार्थों से काम लिया जा सकता है। भागवत के तृतीय स्कन्द का बारहवाँ श्लोक स्मरण रखने योग्य है—

राजसा द्रव्यबहुलाः यूपाश्चापि सुसंकृताः ।
क्षत्रियाणां विशां चैव साभिमानाश्च वै स्मृताः ॥
सात्विकस्तु महाराज दुर्लभो वैमखः स्मृतः ॥

हम महामना मालवीयजी के इस शुभ प्रयत्न का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि जिस उद्देश्य से इस पुस्तिका का प्रकाशन किया गया है उसकी सफलता में भारतीय विद्वज्जन मालवीयजी का हाथ बँटावेंगे।

महामना मालवीयजी ने हमें यह पुस्तिका देते हुए कहा है कि जब विद्वानों की सम्मतियाँ हमारे पास आवेंगी तब इस पुस्तिका में परिवर्द्धन अथवा परिशोधन भी हो सकेगा।

यह शुभ लक्षण है कि मालवीयजी जैसा हिन्दू धर्मधुरीण आर्यसंस्कृति का कट्टर उपासक नेता पशु-बलि-निरोध कार्य में अग्रसर हो रहा है। इस कार्य के लिए हम मुक्तकण्ठ से मालवीयजी का अभिनन्दन करते हैं और कहते हैं 'भद्रं ते महाभाग: !'

सप्तदश गुच्छक

१—आर्यसमाज और उसके कृपालु

आज-कल जिधर देखो हिन्दू-मुसलिम-अग्नि विकराल रूप से भड़क उठी है। यद्यपि आर्यसमाज का उद्देश्य संसार-मात्र का उपकार करना है, तथापि आर्यसमाज आत्मसंशोधन के साथ-साथ संसार का सुधार कर रहा है, इसीलिए सबसे पूर्व हिन्दुओं पर ही = आत्मीयों पर ही उसकी दृष्टि पड़ती है और जब कोई हिन्दुओं पर आक्रमण करता है, तब स्वभावतः उसकी प्रवृत्ति हिन्दुओं की रक्षा की ओर हो जाती है और होनी भी चाहिए। यही बात हमारे मुसलमान भाइयों को, इसाई भाइयों को खटकती रहती है, इसीलिए इनका समस्त रोष आर्यसमाज पर आ पड़ता है। ईसाई स्वभावतः कहिए, उनकी नीति ही ऐसी है इसलिए कहिए, सहनशीलता से काम लेते रहते हैं; किन्तु स्वभावतः तामस प्रकृति मुसलमान आपे से बाहर हो जाते हैं और यह समझकर कि आर्यसमाज हिन्दुओं का रक्षक है, इसीलिए पहले जब तक इससे दो-दो हाथ करके इसको ख़बर न लेंगे तब तक हमारा निर्वाह नहीं—आर्यों और आर्यसमाजों के पीछे पड़े रहते हैं। इनको यह विदित नहीं है कि आर्यसमाज सरकण्डों का झुण्ड है। इसमें आग देने से दूने फूट निकलते हैं।

विरोध से इसका कुछ बिगड़ता नहीं, गालियाँ देने से इसको कुछ भी हानि नहीं, आर्यों के प्राण लेने से आर्यसमाज हाथ पर हाथ धरकर चुप-चाप शान्ति से बैठनेवाला नहीं। इसको कोई तभी चुप कर सकता है जब कि वह तर्क-वितर्क से इसका मुख बन्द कर दे। इस तर्क-वितर्क के लिए तो वह अपने पोथी-

पत्रे लेकर सदैव तैयार रहता है। इस विषय में सजातीय और विजातीयों ने अर्थात् स्वधर्मी और विधर्मियों ने सहस्रों वार परीक्षा ले ली है और सहस्रों वार उत्तीर्ण हो चुका है।

अब एक आर्य का लिखा हुआ "रङ्गीला रसूल" रङ्ग लाया ह। मुसलमान अब बड़ी अच्छी बात कह रहे हैं कि उनके धर्म-गुरु अथवा धर्म-प्रवर्त्तक को भविष्य में कोई गालियाँ न दे अथवा कटु शब्द न कहे इसलिए कोई क़ानून बनना चाहिए। परन्तु उनको यह नहीं सूझता कि यदि कोई ऐसा क़ानून बनेगा तो भी वह केवल उनके धर्म-गुरु के लिए नहीं बन सकता, वह बनेगा तो ऐसा बनेगा कि जिससे कोई भी किसी धर्म के धर्म-गुरु अथवा आचार्य के विरुद्ध एक शब्द तक न निकाल सकेगा। अच्छा है, तुम दूसरों का मुख बन्द करने जा रहे हो किन्तु पहले तुम्हारा ही मुख बन्द होगा। यदि मौलवी-मुल्ला-मौलाना-मण्डल स्वामी दयानन्द को कटु वचन न कहता तो "रङ्गीला रसूल" की भी सृष्टि कभी न होती।

धर्म-क्षेत्र में प्रतिकार और प्रतिहिंसा का सिद्धान्त ठीक नहीं है। वहाँ तो सहनशीलता, शान्ति और 'अपकार के बदले में उपकार' का ही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है; तथापि मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि जब शान्त धर्म प्रचारकों को असह्य कष्ट दिये जाते हैं तब उनमें तो नहीं, उनके अनुयायियों में कुछ प्रतिकार का भाव आ ही जाता है, इतिहास इस बात का साक्षी है। फ़र्रुख़-सियर के ज़माने में जब सिक्खों पर अत्याचार की पराकाष्ठा हुई तब सिक्खों ने भी अपनी रक्षा के लिए कृपाण सँभाले और उनको अपना शान्त स्वभाव छोड़कर वीरोचित कार्य के लिए बाध्य होना पड़ा। तब से सिक्ख वीरता के लिए जग-प्रसिद्ध हैं।

महाराष्ट्र में गो-ब्राह्मण तथा साधु-सन्तों पर जब यवनों के अत्याचारों की पराकाष्ठा हुई तब समर्थ रामदास-जैसे योगिराज

को भी अपनी समाधि छोड़कर 'मोक्ष-धर्म' के स्थान में 'राष्ट्र-धर्म' का प्रचार करना पड़ा; छत्रपति शिवाजी-जैसे सुयोग्य धीर, वीर, गम्भीर शिष्य को ढूँढ़कर उसकी पीठ ठोकनी पड़ी। उस समय तो कहीं-कहीं हिन्दू-राज्य भी थे, लोगों में शस्त्रास्त्र की विपुल सामग्री भी थी, लोगों में वीरता भी थी। इस समय क्या है? इस समय हिन्दू-धर्म-रक्षक हिन्दू-राज्य कहाँ है? शस्त्रास्त्र कहाँ हैं? डेढ़ सौ वर्ष की दासता में वीरता भी नष्टप्राय हो चुकी है। अब तो धर्म-रक्षा का एक मात्र साधन रहा है—'प्रचार', 'शङ्का-समाधान' अथवा 'शास्त्रार्थ'। 'शस्त्रार्थ' के लिए न शस्त्र हैं और न वर्त्तमान राजशासन शस्त्र लेने देता है। केवल शङ्का-समाधान, शास्त्रार्थ अथवा लैखिक अथवा मौखिक उत्तर-प्रत्युत्तर से ही मुसलमान आपे से बाहर हो जाते हैं—यह आश्चर्य है।

यदि आर्यों के हाथों में भी तलवार होती तो फिर क्या होता? यदि मुसलमान लोग स्वयं शान्त मधुरभाषी रहकर, दूसरों का जी न दुखाकर अपने मत का प्रचार करते रहते तो किसको बुरा लगता और कौन प्रतिकार करने के लिए खड़ा होता? किन्तु यहाँ तो मुसलमान लोग औरङ्गज़ेब के समय के मुग़ल-साम्राज्य के स्वप्न देख रहे हैं; हिन्दुओं को सर्वथा मिटा डालने की, आर्यों को रसातल पहुँचाने की बात कह रहे हैं। यद्यपि हमको यह विश्वास है कि जब तक आर्यों की उच्च संस्कृति, प्राचीन सभ्यता विद्यमान रहेगी तब तक इनको कोई मिटा नहीं सकता; यद्यपि हम इस प्रतिहिंसा के सिद्धान्त को बुरा समझते हैं और यही चाहते हैं कि मुख से एक भी कटु शब्द कहे बिना ही, हृदय में प्रतिहिंसा के भाव लाये बिना ही, प्रतिकार में हिंसक के लिए शुभकामना करते हुए 'ॐ ॐ ॐ' उच्चारते हुए जीते जी अपनी खाल छिलवाते जायँ, तब भी इस समय आर्यों में जो उत्तेजना प्रसरित हुई

है उसके लिए हम उनको दोषी नहीं ठहरा सकते। उन्होंने अपने शान्त स्वभाव का पूर्ण परिचय बराबर दिया है।

आर्यमुसाफ़िर पण्डित लेखराम को बलि लिया गया; आर्य चुप रहे। स्वा० योगेन्द्रपाल को बलि लिया गया; आर्य चुप रहे। स्वा० श्रद्धानन्दजी को बलि लिया गया; आर्य चुप रहे। समय-समय पर आर्यों के नगर-कीर्त्तन में बाधाएँ डाली गईं; आर्य चुप रहे। आर्यों के मन्दिरों पर धावे बोले गये; आर्य चुप रहे। आर्य उपदेशक तथा प्रचारकों के नाम धमकी देनेवाले पत्र भेजे गये; आर्य चुप रहे। इस प्रकार बराबर साधारण यवन भाई से लेकर मुसलमान अधिकारियों ने इनके धर्म-कार्य में रुकावटें डालीं। सरकार की क्रूर और सन्देह दृष्टि के कारण आर्यों को जो विपत्तियाँ सहनी पड़ीं—उनके विषय में हम इस समय कुछ न कहेंगे। ईसाई भाइयों के विषय में भी इस समय हम कुछ लिखना नहीं चाहते। ख़ास हमारे रक्त-सम्बन्धी हिन्दू भाइयों ने भी अपनी बेसमझी से हमारे साथ जो कुछ किया उसके विषय में भी हम मौन ही साधेंगे। कहिए, आर्यों की शान्ति का और कौनसा प्रबल प्रमाण चाहते हैं?

महात्मा गान्धीजी ने भी आर्यसमाज विरुद्ध निर्णय देकर उनके प्रवर्त्तक तक को असहनशील कहकर, यवनों के हौसले बढ़ाये; फिर भी आर्यसमाज केवल आदरपूर्वक प्रस्ताव पास करके ही चुप रहा। यवनों के हौसले बढ़ते ही गये। हिन्दुओं पर ये भेड़ियों की भाँति टूट पड़े। कहीं अत्याचार, कहीं आग, कहीं ख़ून, कहीं बच्चों का भगाना, कहीं नारी-निर्यातन, कहीं जबरदस्ती—क्या पूछते हो एक ही अकाण्ड ताण्डव और प्रकाण्ड युद्ध-काण्ड था। अन्त में शान्ति भी कहाँ तक रहती?

अन्त में आर्यसमाज ने भी बिगुल बजाया। व्याख्यान का उत्तर व्याख्यान, शास्त्रार्थ का उत्तर शास्त्रार्थ, शङ्का का उत्तर

समाधान,लेख का उत्तर लेख,दयानन्द का उत्तर मुहम्मद रसूल, तन्ज़ीम का उत्तर सङ्गठन,लड़का-लड़की और नारियों के भगाने का उत्तर शुद्धि–इस तरह प्रतिसहयोग अथवा प्रतिरोध पर उतर पड़ा। जब मुसलमानों ने हवा बोई तो आँधी का खेत काटने में क्यों डरते हैं ? फल यह हुआ कि इस क्रिया-प्रतिक्रिया में जातीय झगड़ों की रण-दुन्दभी बजने लगी। राष्ट्रीय भाव और राष्ट्रीय कार्य शिथिल पड़ गये। अब भी दङ्गे बन्द नहीं हुए। बरेली ने फिर सब को चकित कर दिया। अजमेर तथा बहरायिच में आर्य वीरों की हत्या ने सबको व्याकुल कर दिया। समझ में नहीं आता कि क्या होगा और यह काण्ड कब तक समाप्त होगा ?

सच तो यह है कि आर्यसमाज में हम-जैसे हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य के कट्टर पक्षपातियों के (मुसलमानों की इस गुण्डाशाही के कारण) मुख बन्द हो गये। हम किसीको समझाने के न रहे और इस समय यह दशा है कि हमारी कोई सुनता भी नहीं और सुने भी क्यों ? और हम अपने भाइयों को समझायें भी किस तरह ? कान-आँख खोले हुए, किन्तु मुख बन्द किये हुए चुप बैठे हुए हैं।

मेरे आर्य भाई जब मेरे पास आकर स्थान-स्थान पर नगर-कीर्त्तनों के बन्द होने की बात कहते हैं, बच्चों के भगाने,ज़बरदस्ती मुसलमान बनाने, नारियों को निकाल ले जाने की दुःखभरी कहानियाँ सुनाते हैं और साथ ही मेरी चुप्पी साधने पर ताने देते हैं तो मेरा हृदय भर आता है। मैं यह स्पष्ट लिखूँगा कि सरकार के पक्षपात के दृष्टिकोण से भी मुसलमानों के हौसले बढ़ गये हैं। मुसलमान लोग ऐसे धर्मान्ध हो गये हैं कि इनको किस प्रकार समझाया जाय–यही बात समझ में नहीं आ रही है। मैं यह कहता हूँ कि आर्यों के नगर-कीर्त्तन बन्द होते हैं तो वे धर्म के नाम पर क्यों नहीं कष्ट सहकर शान्त रीति से सत्याग्रह बोल देते ? मुझे इनकी केवल प्रस्तावों के ढेर लगाने, बड़े लाट के

यहाँ तारों के खटखटाने, आवेशपूर्ण लेखों के लिखने और सर्क्युलरों के घुमाने की बात बिलकुल पसन्द नहीं है। इससे होना-हुवाना कुछ नहीं। मुझे इनको शुद्धि आदि कराकर ढिंढोरा पीटने की बात भी पसन्द नहीं है। खूब शुद्धि करो किन्तु अख़बारों में विज्ञापन की क्या आवश्यकता है? मुसलमान ईसाई प्रतिदिन दस-पाँच हिन्दुओं को चुपचाप गले के नीचे उतार देते हैं, न कहीं हो-हल्ला है, न विज्ञापन, न ढिंढोरा न और कुछ।

आर्यसमाज में झक्की वकीलों, सरकारी नौकरों और पेन्शनरों की संख्या अधिक है। आर्यसमाज की बागडोर प्रायः इन्हींके हाथों में है। ये लोग प्रस्ताव पास कराने, तार खटखटाने और नगर-कीर्त्तन बन्द हों तो चुप-चाप समाज के जलसों को स्थगित कराने में ही सन्तुष्ट रहेंगे। इनसे और कुछ होना-हुवाना नहीं। ये केवल वाक्शूर और सभा-पण्डित लोगों के बल पर ही कालयापना करने में प्रसन्न रहते हैं। ये लोग कष्ट उठाकर कभी सत्याग्रहादि द्वारा अपने धार्मिक अधिकार की स्थापना करेंगे—ऐसी आशा दुराशा मात्र है। सर्वसाधारण आर्यों में तो उत्साह है पर ये लोग उनको कुछ न करने देंगे।

नौकरशाही जिसके हाथ में कि हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य-रूपी एक 'अमोघ अस्त्र' आया हुआ है, उनसे ये मेरे सामाजिक भाई आशा करते हैं कि इनकी बात सुनेंगे, न्याय करेंगे और धर्म-रक्षा करेंगे। मैं यह कहता हूँ कि धर्म पर मरने की हिम्मत है तो मरो; नहीं तो चिल्लाते रहो, कुछ न होगा। मुसलमानों को एक भी कटु शब्द कहे विना, उनके विरुद्ध एक शब्द भी लिखे विना, सरकार के पक्षपातपूर्ण दृष्टि की शिकायत किये विना और ईसाइयों से अड़े विना यदि मेरे आर्य भाई अपने धर्म पर आरूढ़ रहकर उसके लिए कष्ट नहीं सह सकते तो समझना चाहिए कि केवल कोरे ज्ञान से उनका भला न होगा। यदि मैं

जसा लिख रहा हूँ उस पर आरूढ़ होंगे तो ये तामसी जीव मुसलमान स्वयं हो सीधे होंगे और सरल मार्ग पर आ जायँगे।

तामसी जीव या तो राजस गुणों से दबते हैं या सात्त्विक गुणों से। इस ज़माने में राजसी तलवार उठा नहीं सकते इसलिए सात्त्विक प्रथा से ही अपना बल बढ़ाकर इनको सीधा करना होगा अथवा इनका बल घटाना होगा। मैं ज़रा विचित्र बात लिख रहा हूँ। आर्यभाई सम्भवतः मेरे विचारों से सहमत न होंगे, पर मुझे अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अपने भाइयों के सम्मुख रखने का पूर्ण अधिकार है। वे सुनें न सुनें—उनकी इच्छा।

हिन्दू और मुसलमान आपस में लाठी के ज़ोर से फ़ैसला करना चाहते हों तो यह भी असम्भव बात है। जब तुम शान्त रहोगे, सरकार टुकड़े फेंक-फेंक लड़ाती रहेगी। जब टुकड़ों पर आपस में लड़ोगे तब अच्छी तरह, जी भरकर, पेट भरकर, लड़ने न देगी। आपको ऐसे समय में बीच में पड़कर छुड़ायेगी कि जब दोनों के अरमान दिल के दिल में ही रहेंगे, फिर परस्पर आघात और प्रत्याघात का अवसर ढूँढ़ते रहेंगे। इस तरह आपस में लड़ते भी रहेंगे और अच्छी तरह मरेंगे भी नहीं और न कुछ फ़ैसला ही होगा।

यह भी अब असम्भव-सी बात है कि आर्य भाई अथवा हिन्दू भाई समस्त मुसलमान अथवा ईसाइयों को आर्य अथवा हिन्दू बना सकें। उनके विस्तृत प्रबल साम्राज्य और उनके जातीय भाव ऐसा न होने देंगे। यह भी एक मुसलमानों का सुखस्वप्न ही है कि वे हिन्दू अथवा आर्यों को संसार से मिटा देंगे या उनको मुसलमान बना लेंगे। उनकी उच्च संस्कृति और सभ्यता का आतङ्क यावच्चन्द्रदिवाकरौ संसार पर छाया ही रहेगा। आज-कल हिन्दू धर्म और हिन्दूसमाज में जो गड़बड़ी हो रही है वह इसलिए कि हिन्दू-धर्म-रक्षक अथवा हिन्दू-धर्म-पोषक

एक भी स्वतन्त्र हिन्दू-साम्राज्य उसके सिर पर नहीं है। विदेशी और विधर्मी पद्धति के साम्राज्य में और यवनों के चिरकालीन संसर्ग में हिन्दुओं की हीन दशा हो गई। इस समय हिन्दुओं का उद्धार उनके अपने ही हाथों में है।

अच्छा तो यही था कि हिन्दू-मुसलमान आदि सब भाई पहले नौकरशाही से निपट लेते, फिर आपस में बैठकर फ़ैसला करते। किन्तु मानना पड़ता है कि अभी हमारे शासकवर्ग के पुण्य और हम भारतवासियों के पाप शेष हैं; नहीं तो १९२१ में एकदम स्वर्ग की झाँकी देखकर उसके कुछ काल पश्चात् ही नरक-द्वार पर क्यों पहुँचते? अच्छा, ईश्वरेच्छा, न जाने इसमें भी क्या रहस्य है? करुणानिधान भगवान् का अदृश्य हाथ न जाने क्या क्या करा रहा है?

महामति विदुर के शब्दों में हम यही कहेंगे कि 'न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं' इत्यादि। फुटैल जाति न धर्म कर सकती है, न कर्म; न उसको शान्ति मिल सकती है, न सुख-समृद्धि; न उसका योग-क्षेम ही चल सकता है, न और कुछ। फूट का परिणाम केवल एक है:—

'भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं, न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात्'

वह है नाश, सर्वनाश।

नाश बुरा, सर्वनाश अच्छा; क्योंकि महाप्रलय के पश्चात् ईश्वर के अभिध्यान से फिर नूतन सृष्टि का प्रारम्भ होता है। इस समय भारतवासियों की दुर्दशा एक जानपदिक दुःख है और मेरे पास बैठे हुए मेरे एक मित्र मुझसे कह रहे हैं कि—

'न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितु मर्हसि'—यह तो देशभर का दुःख है। अकेले के शोचने से क्या होगा? सब मिलकर सोचें, मिलें-बैठें, कोई सदुपाय ढूँढ़ निकालें और उसका आस्था-पूर्वक पालन करें, तभी उद्धार होगा—तभी उद्धार होगा।

२—बिखरे विचार

मानससरोवर से

अब तक जितना पता चला है, उससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अर्द्ध शताब्दी में टूर्नामेण्ट होगी, हिन्दू-सभा होगी, कवि-सम्मेलन होगा, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होगा, आर्य-साहित्य-सम्मेलन होगा, आर्य-विद्वत्परिषद् होगी, शुद्धि-सभा होगी, आर्य-स्वराज्य-सभा होगी, साधु-मण्डल बनेगा, उपदेशक-मण्डल होगा, परोपकारिणी व सर्वदेशिक सभा के अधिवेशन होंगे, आर्य-सम्मेलन होगा। लेखक तो इतने सम्मेलनों के नामों को देखते ही काँप जाता है। समझ में नहीं आता क्या होगा और क्या न होगा। अभी तो प्रचार-मन्त्री को ही पता नहीं है कि क्या होगा और क्या न होगा। ओ हो, मैं तो भूल ही गया—अजमेर स्टेशन से लेकर पुष्करजी तक आठ मील लम्बा नगर-कीर्त्तन तो रह ही गया। हाथों पर झण्डा रहेगा—समझे और राजस्थान के ऊँटों पर नेतृगण बैठेंगे।

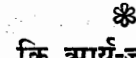

कई शौक़ीन कह रहे हैं कि आर्य-जनता के सैर-सपाटे के लिए अन्नासागर व बूढ़े पुष्कर में स्टीमर रहने चाहिएँ जिससे जनता जलयात्रा का आनन्द ले सके।

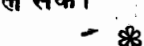

ब्रह्ममहापारायण यज्ञ के ब्रह्मा बनेंगे वयोवृद्ध महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिजी। आर्यसमाज में नामलेवा पानीदेवा एक ये ही महामहोपाध्याय हैं। हम शताब्दी कमेटी को बधाई देते हैं कि उन्होंने ऐसा अच्छा चुनाव किया।

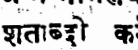

सुना है गुरुकुल काँगड़ी, ज्वालापुर महाविद्यालय व वृन्दावन के ब्रह्मचारी भी अर्द्धशताब्दी में अच्छी संख्या में पहुँचेंगे। महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य पण्डित हरिदत्तशास्त्री पञ्चतीर्थ अभी से बिस्तरा बाँध रहे हैं। हमने कहा अभी तो दो मास पड़े हैं, इतनी शीघ्रता क्या है? उत्तर मिला कि यह कई वार बँधेगा और कई वार खुलेगा।

❀ ❀ ❀ ❀

कोई कहते हैं कि अब आर्यसमाज को अपने प्रचार का तरीक़ा बदल देना चाहिए। पता नहीं ये लोग क्या चाहते हैं? यह तो निश्चित-सी बात है कि जब आर्य-जनता में ही इतना विचित्र परिवर्त्तन हो रहा है तो इनके प्रचार के तरीक़े वही थोड़े रह सकते हैं?

❀ ❀ ❀ ❀

आर्यसमाज में बड़ी ज़ोर की आवाज़ उठ रही है कि अर्द्ध शताब्दी सिर पर आ रही है, आपस के झगड़े बन्द करो इत्यादि। कई झगड़ालू लोग पूछ रहे हैं कि क्यों जी आपस के झगड़े बन्द हो जायँगे तो फिर हम पूर्ववत् आर्यसमाज के मेम्बर भी रह सकेंगे कि नहीं! लेखक ने उत्तर दिया कि श्री महात्मा नारायण स्वामीजी से पूछो। आज-कल नियमोपनियमों की व्याख्या को वे ही सुलझा रहे हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

यदि वे कोई अच्छी व्याख्या न सुझा सकें तो अर्द्ध शताब्दी तक तो चुप रहना और अर्द्ध शताब्दी के समाप्त होने पर अगली पूर्ण शताब्दी तक झगड़ते रहो, कोई रोकेगा नहीं, इतमीनान रखो।

:o:

३—धुन

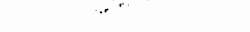

आर्यसमाज ने जहाँ अन्य सभी विषयों में उन्नति की है, वहाँ एक बड़ा भारी ह्रास भी हो रहा है। वह यह कि आर्य-समाज में 'धुन' के आदमी कम होते जाते हैं। संसार में 'धुन' के आदमी क्या नहीं कर सकते? वर्त्तमान आर्यसमाज ऐसे ही 'धुन' के आदमियों की अस्थियों के ढेरों पर खड़ा हुआ है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक तो संसार भर के मनुष्यों में 'धुन' में अपने-जैसे एक ही थे। यदि ऐसा न होता तो आर्यसमाज की स्थापना ही न हो सकती। उनके पीछे भी पिछले तीस-चालीस वर्षों में हमारे मण्डल में अच्छे-अच्छे 'धुन' के व्यक्ति हो गये हैं।

स्वर्गीय व्यक्तियों में लाला साईंदास, ला० जीवनदास, पण्डित लेखराम, लाला वज़ीरचन्द, महाशय योगेन्द्रपाल, पण्डित रलियाराम, पण्डित तुलसीराम सामवेद-भाष्यकार, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० मुरारीलाल शर्मा, पं० गणपति शर्मा, पण्डित सीताराम शास्त्री (रावलपिण्डी), पं० भोजदत्त शर्मा, स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, ला० लाजपतराय, राय पेडाराम धवन (राय ठाकुरदत्त धवन के भ्राता), पं० सन्तराम वेदरत्न आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; किन्तु जिनका नाम समाचार-पत्रों में नहीं आया अथवा कम आया है ऐसे भी पचासों व्यक्ति हैं, जो आर्यसमाज के भवन की नींव में

गल चुके हैं। स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा, स्व० पं० हरनामसिंह, ठा० माधवसिंह, पं० शङ्करनाथ, पं० नन्दकिशोर देव शर्मा के नाम भूल से ऊपर रह गये। वर्त्तमान समय में भी जो अपनी धुन के पक्के हैं ऐसे अनेक व्यक्ति स्पष्ट दिखलाई दे रहे हैं। स्वर्गीय आत्माओं का स्थान तो रिक्त पड़ा हुआ है ही किन्तु वर्त्तमान 'धुन' के कार्यकर्त्ता, नेता, वक्ता, पण्डित, प्रचारक आदि का स्थान लेनेवाले भी निकलेंगे या नहीं—कौन कह सकता है? महात्मा हंसराज अपनी धुन में अब तक डी०ए०वी० कालेज की नींव को पाताल तक पहुँचाने में संलग्न हैं। लाला देवराज अपनी प्रिय संस्था कन्या महाविद्यालय की ही 'धुन' में हैं। चौ० खूबचन्द जैसे धुन के प्रचारक भी अब कहाँ हैं? श्री १०८ स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी महाराज-जैसे व्याकरणशास्त्र, अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य की धुन के गुरु कहाँ मिलेंगे? परिणाम कुछ भी हो, छात्रों की रुचि हो या न हो, उनको आवे या न आवे, समय की विपरीत गति कुछ भी कहे, उनको अपनी अष्टाध्यायी अथवा महाभाष्य से काम। स्व० पं० देवदत्त शास्त्री (कादियांवासी) भी अष्टाध्यायी पर इसी प्रकार मर मिटते थे। सारांश आर्य-मण्डल में अब तक जो भी जिस प्रकार का नेता, कार्यकर्त्ता, पण्डित, उपदेशक, प्रचारक हो चुका है उस-जैसा भविष्य में कोई होगा कि नहीं, ईश्वर ही जाने।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों में जैसे आस्थावाले, श्रद्धालु, कष्टसहिष्णु, दृढ़ विश्वासी प्रधान-मन्त्री मिलते थे, आज-कल तो वैसे प्रधान-मन्त्री नसीब में कहाँ हैं? हमारे स्व० पूज्य पिता पण्डित श्रीनिवासरावजी ने दक्षिण में जो कष्ट सहे उनके वर्णन करने के लिए शब्द भी नहीं हैं। ला० सोमनाथ (रोपड़—लुधियाना निवासी), पण्डित गंगासहाय (देवटा—सिकन्दराबाद निवासी) आदि-आदि बहुत सज्जन

पुरुषों के नाम मैं लिख सकता हूँ, परन्तु यह लिस्ट इतनी बढ़ जायगी कि फिर नामोल्लेख में ही समस्त लेख समाप्त हो जायगा। इसलिए नामोल्लेख नहीं करूँगा।

ऊपर पण्डित रलियाराम का ज़िक्र आया है। इन्होंने प्लेग के दिनों में २५० प्लेग-ग्रस्त रोगियों की गिल्टियों को चूसकर उनके प्राण बचाये थे। इस 'धुन' के सेवा-भाव के प्रचारक अब कहाँ हैं? आज-कल तो रेलवे लाइन के सहारे-सहारे चलनेवाले कोमल उपदेशक तथा प्रचारक उन दिक़्तों को क्या अनुभव करेंगे जिनको स्वामी दर्शनानन्द, पं० गणपति, पं० तुलसीराम, पं० प्रयागदत्त आदि ने अनुभव किया? अपने आप किसी जगह जाना, अपने हाथों से नोटिस लिख-कर बाज़ारों में चिपकाना, अपने हाथों से दरियाँ बिछाना, व्याख्यान देकर फिर दरी को सिर पर धरकर यथास्थान पहुँचाना—इस प्रकार के मानापमान-विरहित आर्यसमाज के धुन के उपदेशक कहाँ मिलेंगे?

बात यह है कि वे थे आर्यसमाज के मालिक और आजकल के उपदेशक हैं नौकर, वेतनभोगी, स्वाभिमानशून्य जन—बस यही अन्तर है। वेतनभोगी होना बुरी बात नहीं, किन्तु स्वाभिमान-शून्य वेतनभोगिता किस काम की?

आर्यसमाज में साहित्य, सङ्गीत, कला आदि की धुन के लोग कम ही दिखलाई पड़ते हैं। कविसम्राट् नाथूराम शङ्करजी की धुन को कौन पा सकेगा? पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसा रात-दिन पुस्तकों के संग्रह, अध्ययन तथा स्वाध्याय में कौन लगा रहेगा? स्वामी शुद्धबोधतीर्थ जैसे चालीस वर्ष से बराबर अध्ययनाध्यापन में लगन से लगनेवाले कहाँ मिलेंगे? स्वर्गीय पं० भीमसेनजी (स्वा० भास्करतीर्थ) के टाइप के पण्डित भी कहाँ हैं? अब तो 'बातें तो बन रही हैं पर घर

बिगड़ रहे हैं।' छोकरा पण्डित-मण्डल बढ़ रहा है जो कि एक विषय में भी पारङ्गत नहीं होने पाता। इन लोगों में 'धुन' भी नहीं है। अशिक्षित धुनवाला भी बहुत-कुछ काम कर लेता है, किन्तु धुनरहित, सदैव शङ्कित शिक्षित-समुदाय भी समाज के लिए 'घुन' हो जाता है। मैं फिर कहता हूँ कि समाज में 'धुन' नहीं रही, इसलिए 'घुन' लग रहा है। यह सब मनोभावना का खेल है। लोग श्री सातवलेकरजी के पीछे पड़ रहे हैं और यह सत्य बात है कि उनके साथ सब विषयों में सहमत होना असम्भव है, किन्तु मैं पूछता हूँ कि वे जितना समय वेद-व्याख्यान में लगाते हैं उतना और कौन लगा सकेगा?

बातें रह-रहकर याद आ रही हैं। राय ठाकुरदत्त धवन, बाबू रलियाराम (गुजरानवाला), मास्टर आत्माराम, हैदराबाद दक्षिण के श्री० केशवराव वकील आदि जैसे धुन के पुरुष भी सहज ही में दिखाई नहीं पड़ेंगे! आज आर्यसमाज में कोई प्रधान बन बैठे और कोई मन्त्री, किन्तु जिस कड़े ज़माने में श्री स्व० पं० भगवानदीनजी, श्रीनारायण स्वामीजी—किन किन के नाम लिखे जायँ—ने काम किया, उस ज़माने को आज-कल के लोग—धुन-रहित लोग—कैसे पा सकेंगे?

श्रद्धावान्, आत्मवान् पुरुष में ही 'धुन' हुआ करती है। वर्त्तमान समाज में स्व-सिद्धान्तों के लिए अटल आस्था होती तो आज कुछ का कुछ हो जाता। वाचनिक कार्य हो रहा है, ठोस कार्य, चुपचाप किन्तु ठोस कार्य की ओर कम प्रवृत्ति, कलहात्मक वृत्ति और प्रदर्शिनी के लिए रुचि बढ़ रही है। धर्म की प्रदर्शिनी की जा रही है। अब आर्यसमाज में गृहशुद्धि तथा आत्मशुद्धि की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है। सामाजिक पुरुषों में अध्यात्म-रुचि क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर ही समझिए।

'समाज में आध्यात्मिक रुचि रखनेवालों के लिए कोई स्थान नहीं'—इस प्रकार का विचार जनता में प्रसरित हो रहा है और किसी अंश में यह सत्य भी है। आर्यसमाज में प्रतिदिन के गृहकलह, राजसी तथा तामसी काण्ड आदि को देखकर ऐसा विचार हो जाय तो आश्चर्य करने की बात ही क्या है?

आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र समस्त भूमण्डल है, किन्तु यह अपने आपको सीमित करता जा रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हिन्दू जाति जगकर स्वयं ही आर्यसमाज के करने योग्य सब कार्यों को कर डालेगी और भविष्य में आर्यसमाज के नाम से हल्ला तो बहुत होगा किन्तु काम कम होगा। मेरा अपना दृढ़ विश्वास है कि स्वामीजी का मिशन कामयाब हो गया, किन्तु वर्त्तमान आर्यसमाज उस यश को लूट सकेगा या नहीं—इसमें सन्देह है।

आर्यसमाज में 'धुन' के लोग बने रहेंगे तो आर्यसमाज की स्थिति सँभली रहेगी और जब-जब हिन्दू-समाज में या भारतवर्ष में कठिन प्रसङ्ग आयेंगे उस अवसर पर दिव्य स्फूर्त्ति देने के लिए आर्यसमाज समर्थ हो सकेगा। प्रिय आर्य भाइयो, यदि आप राष्ट्रीय संग्राम तथा धार्मिक अभ्युदय में भाग लेना चाहते हैं तो अपनी संख्या के बढ़ाने की अपेक्षा अपने में अपेक्षित गुणों के बढ़ाने की ओर ध्यान दो। संख्या-बल तथा गुण-बल दोनों ही बढ़ें तो फिर कहना ही क्या है! परमात्मा हम सबको बल देवे जिससे हम अपनी स्थिति पर धैर्यपूर्वक विचार कर सकें। हम में चिरकाल के लिए क्षमा, तितिक्षा, शान्ति, धैर्य, परस्पर सहानुभूति, समवेदना, सेवा के भाव स्थिर रह सकें—यही इस लेखक की हार्दिक अभ्यर्थना है।

—:o:—

४—बकायन के नीचे—

:o:

आज यह लेख फ्रंटियर गुरुकुल पोठोहार (रावलपिण्डी) के विस्तृत प्राङ्गण में बकायन वृक्ष के नीचे बैठकर लिखा जा रहा है, इसीलिए लेख का शीर्षक इस प्रकार का दिया गया है। मेरे पास ही स्वर्गीय श्री पं० लेखरामजी के चाचा पं० गण्डारामजी बैठे हैं। मैंने विनम्र भाव से पूछा कि स्वर्गीय पण्डितजी के वंश में कोई है भी ? पं० गण्डारामजी का जी भर आया और बोले, "बस, उनके ख़ान्दान में उनकी पुस्तकें ही हैं, उनकी यादगार उनकी पुस्तकें ही हैं और कुछ नहीं।" पं० गण्डारामजी के वंश में उनके एक धेवते (दौहित्र) हैं। उनका नाम है पं० देवेन्द्रनाथ। सन् १९२३ में वह विलायत गये, सो आज तक नहीं लौटे और न लौटने की ही आशा है। विलायत जाकर पूरे विलायती हो गये हैं। पं० गण्डारामजी पुलिस में नौकर थे। सैंतीस वर्ष नौकरी करने के पश्चात् आपने पेन्शन ली थी और पेन्शन लेते हुए तीस वर्ष बीत गये। चालीस रुपये पेन्शन मिलती है। इस समय आपकी आयु ८६ वर्ष की है। इनसे स्व० पं० लेखरामजी के विषय में बहुत बातें हुईं। आज तो आर्यसमाज में पं० लेखरामजी का नाममात्र शेष है। आर्यसमाज से इतना भी न हो सका कि उनका कोई दिव्य स्मारक रचते। पं० गण्डारामजी का पुत्र आत्माराम पहले गुमाश्ते का काम करता था; अब घर पर ख़ाली है।

फ्रंटियर गुरुकुल को स्थापित हुए चौबीस वर्ष हुए। महाविद्यालय ज्वालापुर की स्थापना के पश्चात् दूसरे वर्ष ही इस गुरुकुल की स्थापना हुई थी। इस गुरुकुल ने इस फ्रंटियर के इलाक़े में हिन्दू-संस्कृति को पुनर्जीवित करने

का सफल प्रयत्न किया है। इस इलाके में मुसलमान व सिक्खों का अधिक ज़ोर है। हिन्दू भी अधिक संख्या में सिक्ख होते जा रहे हैं। गुरुकुल के आचार्य श्री पं० मुक्तिराम उपाध्याय का प्रयत्न शतमुख से प्रशंसनीय है। इस गुरुकुल की एक शाखा झेलम नगर में गत वर्ष खुली थी। अब वह उन्नति-पथ पर है। इस गुरुकुल में संस्कृत विद्या की प्रधानता है; इसीलिए इसके स्नातक सुयोग्य विद्वान् बनकर निकलते हैं। यदि हिन्दू जनता इस गुरुकुल की पूरी-पूरी सहायता करे तो बड़ा काम हो।

गुरुकुल का स्थान अत्यन्त रमणीय है। पं० मुक्तिरामजी उपाध्याय (आचार्य) त्यागी विद्वान् पुरुष हैं। आप अच्छे वैद्य भी हैं इसीलिए यहाँ के मुसलमानों में आपका बहुत प्रभाव है और वे पण्डितजी को बहुत मानते हैं। यह ऐसा इलाक़ा है जहाँ चारों ओर मुसलमानों के ही ग्राम हैं। हिन्दू मज़दूर तक नसीब नहीं हो सकता। झेलम नदी यहाँ से तीन मील है। जहाँ झेलम पार की कि आगे काश्मीर राज्य लगता है। इस गुरुकुल में इस समय सब मिलकर साठ ब्रह्मचारी हैं। तीस शाखा में रहते हैं और तीस यहाँ। इधर के आर्यपुरुष यथाशक्ति संस्था की सहायता करते रहते हैं।

यह गुरुकुल रावलपिण्डी से चालीस मील की दूरी पर है। रावलपिण्डी से लारी में आना होता है। मार्ग इतना ख़राब है कि बस पूछिए नहीं, तो भी लोग जलसे में अच्छी संख्या में आते हैं। पुरुषों की अपेक्षा देवियाँ ही अधिक आती हैं। पं० मुक्तिरामजी तो पुरुषार्थ करते ही रहते हैं पर इनका शिष्य-मण्डल अभी तक अपेक्षित ध्यान नहीं दे रहा। यदि वह थोड़ा भी ध्यान देवे तो गुरुकुल महान् वृक्ष हो सकता है। इस गुरुकुल के पास १३५ बीघे ज़मीन है जिसकी लागत बारह सहस्र रुपया है। यज्ञशाला, भोजनशाला, गोशाला, आश्रम, धर्मशाला,

औषधालय आदि भी सब मिलाकर पन्द्रह सहस्र की लागत के होंगे। प्रारम्भ से जिन पुरुषार्थी भाइयों ने इसकी रक्षा की उनमें निम्नलिखित नाम उल्लेख-योग्य हैं—स्व० रायसाहब विशनदास (झेलम), बा० रामलाल कृपाराम (पिण्डी), श्री गोविन्दराम (पिण्डी), ला० गौरीदास सेठी (पिण्डी), स्व० ला० सरदारीलाल (कुञ्जाह—गुजरात), भक्त शिवदर्शनजी (चोहा), मलक जमैयतराम (चोहा), ला० लक्ष्मीदासजी (चोहा), ला० जयगोपालजी (पेशावर), ला० लालचन्दजी ठेकेदार (झेलम), स्व० मेहता अयोध्यारामजी (झेलम), वानप्रस्थी हरिचंदजी (पेशावर) इत्यादि। जहाँ फ्रंटियर में किसी समय तक्षशिला-जैसे विश्वविद्यालय थे वहाँ अब समस्त फ्रंटियर में एक ही यह छोटा गुरुकुल है और उसकी भी पूरी-पूरी रक्षा नहीं हो रही—यह सखेद आश्चर्य की बात है।

स्वा० दर्शनानन्दजी में एक धुन थी। वे जगह-जगह गुरुकुल खोलते गये और उनके पीछे लोग उन गुरुकुलों को सँभालते गये। जो भी एक बार स्वा० दर्शनानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल में फँस गया फिर वह मर मिटा। गुरुओं की परेशानियों का हाल ही मत पूछिए, माँगते-माँगते मर मिटे। इस त्रुटि के होते हुए भी अब आर्य जगत् ने देख लिया कि इन गुरुकुलों से ग़रीबों का कितना बड़ा उद्धार हुआ है और गरीबों की शुभकामनाएँ इन निःशुल्क संस्थाओं के साथ हैं—यही एक सन्तोष का विषय है। यदि निःशुल्क संस्थाएँ अपना एक सङ्गठन कर लें तो उनका मार्ग और भी सुलभ हो सकेगा। पिछले वर्ष मैं जब गुरुकुल के उत्सव में आया था तब भी इसी बकायन के नीचे रहा था। अब की बार भी इसकी छाया में तीन दिन कटे। विदित नहीं, क्यों यह वृक्ष मुझको प्यारा लगने लगा है?

५—नायक नगला से—

आज (४ मई सन् १९३२ ई०, बुधवार) मैं पन्द्रह वर्ष पश्चात् नायक नगले आया। स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा की अरिष्टि थी। उनकी बैठक में घुसते ही, उनकी अलमारियों को देखते ही, "यहाँ बैठते थे, यहाँ सोते थे, यहाँ लिखते थे, ये उनकी पुस्तकें, ये उनके पुराने लेख, ये पुराने अख़बारों की फ़ाइलें"—इस प्रकार पचासों प्रकार के स्मृति-चिह्नों को देखकर पुराने सब संस्कार एकदम जागृत हो उठे। भारतवर्ष के चारों ओर से शोक-सहानुभूति और समवेदना के पत्रों के ढेर देखकर इच्छा हुई कि एक बार उन पत्रों पर दृष्टि तो डाली जाय। समवेदक सज्जनों ने शर्माजी को जिन शब्दों में स्मरण किया है उनमें श्रद्धा, भक्ति, करुणा, आदर आदि अनेक प्रकार के भावों का सम्मिश्रण देखा गया। कोई उनको भययुक्त आदर से देख रहा है तो कोई आत्मीय की भाँति स्मरण करके रो रहा है। उन सब पत्रों को पढ़कर मन की जो विचित्र दशा हो गई—मैं वर्णन नहीं कर सकता। उनकी बैठक में सामने की अलमारी पर उनके पिता चौ० उमरावसिंह का चित्र देखकर एकदम वह बात याद आई जिसको वे मुझसे कहा करते थे—"शास्त्रीजी, पद्म नहीं मानता है। उसको समझाओ, बहुत फ़िजूल खर्च करता है।" चौ० रिसालसिंह (शर्माजी के कनिष्ठ सहोदर) की व्याकुलता को कौन वर्णन करे? चि० काशीनाथ शर्मा और रामनाथ शर्मा (शर्माजी के पुत्र) की मानसिक उद्विग्नता को कोई किस प्रकार हटाये? उनके मित्रों के शोक-सन्तप्त मानस-मिलिन्दों को कोई किस प्रकार प्रसन्न करे? वहाँ, उस गाँव में, सब कुछ था; पर पद्मसिंह के विना कुछ भी नहीं था। नायक नगला नायक के विना एक नगला मात्र शेष था। उस घर में

सब कुछ था। पर पद्मसिंह नहीं था। वही ग्राम, वही घर, वही बाग़, वही बैठक, पर एक वही नहीं था जिसके कारण नायक नगला इतना प्रसिद्ध हो गया था। कहने को 'काव्य-कुटीर' नामक कुटिया थी, पर वह जीवित काव्य नहीं था। मनुष्य के शरीर में जब जीवात्मा नहीं रहता तब जो दशा शरीर की हो जाती है वही नायक पद्मसिंह के विना नायक नगले की, वही साहित्याचार्य पद्मसिंह के विना हिन्दी साहित्य-संसार की थी।

मैं क्या लिखूँ ? जिसके साथ मित्रता में और लड़ने में भी आनन्द आता था, जिसकी मृदुता और कठोरता दोनों ही देखने योग्य थीं, जिसके सरस विनोद और उग्र आलोचना से दोनों शत्रु और मित्र समान भाव से प्रमुदित होते थे, वह पद्मसिंह अब कहीं नहीं मिलेगा। जल, स्थल, नभोमण्डल कहीं नहीं मिलेगा। न जाने स्व-कर्मगति के अनुसार कहाँ, किस लोक में, किस रूप में, किस शरीर में विद्यमान है ? पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त माननेवालों के लिए तो तनिक भी घबराने की बात नहीं है। घनिष्ठ मित्रों को, जिनको वह आत्मीय मानते थे, किसी-न-किसी जगह मिल ही जायँगे। मैं लिख रहा था कि स्थान तो वही, पर वही एक पद्मसिंह नहीं हैं।

'स्थानानि तानि खलु सन्ति न पद्मसिंहः।'

लक्ष्मी और सरस्वती का कभी मेल नहीं रहता। जब पं० पद्मसिंह जी के यहाँ सरस्वती देवी ने प्रवेश करना प्रारम्भ किया तभी से लक्ष्मीदेवी ने भी अपना बोरिया-बिस्तरा सँभाला। और जब इतनी तपस्या के पश्चात् लक्ष्मी फिर उनके पास आने के लिए समुत्सुक हो रही थी तो पद्मसिंह ही न रहे। सरस्वती का विकास अर्थ-दरिद्रता अथवा अर्थ-कृच्छ्रता में ही होता है। लक्ष्मी के विकास में गुणों का ह्रास ही देखा गया है। यह बहुत ही अच्छा हुआ कि लक्ष्मीदेवी

के साथ छोड़ने से पं० पद्मसिंहजी की उज्ज्वल प्रतिभा का चमत्कार हिन्दी-संसार को देखने को मिला, नहीं तो जहाँ लक्ष्मी-विलास में संसार के पद्म खिलते हैं वहाँ नर-रूपधारी पद्मसिंह सर्वथा मुरझा जाता और लोग कभी जानने भी न पाते कि कौन पद्मसिंह, कहाँ के पद्मसिंह और कहाँ के साहित्य-कानन-केसरी ! मैं अब नायक नगले से महाविद्यालय ज्वालापुर वापिस जा रहा हूँ, केवल इतना लिखना चाहता हूँ कि उनके मित्रों और भक्तों का कर्त्तव्य है कि वे उनके अप्रकाशित लेख-संग्रह को छपाने का प्रयत्न करें। 'विशाल भारत'-सम्पादक हिन्दी-संसार के सामने यह तजवीज़ रख रहे हैं—यह समाधान की बात है। * चि० काशीनाथ शर्मा विद्याभास्कर का भी कर्त्तव्य है कि वह भी हिन्दी-संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित करें। अगस्त में 'विशाल भारत' का पद्माङ्क निकलेगा। आशा है शर्माजी का मित्र-मण्डल उस अङ्क द्वारा अपने मनोगत भावों को हिन्दी-संसार के सामने प्रकट करेगा।

बिजनौर ज़िले के तगाओं ने अर्थात् दानत्यागी ब्राह्मणों ने यह सोचा है कि बिजनौर में शर्माजी की स्मृति में अच्छा पुस्तकालय खोला जाय। पं० पद्मसिंह शर्मा के नाम के साथ 'तगा' आदि का पचड़ा लगाकर उनका स्मारक बनाना उनकी हतक करना है। सार्वजनिक पुरुष की स्मृति सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसको उसी व्यापक दृष्टि से बनाना चाहिए। आशा है हिन्दी-साहित्य सम्मेलन इस विषय में कोई उपयुक्त प्रस्ताव लायेगा। यदि मुझसे कोई पूछे कि पद्मसिंह शर्मा का स्मारक कहाँ बने तो मैं यही कहूँगा कि शर्माजी के स्मारक के लिए महाविद्यालय ज्वालापुर ही उपयुक्त स्थान है।

---

* खेद है कि गत २९ सितम्बर १९३५ ई० को प्रियवर काशीनाथजी शर्मा का देहान्त हो गया—लेखक

अष्टादश गुच्छक

१–'श्रुतं मे गोपाय'

:o:

प्राचीन समय में गुरुओं को यही आशीः (इच्छा, वासना), सदाशा, प्रार्थना रहती थी कि भगवान् हमारे शिष्यों ने हमसे जो कुछ पढ़ा है, सीखा है, वे उसकी रक्षा कर सकें, उसको स्थिर रख सकें, उसको आगे भी अधिकारी शिष्य-उपशिष्य-प्रशिष्यों के पास पहुँचा सकें। प्राचीन समय के गुरुओं को और किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती थी। स्वयं बड़ी तपस्या से विद्यार्जन करते थे, तपस्यापूर्वक उसे सुरक्षित रखते थे और जहाँ अधिकारी निधि=शिष्य मिला कि उसको दे डालते थे। तब जाकर एक-एक विद्या गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा सैकड़ों वर्ष चलती रहती थी। यदि बीच में किसी कारण इस परम्परा का विच्छेद हो जाता था, तो जहाँ भी वह विद्या रहती थी वहीं से जाकर शिष्यजन श्रद्धा-भक्ति-तपस्या पूर्वक ले आते थे और फिर विद्या की परम्परा चलाते रहते थे। क्योंकि समावर्त्तन-संस्कार के समय में गुरुजन जहाँ 'सत्यं वद', 'धर्मम् चर' 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इत्यादि शिक्षा देते थे वहाँ 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' के दो अर्थ हैं। एक यह कि पितृ-ऋण चुकाने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना जिससे वंश-परम्परा बनी रहे और दूसरी बात यह कि भविष्य में भी विद्या-वंश द्वारा विद्या-परम्परा चले इसलिए विद्या को निधियों में रखकर शिष्योपशिष्य-परम्परा चलाते रहना। इसलिए भारतीय प्राचीन संस्कृति की परम्परा में दो

प्रकार के गोत्र मिलते हैं—एक विद्यावंश का गोत्र और एक योनि-वंश अर्थात् माता-पिता का गोत्र। इसीलिए अब भी ब्राह्मणों में प्रवर का प्रचार चला आ रहा है। किन्हीं वंशों में तीन, किन्हीं में पाँच और किन्हीं में सात प्रवर की बात चली आ रही है। अपने प्राचीनतम वंश के त्रि, पञ्च तथा सप्त प्रवरों का ध्यान रख-कर उनकी रक्त-परम्परा और स्वाध्याय-परम्परा को सुरक्षित रखकर उसको आगे चलाना कितने बड़े स्वाभिमान का, कितने बड़े गौरव का पवित्रतम कार्य है? इसको वे ही अनुभव कर सकते हैं जिनकी परम्परा अब भी सुरक्षित है।

मैं एक बार ऋग्वेद में यह देख रहा था कि हमारे पञ्च प्रवरों (आप्लव, और्व, जामदग्न्य, पराशर, श्रौवत्स) में कोई ऐसा ऋषि हुआ है या नहीं जिसको मन्त्रदृष्टत्त्व का लाभ हुआ हो। मुझे परम हर्ष हुआ जब मैंने कई मन्त्र और एकाध सूक्त देखे, जिनके ऋषि 'वत्स' हैं। उन मन्त्रों को मैं इस भावना से बार-बार पढ़ता गया कि इन मन्त्रों का द्रष्टा वह ऋषि है जो हमारे विद्यावंश तथा गोत्र के पञ्च प्रवरों में से एक है। मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहा।

लिखने का तात्पर्य यह कि 'श्रुतं मे गोपाय' यह जो शिष्य के लिए आदेश, निदेश होता था उसमें बड़ा रहस्य था। आज तक परा और अपरा विद्या इसी प्रकार स्थित रही। जब तक एक जाति की जाति किसी बात को अपनाकर वंश-परम्परा द्वारा उसीकी शिक्षा-दीक्षा में अपना समय नहीं दे सकती वह जाति स्वयं नष्ट हो जाती है और वह विद्या भी जाती रहती है। प्राचीन वैदिक वर्ण-व्यवस्था का रहस्य इसी बात में है। जब ब्राह्मण नामक एक जाति को जाति वेदों को अपनी पवित्र धरोहर समझ-कर उसकी शिक्षा-दीक्षा लेकर उसके प्रचार-प्रसार में लगी रहती थी, वेदों के सामने सांसारिक प्रलोभनों को तुच्छ समझ-

कर उधर झाँकती भी नहीं थी, तब संसार की क्या दशा थी, तब संसार किस प्रकार वेद-पालित होकर सुख-ऋद्धि-समृद्धि का आगार था और अन्य वर्ण भी स्व-स्व-धर्म में स्थित रहकर किस प्रकार धर्म्म और मर्यादा का पालन करते थे, यह प्राचीन समय के इतिहासों की बात है। वैदिक राज्य-अधिराज्य-महाराज्य की शृङ्खला विशृङ्खल हो गई और जिस शृङ्खला के कारण भारतवर्ष संसार में गौरवान्वित था वह परम्परा टूटती जा रही है। सच्चे गुरुकुलों द्वारा उस परम्परा का उद्धार हो तो फिर संसार वेद-पालित होकर फिर सुख-समाधान से रह सके। आर्यसमाज एक ओर वेद और शास्त्र और उनके प्रचार तथा प्रसारार्थ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की बात कर रहा है तो दूसरी ओर उसकी समस्त शक्ति का ⅔ भाग आँग्ल शिक्षा-दीक्षा के प्रचार में जा रहा है! तब एक चिन्ता का प्रश्न हो जाता है और ⅓ शक्ति जो प्राचीन शिक्षा-दीक्षा के लिए खर्च हो रही है वह भी बिखरी हुई है—उसमें भी गुरुजनों का समादर नहीं, उसमें भी उनको स्वकार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं।

गुरुकुल कहलानेवाली संस्थाओं में गुरुजन मोल ली हुई वस्तुएँ हैं, यही एक चिन्ता का प्रश्न है और जब 'गुरु' शब्द तो बाक़ी रहे और उसके अर्थ का नाश हो जाय तो शेष 'कुल' की व्यवस्था क्या रहेगी? फिर गुरुजन किनसे आशा करें और कहें कि—

'श्रुतं मे गोपाय' (तैत्तिरीय)

समस्त गुरुकुलों के सञ्चालकों को कहीं मिलकर गत अनुभवों पर दृष्टिपात करना चाहिए जिसमें भविष्य का मार्ग निष्कण्टक होकर गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली अब की अपेक्षा अधिक सफल हो सके। तथास्तु! एवमस्तु! परेशो मंगलं विभावयतु!

२—"मैं"

यह संसार क्या है, यदि इसके व्यवहारों में से 'मैं' निकाल ली जाय ? जब तक 'अहं' और 'मैं' है, तभी तक तो संसार है। अहम्भाव लीन हुआ कि संसार भी विलीन हुआ ही समझिए। जहाँ 'अहं' बुरी तरह जागा, 'मैं' चेत उठी कि संसार एक सुख-दुःखों का विचित्र अखाड़ा हुआ ही समझिए। समस्त शास्त्रकार संसार को परिणाम में दुःखमय समझते हैं। किसी-किसी का मत है कि संसार सर्वथा दुःखमय नहीं है। सर्वथा दुःखमय होता तो बीच-बीच में, जीवन-कलह में, सुख की मात्रा क्योंकर मिलती है ? एक तत्त्ववेत्ता का मत है कि जिनको संसार दुःख समझता है वे ही दुःख अन्त में, परिणाम में सुख-रूप हो जाते हैं। वस्तुतः संसार में कोई दुःख हो नहीं; मनुष्य अपने अज्ञान से ही दुःखों से घबराता है और सुखों की लालसा में संलग्न रहता है। दुःख ही सुख-रूप में बदलते रहते हैं। मनुष्य कैसा अज्ञानी है कि दुःख-रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ना चाहता है किन्तु उसी दुःख-रूपी वृक्ष के सुन्दर-सुन्दर सुख-स्वरूप फल के पीछे मरता रहता है। भोले प्राणी, यदि दुःख नामक ऊपर से दीखनेवाला भयङ्कर वृक्ष न रहे तो सुख नामक फल का आस्वाद कहाँ से लेगा ?

सबकी समझ में आनेवाली बात भोजन की लीजिए। धनोपार्जन, उसके पश्चात् सामग्री का एकत्रित करना, पश्चात् आग सुलगाने से लेकर पाक के सिद्ध होने तक के प्रयत्न, तब जाकर भोजन का आस्वाद मिलता है। फिर तृप्ति और आनन्द होता है। दिन भर की दौड़-धूप के पश्चात् जब यह आनन्द मिला, सुख हुआ तो जिन दुःखों के झेलने से यह आनन्द, यह सुख मिला, उन दुःखों से छुटकारा क्योंकर पा सकते हो ?

यदि 'अहं' और 'मम', 'मैं' और 'मेरा' न हों तो यह समस्त प्रयत्न किसके लिए करते हो ? 'मैं' और 'मेरा' इससे जन्म-भर छुटकारा नहीं; किन्तु इस 'मैं' और 'मेरा' को ऐसा रखो, इतना रखो कि जिससे तुम अपने स्वरूप को न भूल बैठो, जिससे अपने आश्रितों, इष्ट-मित्रों, बन्धुओं को कष्ट न हो, बस इतना ध्यान रखोगे तो यह 'मैं' और यह 'मेरा', 'मेरी', 'मेरे' आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते।

यह 'मैं' जब आपे में नहीं रहती, दूसरों को क्लेश देने लगती है, अन्याय करने लगती है, अत्याचार पर उतर पड़ती है, तब दूसरी ओर से भी 'मैं' बड़े वेग से उछल पड़ती है और फिर इन दोनों 'मैं'ओं का ऐसा घनघोर युद्ध हो पड़ता है कि या तो दोनों नष्ट हो जाती हैं, अथवा दोनों असमर्थ होकर परस्पर बदला लेने की घात में पड़ी रहती हैं, अथवा एक 'मैं' दूसरी 'मैं' को मारकर, प्रबल होकर किसी तीसरी 'मैं' के पीछे पड़ जाती है और यह युद्ध बढ़ता ही जाता है। यह हुई व्यक्तिगत 'मैं' की दशा। इन व्यक्तिगत 'मैं'ओं के युद्ध में अधिक से अधिक एक दो व्यक्तियों का, एक कुटुम्ब का अथवा मुहल्ले का नाश हो जाता है; परन्तु यदि 'मैं'—यह अहम्भाव बड़े परिमाण में जाति-जाति में फैल जाय तो हानि की सीमा ही नहीं रहती। यह व्यक्तिगत 'मैं' फिर 'हम' का रूप धारण करके अत्यन्त प्रबल हो जाती है। यही 'हम' बढ़ते-बढ़ते बड़े-बड़े राष्ट्रों का काल बन बैठती है। इसी 'हम' के कारण प्रबल राष्ट्र छोटे-छोटे राष्ट्रों को कुचल डालता है; कभी-कभी इतना कि कुचले हुए राष्ट्रों में से ही 'मैं' और 'अहं' बड़ा बल लेकर उठते हैं और छोटे किन्तु ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित यह 'मैं' और यह 'अहं' बड़े से बड़े राष्ट्र को भी नीचा दिखा बैठते हैं। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है।

भूगोल के अध्ययन और मान-चित्रों में रङ्ग-बिरङ्गी राष्ट्रों की सीमाओं के दर्शन इसी बात को पुष्ट करते हैं।

इस 'मैं' का 'मैं'पन निकाल डालिए, सीधे ईश्वर के दरबार में बे-रोक-टोक आपका प्रवेश हो जाता है। आप अनन्त सुख के अधिकारी हो जाते हैं। उस सुखमय लोक में पहुँचकर यह संसार आपको तुच्छ, हेच दिखाई दे सकता है। संसार की बड़ी-बड़ी 'मैं' और 'हम' की मूर्त्तियाँ आपके चरणों में मस्तक रखकर अपने को कृतकृत्य समझेंगी। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी तत्त्व पर संसार से विमुख होकर आत्मचिन्तन किया था।

तामस पुरुष की 'मैं' उसीको नष्ट कर देती है। राजस पुरुष की 'मैं' स्वयं दुःख में पड़कर अन्यों के दुःखों का कारण और जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि का स्थान बन जाती है। सात्विक पुरुष की 'मैं' स्वयं पार जाती है और अन्य संसारी 'मैं' और 'हम' को अभय दान देती हुई संसार को एकदम उथल-पुथल हो जाने से बचाती है।

अरे भाई, क्या 'मैं' तुम्हारे अकेले के पास ही है जो इतने इतरा रहे हो? क्या जैसे ज़ोर से तुम 'हम' बोलकर ऐंठ रहे हो क्या उसी बल से, उसी ढङ्ग से अन्य कोई 'हम' बोल नहीं सकता? सबके पास, मनुष्य-मात्र के पास ही नहीं, किन्तु संसार में यच्च-यावच्च प्राणिमात्र हैं उन सबके पास 'मैं' भी है और 'हम' भी। फिर तुम्हारा ही माथा इतना क्यों फिर रहा है? जब तक कोई ज़बरदस्त 'मैं' तुम्हारी 'मैं' से न टकरा ले या 'हम' से 'हम' की मुठभेड़ न हो ले क्या तब तक अज्ञानी प्राणी, तुम समझोगे नहीं?

ओ, बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्रो! यह तुम्हारी 'मैं' और 'हम' चिरकाल रहनेवाली नहीं हैं। अपनी 'मैं' और 'हम' को अपने द लित, आधीन जातियों—राष्ट्रों की 'मैं' और 'हम'

भूगोल के अध्ययन और मान-चित्रों में रङ्ग-बिरङ्गी राष्ट्रों की सीमाओं के दर्शन इसी बात को पुष्ट करते हैं।

इस 'मैं' का 'मैं'पन निकाल डालिए, सीधे ईश्वर के दरबार में बे-रोक-टोक आपका प्रवेश हो जाता है। आप अनन्त सुख के अधिकारी हो जाते हैं। उस सुखमय लोक में पहुँचकर यह संसार आपको तुच्छ, हेच दिखाई दे सकता है। संसार की बड़ी-बड़ी 'मैं' और 'हम' की मूर्त्तियाँ आपके चरणों में मस्तक रखकर अपने को कृतकृत्य समझेंगी। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी तत्त्व पर संसार से विमुख होकर आत्मचिन्तन किया था।

तामस पुरुष की 'मैं' उसीको नष्ट कर देती है। राजस पुरुष की 'मैं' स्वयं दुःख में पड़कर अन्यों के दुःखों का कारण और जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि का स्थान बन जाती है। सात्विक पुरुष की 'मैं' स्वयं पार जाती है और अन्य संसारी 'मैं' और 'हम' को अभय दान देती हुई संसार को एकदम उथल-पुथल हो जाने से बचाती है।

अरे भाई, क्या 'मैं' तुम्हारे अकेले के पास ही है जो इतने इतरा रहे हो? क्या जैसे ज़ोर से तुम 'हम' बोलकर ऐंठ रहे हो क्या उसी बल से, उसी ढङ्ग से अन्य कोई 'हम' बोल नहीं सकता? सबके पास, मनुष्य-मात्र के पास ही नहीं, किन्तु संसार में यच्च-यावच्च प्राणिमात्र हैं उन सबके पास 'मैं' भी है और 'हम' भी। फिर तुम्हारा ही माथा इतना क्यों फिर रहा है? जब तक कोई ज़बरदस्त 'मैं' तुम्हारी 'मैं' से न टकरा ले या 'हम' से 'हम' की मुठभेड़ न हो ले क्या तब तक अज्ञानी प्राणी, तुम समझोगे नहीं?

ओ, बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्रो! यह तुम्हारी 'मैं' और 'हम' चिरकाल रहनेवाली नहीं हैं। अपनी 'मैं' और 'हम' को अपने द लित, आधीन जातियों—राष्ट्रों की 'मैं' और 'हम'

में मिलाकर देखो, फिर तुम्हें कैसा आनन्द प्राप्त होता है! 'विजित' और 'विजेता' राष्ट्रों को 'मैं' अलग-अलग बोल रहो है; 'अहं' अलग-अलग बोल रहा है। इसीलिए सस्य-धन-धान्य-पूर्ण यह वसुन्धरा अशान्ति का धाम बन रही है। स्मरण रहे, इस गति से तुम विजेता बनकर भी सुखी नहीं रह सकते और विजित जातियों की 'मैं' किसी दिन ऐसी पलटेगी कि देखते के देखते ही रह जाओगे।

'मैं' बली हूँ—ठीक है; और कोई भी बली हो सकता है। 'मैं' सिद्ध हूँ—अच्छी बात है, सँभले रहो। 'मैं' भोगी हूँ—वाह, देखो आगे के दिन कैसे आते हैं! 'मैं' ने उसको जीत लिया—'बहुत अच्छा'; तुम्हारा जीतनेवाला भी तैयार हो रहा है।

'मुझ'-जैसा कौन है, एक ही वही,—आँखें खोलकर देखो। 'मैं' ने यह किया—किया होगा, किसीपर अहसान? 'मैं' ने वह किया—यह भी ठीक, किया तो क्या हुआ? सब भोग्य वस्तुएँ मेरे पास हैं—होंगी, ये चिरस्थायी नहीं हैं। 'मैं' ही ईश्वर हूँ—बस करो, यह तुम्हारी 'मैं' खाई में गिरने चली!

इतने में 'मृत्यु' ने आ दबाया। साँस उखड़ने लगी। ओ, बली! ओ सिद्ध! ओ भोगो! ओ विजेता! ओ अनुपम! ओ यह और वह करनेवाले! ओ ईश्वर! क्या हुआ? कैसे रो रहे हो? क्यों नहीं अपने को बचा लेते? वह 'मैं' और वह 'हम' की अकड़ कहाँ गई? तेरा धन-धान्य, समृद्धि, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव, तेरी सेना अब कहाँ गई? ओ अज्ञान के पुतले! पहले ही 'मैं' को सँभालकर रखता तो आज इस दुःख को क्यों उठाता? आज बावलों को तरह क्यों बड़बड़ाता? दीन-हीन अंगणिक अनन्यशरण की भाँति क्यों गिड़गिड़ाता? जा, अब नरक में, जा जन्म-मरण के चक्र में, अभी तुझको कई जन्म-जन्मान्तरों के धक्के खाने हैं, ईश्वर तुझ पर कृपा करे!

यह 'मैं' या 'हम' जब दुरभिमान का रूप धारण कर लेते हैं तब समस्त गुणों पर पानी फिर जाता है; दुर्गुणों का उदय होने लगता है; अधःपतन का प्रारम्भ हो समझिए। किन्तु जब यह 'मैं' अथवा 'हम' स्वाभिमान के रूप में चेतता है तब एक विचित्र चेतना उत्पन्न कराता है। दुर्गुण भागने लगता है। स्वावलम्ब सूझने लगता है। आत्मविश्वास आने लगता है। व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति और राष्ट्र में बल आने लगता है। बल प्राप्त होने पर फिर यह स्वाभिमान दुरभिमान में बदल सकता है। अतः ऐसे समय में सावधान रहने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए।

इस समय हमारे शासकों की 'मैं' और उनके 'हम' का काँटा दुरभिमान की ओर झुक रहा है। इसलिए कोई सुनवाई नहीं, न्याय नहीं, यथारीति प्रजा-पालन नहीं। इसीलिए शास्य और शासक दोनों ही दुःख उठा रहे हैं। दोनों ही अशान्त हैं। हमारे शासकों को १५० वर्ष शासन करते हो गये, किन्तु उन्होंने अभी तक अपनी 'मैं' को प्रजा की 'मैं' में नहीं मिलाया। अभी उस 'मैं' ने प्रजा को तलवार निकालकर धमकी दी है कि, "चुप रहो। हमारी समझ में जैसा आवेगा करेंगे। जब जितना समझेंगे उतना देंगे। 'मैं' गीदड़-भभकियों से डरनेवाली 'मैं' नहीं हूँ।" इधर हमारी १५० वर्ष की दासता में पली हुई 'मैं' भेड़ों की भाँति 'में-में-में' कहने लगी। स्वतन्त्र 'मैं' में और गुलाम 'मैं' में कितना अन्तर है !!!

एक 'मैं' आपे को भूली हुई परमात्मा में जाकर लीन होकर ऐसी प्रभावशालिनी हो जाती है कि संसार उसके सामने झुक जाता है। एक 'मैं' अन्य सांसारिक 'मैं'ओं को दबाकर, नोचकर, कुचलकर प्रबल हो जाती है और अपने को ही दूसरा ईश्वर समझने लगती है। तीसरी 'मैं' है गुलामों की, जो न ईश्वर के साथ है और न संसार के साथ। ऐसी 'मैं' तो न इस

लोक में सुखी, न परलोक में सुखी ! उसके लिए तो जन्म-जन्मान्तर की दासता ही है। जिस 'मैं' ने अपने शरीर पर विजय नहीं पाई, जिस 'मैं' ने संसार में प्रभुत्त्व भी नहीं देखा, उस 'मैं' का मूल्य ही क्या है ? उसका मान ही क्या है ?

ओ, भारतवासियो ! तुम्हारी 'मैं' कहाँ है ? तुम्हारी 'हम' कहाँ गई ? गुलाम 'मैं' और 'हम' को ईश्वर के दरबार में स्थान नहीं मिलता। गुलाम 'मैं' और 'हम' को संसार में सुख, शान्ति, समृद्धि, हृष्टि, तुष्टि, पुष्टि का लाभ नहीं मिल सकता। तुम्हारी 'मैं' पूर्वजों की कीर्त्ति, धर्म, पुण्य के भरोसे, दुरभिमान के आश्रय से जीवन व्यतीत कर रही है। उसको वहाँ से हटाकर स्वाभिमान के सहवास में रखिए, जिससे 'सत्' का उदय हो, 'असत्' की हानि हो। आपके पूर्वजों ने इतनी उन्नति की थी कि उन्होंने अपनी 'मैं' और 'हम' को संसार के प्राणिमात्र की 'हम' में मिला डाला था। उनका वही गौरव अब तक स्थिर है; किन्तु हम—उनकी सन्तान—क्या कर रहे हैं ?

'मैं' को अज्ञान में भूल गये। ज़रा उठकर समाधि चढ़ाकर देखो कि 'मैं' कौन हूँ ? एक दिन पूर्ण स्वतन्त्र किन्तु अब सर्वथा पराधीन हूँ। 'मेरा' कौन है ? कोई नहीं। दुर्बल का साथी संसार में कौन होता है ? 'मेरी' क्या शक्ति है ? शक्ति सब कुछ है, शक्ति से कुछ काम लो तब न ?

भारत ! तू अपने स्वरूप को—'मैं' को भूल गया है। अपने स्वरूप को समझकर यदि प्रयत्न करेगा, तो संसार में तेरे लिए कोई वस्तु अगम्य और अलभ्य नहीं है।

इस समय भारतवासी 'मैं' को भुला बैठे हैं, यह 'तामस' भुलावा है। अज्ञान, दुःख-परम्परा, दासता, दरिद्रता इसीके फल हैं। राजस 'मैं' बलहीन 'मैं' हो रहा है और तड़प रहा है। सात्विक 'मैं' भी नितान्त निर्बल है।

एकोनविंश गुच्छक

१—वेद किनसे प्रसन्न रहते हैं ?

परम्परा-क्रम से हम ऋग्वेदी ब्राह्मण हैं। 'ऋग्वेद' हमारा वेद है। 'आश्वलायन संहिता' हमारी शाखा है। 'आश्वलायन' हमारा श्रौतसूत्र है। 'आश्वलायन' हमारा गृह्यसूत्र है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' हमारा ब्राह्मण है। 'ऐतरेयोपनिषद्' हमारी उपनिषद् है। 'ऐतरेयारण्यक' हमारे पूर्व पुरातन पुरुषों का आरण्यक है। गोत्र हमारा 'वत्स' है। जिन गुरुओं की कृपा से हम स्वाध्याय (स्व, अध्याय = स्ववेद = ऋग्वेद) को अध्ययन करके अपनी परम्परा रख सके, उन गुरुओं को नमः, उन गुरुओं को नमः।

अच्छा तो यही था कि हम-जैसे लोग समस्त संसार की चिन्ता छोड़कर वेदशास्त्राभ्यास तथा अध्ययनाध्यापन में ही लगे रहते; किन्तु देश की वर्त्तमान परिस्थिति में सब ध्यान और दिशा में देना पड़ रहा है। तथापि जब कभी उधर से अवकाश मिलता है तब लेखनी और वाणी द्वारा इधर की अल्प-स्वल्प सेवा कर ही देते हैं। चिरकाल के अनुभव के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि

'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्त्तते।'

शस्त्र और शास्त्र दोनों साथ-साथ रहें और न्यायपूर्वक, धर्मपूर्वक रहें तब वेद 'तेजस्वी' बन जाते हैं। जब गुरु और शिष्य—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीत मस्तु मा विद्विषावहै ॥(तैत्तिरीय)

इसका पाठ नित्यप्रति करके अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त होते हैं तब वेद प्रसन्न होते हैं। मूर्खों के हाथों में पड़कर वेद रोने लगते हैं कि कहीं ये हमारा नाश न कर डालें।

'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।'

अब वे दिन कहाँ हैं जब कि भारतवर्ष में द्रोणाचार्य-जैसे ब्राह्मण हों और वे मुक्तकण्ठ से संसार को कह सकें कि—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रम् शापादपि शरादपि॥

हे लोगो, देखो, ये चार वेद हमारे सामने रखे हुए हैं और पीठ पर यह तर्कस और धनुष रखा हुआ है। ये वेद हमारे 'ब्रह्मतेज' के द्योतक हैं और यह तर्कस और धनुष 'क्षात्रतेज' के द्योतक हैं। इसलिए दोनों तेज हमारे पास विद्यमान हैं, शास्त्र से मानते हो तो मानो, इसीमें तुम्हारा भला है, नहीं तो दूसरे तेज से भी हम काम लेना जानते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती 'ब्रह्मतेज' के प्रतिनिधि-स्वरूप थे। वे शास्त्र से ही शस्त्रों के अन्याय का प्रतिकार करना चाहते थे। वे शस्त्र को शास्त्र की अधीनता में लाना चाहते थे। उनके अधीत वेद-शास्त्र तेजस्वी थे, इसीलिए अकेले इतना बड़ा कार्य कर गये। आओ, वाचकवृन्द, इस अवसर पर उस पुण्य-श्लोक, तेजस्वी, वर्चस्वी स्वामी का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करें, क्योंकि इस युग में—इस वैज्ञानिक युग में—स्वामीजी की कृपा से ही हमारा मस्तिष्क और हृदय बदल गया है। उन्हीं की कृपा से वेद-शास्त्रों की ओर हमारी प्रवृत्ति बढ़ चली है, उन्हीं-की कृपा से भारतवर्ष अपने स्वरूप को पहचानने में सफल हो सका है। यह सब उन्हींके विद्या और तप का प्रभाव है।

आज आर्यसमाज के सामने दो प्रश्न हैं—या तो तप-तप-तप (तप करो, तप करो, तप करो) अन्यथा पत-पत-पत (गिरो, गिरो, गिरो और खूब गिरो)। देखें, आर्यसमाज क्या करता है? 'तपन' के अभाव में 'पतन' तो अवश्यम्भावी है।

'सत्यं च मे श्रद्धा च मे' (यजुः १८-५)

मुझे क्या चाहिए ? मुझे कुछ नहीं चाहिए, चाहिए केवल 'सत्य' और 'श्रद्धा' जिसके बल पर मैं स्व-स्थान पर बैठे-बैठे संसार की अलभ्य-से-अलभ्य वस्तु प्राप्त कर सकता हूँ। प्राप्त तो कर सकता हूँ, पर मुझमें वह अटल सत्य और श्रद्धा हो तब न ? जब प्रातःकाल उठकर श्रद्धा देवी का श्रद्धा-पूर्वक आह्वान करूँ तब न ? वह वैदिक समय कितना पवित्र और सुखकर रहा होगा जब प्राचीन ऋषि-मुनि-महात्मा प्रातःकाल उठकर 'पुरा शकुनि-वादात्' पौ फटने के पहले ही, पक्षियों के शब्दों के पहले ही—

'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे'

इत्यादि प्रातरनुवाक द्वारा श्रद्धापूर्वक देवताओं का आह्वान करते रहते थे। श्रद्धापूर्वक—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

(ऋ० १०-१२-१५१)

श्रद्धा देवी का आह्वान करके कहते होंगे—श्रद्धे ! हम तेरा आह्वान प्रातःकाल करते हैं, मध्याह्न में करते हैं, फिर सायङ्काल सूर्यास्त के समय तुझे बुलाते हैं, श्रद्धे ! तू ही अपने में हमारी श्रद्धा करा। यज्ञ करने-करवानेवाले देव = विद्वान् पहले तेरी ही उपासना करते हैं फिर उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं, हृदयान्त-

स्तल के गूढ़ अभिप्राय सिद्ध होते हैं, संसार के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। देव तेरा ही आश्रय लेकर असुरों के विनाश के लिए उनके पीछे पड़ जाते हैं तब कहीं वे उनपर विजय पाते हैं। श्रद्धापूर्वक जो अग्नि का समिन्धन करेगा उसीका यज्ञ सफल होता है; श्रद्धापूर्वक जो कोई हवि देता है उसीकी हवि सफल होती है। श्रद्धा समस्त ऐश्वर्य के सिर पर है। उसीका श्रद्धायुक्त वाणी द्वारा आह्वान करें, उसीको वचसा=वेदों से जानें। श्रद्धापूर्वक देनेवाले का ही प्रिय होता है, श्रद्धापूर्वक देने की इच्छा रखनेवाले का ही भला होता है, समस्त प्रकार के भोग-ऐश्वर्य देनेवाले यज्ञों में भी तभी प्रिय होता है जब सब कार्य विधि-विधानपूर्वक, श्रद्धापूर्वक हो, इसलिए श्रद्धे! हमारा कहना मान, अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करके तू ही अपने में श्रद्धा करा।

वेद श्रद्धा से ही सुलझेंगे। वेद ईश्वर के=परब्रह्म के निःश्वसित हैं, ऋषि-मुनि-महात्मा भी वेदों के आश्रय से ही श्वास-प्रश्वास लेते रहे हैं, आर्य-जाति को वेदों का ही समाश्वासन रहा है, आर्य-संस्कृति अब भी वेदों के नाम पर ही जीवित, कुछ जाग्रत है। जब यह बात है तो वेदों का ज्ञान आर्य-जाति के लिए, संसार के कल्याण के लिए आवश्यक, अपरिहार्य है और वे वेद तब सुलझेंगे जब श्रद्धा होगी, जब आर्य-जाति के बच्चे विद्या और तप का आश्रय लेकर वेद के स्वरूप को जानने का भरसक यत्न करेंगे।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्युत्वे॥

(ऋ०-१०-६-७१-८)

जब विद्या-तपोयुक्त ब्राह्मण प्रसन्न हृदय से मन की गति को वेदों में लगाते हैं तब उनकी प्रतिभा जाग्रत होती है और वेद

उनके मित्र बनकर स्व-रूप को पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं। अन्यों की ओर वेद झाँकते भी नहीं।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
(ऋ० १०-६-७१-६)

जिसने सत्य का ज्ञान करा देनेवाले सखा=वेद को छोड़ा उसका फिर वेद-ज्ञान में क्या अधिकार है, क्या भाग है? यदि वेदों का नाम लेता है तो वह ख़ाली नाम ही नाम है; वह सुकृत का, कल्याण का पन्था=मार्ग नहीं जान सकता।

ऋषि-मुनि-महात्मा ध्यानावस्थित होकर अभिध्यान करते रहते थे, तब उनको वेदों का अथवा जिस-जिस भी वेद-मन्त्र पर वे दृष्टि डालते थे उस वेद-मन्त्र के अर्थ का यथार्थ भान होता था। पुरातन काल में इसी प्रकार ऋषिगण अपने अनुभव अपने शिष्यों को बतला गये और उनके शिष्यगणों ने उन अनुभवों को लेखबद्ध किया। उसीके आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋषियों की दृष्टि में, सब ऋषियों की दृष्टि में नहीं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की दृष्टि में वेद मनुष्योपयोगी सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं, इसीलिए वे सृष्टि की आदि में ऋषियों के हृदय में प्रकट हुए और परम्परा से आज तक आ रहे हैं। जब हम यह ध्यान करते हैं कि वेदोंको यह पवित्र धरोहर—यह अनन्त सम्पत्ति—बराबर सृष्टि की आदि से चली आ रही है तब हृदय एक अपूर्व भाव से भर जाता है और हम यह सोचने लगते हैं कि आर्य-संस्कृति के उपासकों का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है जिसको पूरा न करने से हम किस गहरे गर्त्त (गढ़े) में जा पड़ेंगे। केवल भारतीय आत्माओं के उद्धारार्थ नहीं, अपितु संसार की समस्त आत्माओं के उद्धारार्थ इस धरोहर की रक्षा करने के लिए दीक्षा लेने की आवश्यकता है।

वेदों में क्या है? इसका उत्तर यही है कि क्या नहीं है? मनुष्य संसार में आता है अथवा कर्मानुसार फल भोगने के लिए आता है तो उसका मार्ग-दर्शक कोई न कोई होना ही चाहिए। वह यदि स्वीय अल्पज्ञता से संसार में भटकता हो रहा तो फिर मनुष्य-जन्म सार्थक तो न हुआ–'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्ति-र्मन्त्रो वेदे'(निरुक्त)—जब पुरुष की विद्या, पुरुष का ज्ञान सीमित रहा तब वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को कैसे जान सकेगा? अतःवेद में विधि-निषेध-रूप में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रबोधन द्वारा कर्मफल का दिग्दर्शन कराते हुए ईश्वरीय ज्ञान का दिग्दर्शन कराया है।

चार वेद, उसकी ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाएँ अर्थात् "चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः" (महाभाष्य) आदि मिलाकर वेदों का इतना अधिक विस्तार है कि उसको लेखनी वर्णन नहीं कर सकती। यह तो हुई 'अपरा' विद्या की बात।'परा' विद्या इससे परे है। इसीलिए अपरा से परा जानने की बात कही गई है। अब तो वेदों के और उसकी शाखाओं के अनेक भाष्य मिलते हैं पर जब पुरातन काल में वेदों को वेदों से ही जानने की प्रथा थी तब वेद अत्यन्त तेजस्वी रूप में थे—इसमें सन्देह नहीं।

यदि वेद केवल ऋषियों की कृति होती, यदि वेद केवल उनकी यात्रा के वर्णनात्मक मन्त्र-भाग होते, ऋषि-मुनियों के स्वप्न होते, वैदिक सभ्यता के इतिहास होते, तो ऋषि-मुनियों को क्या आवश्यकता थी कि वे उनको इतना महत्त्व देते, उनकी इतनी पूजा करते, उनके एकाएक अक्षर को सस्वर कण्ठस्थ रख-कर वेदों की अनन्त परम्परा को स्थिर रखते? क्या आवश्यकता थी कि ब्राह्मणकार, धर्मशास्त्रकार, उपनिषत्कार, शास्त्रकार वेदों को समानरूप से श्रद्धा-पूर्वक सिर झुकाते? वेदों की परम्परा को रखनेवाले ब्राह्मण शाखा-प्रशाखा की इस प्रकार रक्षा करते और उनके लिए प्राण तक देते? वेदों के आभ्यन्तर तथा बाह्य

पुष्ट प्रमाण इसी बात के द्योतक हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है और मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ ही उसकी सृष्टि हुई है। जो आधुनिक विद्वान् वेदों को ऐतिहासिक रूप देकर वेदों को और ही दृष्टि से देखते हैं वे वेदों के गौरव को घटाते हैं, उनको अत्युच्चासन से नीचे लाते हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य के काल तक तो वेद उसी उच्चासन पर रहे, जहाँ कि मन्वादि महर्षि मानते थे। फिर शनैः शनैः अर्वाचीन विद्वानों की दृष्टि से वेद अर्वाचीन दिखलाई देने लगे। इस युग में स्वामी दयानन्द ही एक ऐसे प्रबल तेजस्वी महापुरुष आचार्य हुए जिन्होंने वेदों को उसी स्थान पर बैठाने का उद्योग किया—नहीं-नहीं, वेद तो उसी उच्चासन पर थे किन्तु अर्वाचीन विद्वानों की दृष्टि में ऐसे अर्वाचीन भासते थे—कि जहाँ मन्वादि महर्षि मानते थे। उन्होंने प्राचीन ऋषि-मुनियों के शब्दों में ही वेदों को समझा-समझाया और अर्वाचीन समस्त आक्षेपों, कल्पनाओं और सिद्धान्तों का खण्डन कर डाला। वेदों को ऐतिहासिक रूप देने से वेद एक जाति के, एक राष्ट्र के, एक देश के बन जाते हैं और उनका वह व्यापक स्वरूप नहीं रहता। इस दशा में भी संसार भर के कल्याण करने की शक्ति उनमें रहती है सही, किन्तु, वेदों का वह उच्च स्थान नहीं रहता। ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष, जाति विशेष, राष्ट्र विशेष से बँधा न रहना चाहिए, किसी देश की भाषा विशेष से बँधा न रहना चाहिए। जो लोग समझ रहे हैं कि वेद संस्कृत भाषा में हैं और संस्कृत आर्यों की भाषा थी इसलिए वेद आर्यों के हैं, वे भूलते हैं। वेद तो 'वेद-वाणी' में हैं जिससे 'देववाणी' उत्पन्न हुई। देववाणी ही संस्कृत है और देववाणी का वेदवाणी से सम्बन्ध होने से वह उसके निकट पड़ती है—यह बात ठीक है। देववाणी से अन्य अनेक वाणियों की उत्पत्ति हुई है। वेदवाणी संसार की समस्त

भाषाओं की नानी है। केवल शब्दसाम्य, अक्षरसाम्य, नामसाम्य के बल पर वेदों को अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न अनुचित है। पाश्चात्य विद्वानों की वेदनिर्वचन-पद्धति पौरस्त्य-निर्वचन-पद्धति से सर्वथा भिन्न है। वेदनिर्वचन वैदिक पद्धति से ही होना चाहिए। इसीलिए तो अर्वाचीन तथा वर्त्तमान पाश्चात्य दृष्टि से वेदों को देखनेवाले पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् वेदों का गौरव तो बढ़ाते हैं पर उनको उस अत्युच्च गौरव-स्थली पर बैठाने में असमर्थ हैं जहाँ कि मन्वादि महर्षि मानते हैं। यही हमारा मतभेद है। जो विद्वान् ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की धातुओं से हमारे वेदों के शब्दों का निर्वचन करते हैं वे वेद-मन्थन की विधि नहीं जानते, इसीलिए हम उनकी बातों को नहीं मानते।

कोई वेदों से यह सिद्ध करते हैं कि आर्य लोग मध्य एशिया से समस्त संसार में फैले—गये—उन्हींकी यात्रा व सभ्यता का वर्णन वेदों में है। कोई आर्यों को उत्तरीय ध्रुव में ले जाकर बैठाते हैं, फिर उनको भारत में लाते हैं। कोई आर्यों को ईरान से यहाँ लाते हैं। कोई अफ़ग़ानिस्तान से लेकर भारत तक बहनेवाली इक्कीस नदियों का साम्य वर्त्तमान नदियों से जोड़कर आर्यों को वहाँ से यहाँ लाते हैं। कोई पञ्जाब की पाँच नदियों के प्रदेश में आर्यों को ला बैठाते हैं। कोई इसमें ग्रीस और सीरिया की सभ्यता का आभास देख रहे हैं। यह सब इसीलिए है कि 'वेद-मन्थन' वैदिक दृष्टि और पद्धतियों से नहीं हो रहा। भूगर्भविद्या-विशारद अब शनैः शनैः वेदों का काल बढ़ा रहे हैं और यदि यही प्रगति रही तो वह समय दूर नहीं है जब वे वेदों के ही शब्दों में कह सकेंगे कि—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः तेऽनु मन्यन्ता महृणीयमानाः॥

द्वे युगे (२) त्रीणि (३) चत्त्वारि (४) इत्यादि अर्थात् 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस रीति से ४३२ × शत (१००)× अयुत (१००००) = ४३२०००००० वर्ष हटो पीछे पीछे। क्या लिये बैठे हो हज़ार, दो हज़ार, चार हज़ार, छः हज़ार वर्षों को !

स्वामी दयानन्द का यही बड़ा भारी उपकार है कि वे वेदों को निष्कलङ्क करके उसी स्थान पर ला बैठाते हैं जो कि उनके अनुरूप है। जब और जहाँ भी प्रथम-प्रथम मनुष्य-सृष्टि हुई वहीं वेदों का प्रथम-प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। इस समय तक छः मन्वन्तर हो चुके हैं और सातवाँ वैवस्वत चल रहा है।

सतयुग १७२८०००; त्रेता १२९६०००; द्वापर ८६४०००; कलि-युग ४३२०००। चारों युगों की एक चतुर्युगी=४३२०००० वर्ष। ७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर=३०६७२०००० वर्ष। (छः मन्वन्तरों का बीता हुआ काल=१८४०३२००००)+ (वैवस्वत मनु का भुगता हुआ काल=१२०५३२९७६ वर्ष)= १९६०८५२९७६ वष बीत गये।

स्वामीजी के हिसाब से संवत् १९३३ तक १९६०८५२९७६ वर्ष होते हैं। इसमें संवत् १९९२ तक के और ५६ वर्ष मिलाकर आज तक के १९६०८५३०३५ इतने वर्ष होते हैं अर्थात् वेद-काल, को सृष्टि-काल तक पीछे ले जाना पड़ेगा। भला ऐसे वेदों में मध्य एशिया, उत्तर ध्रुव, ईरान, तुर्किस्तान, पञ्जाब, आर्यावर्त्त, ग्रीस, सीरिया आदि का क्या काम ? यह केवल नामसाम्य के भ्रम हैं और कुछ नहीं। रामायण, महाभारत तथा अन्य काव्य-ग्रन्थों में नरदेव शब्द प्रायः आया है। उसको देखकर इन पंक्तियों का लेखक यह समझकर खुश होने लगे कि यह नाम उसका ही है अथवा लेखक की मृत्यु के पश्चात् उसके शिष्य यही समझने लगें कि नरदेव शास्त्री तो महाभारत के पहले हुए इत्यादि, तो यह कोई तर्कसङ्गत बात न होगी। इसी प्रकार

'इन्द्र', 'अग्नि', 'विश्वेदेव' हमको अनुमति देवें कि उनको कृपा से हम सौ, दो सौ, तीन सौ, चार सौ, सहस्र, दश सहस्र वर्ष की आयु ऐसे कर्मों को करते हुए भोगें। परन्तु इस अर्थ में एक बड़ी विपत्ति है कि इतनी बड़ी आयु हो सकेगी कि नहीं। 'जीवेम शरदः शतम्'—इस मन्त्र में वेद मनुष्य की सौ वर्ष की आयु बतलाता है और 'भूयश्च शरदः शतात्' यह भी कहता है और सौ वर्ष से भी अधिक आयु के लिए प्रार्थना है। उपनिषद् में एक सौ बीस वर्ष की आयु का उल्लेख है। वर्त्तमान समय में भी डेढ़ सौ वर्ष की आयु के मनुष्य मिले हैं। योगी योग-बल से सौ, दो सौ, तीन सौ, चार सौ वर्ष तक जी सकते होंगे; पर मनुष्य का यह भौतिक शरीर योग-बल पर सहस्र, दश सहस्र वर्ष तक जीवित रह सकेगा कि नहीं—यह विचारणीय है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में आता है—"शतं तेऽयुतं।" इस मन्त्र के उल्लेख में हमने 'तेऽयुतं' इन दो शब्दों का छेद 'ते+अयुतं' करके और प्रकार का अर्थ किया है; किन्तु एक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् का मत है कि 'ते+अयुतं' ऐसा छेद न किया जाय और 'ते युतं' ऐसा ही समझकर उस मन्त्र का यह अर्थ किया जाय कि इन्द्र, अग्नि तथा विश्वेदेव हम पर अनुग्रह करें जिससे हम शतं (१००) द्वे (२००) त्रीणि (३००) चत्वारि (४००) हायनान् (वर्ष) ऐसे बितायें जिसमें हमको किसी विषय में लज्जित न होना पड़े—शुभ जीवन व्यतीत करें। सङ्गति तो ठीक बैठती है। हमने पूर्व वक्तव्य में शत × अयुत × ४३२ इस प्रकार ४३२०००००० वर्ष लगाये हैं, उसमें इतना समझ लीजिए कि शत × अयुत नहीं किन्तु शत और अयुत के मध्य में सहस्र का अध्याहार करके सहस्र × अयुत × ४३२ है। 'शत' का सम्बन्ध केवल मनुष्य की आयु से लगाना चाहिए और

द्वे, त्रीणि, चत्वारि के साथ जोड़कर सङ्गति लगा लेनी चाहिए। इस मन्त्र पर अन्य विद्वान् अपने-अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

वेद में क्या है? (१) एक परमात्मा का वर्णन है। (२) उसकी सत्ता और महत्ता का वर्णन है। (३) वही चराचर जगत् का स्वामी है। (४) उसके विराट् स्वरूप का वर्णन है। (५) प्रकृति और उसकी सोलह विकृतियों का उल्लेख है। (६) जीवात्मा के लिए ही यह दृश्य (विकृतिमय जगत्) है। (७) वही कर्म-फल भोगता है। (८) वही जन्म-मरण के चक्र में आता है। (९) वही मोक्ष-मार्ग प्राप्त कर सकता है। (१०) किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए इत्यादि का उल्लेख है। (११) कौटुम्बिक जीवन। (१२) सामुदायिक जीवन। (१३) व्यक्तिगत प्रार्थना। (१४) समष्टिरूप की प्रार्थना। (१५) मन की गति, इन्द्रिय-दमन की युक्ति। (१६) पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्रा आदि का उल्लेख। (१७) अग्नि-वायु-इन्द्र देवता के कार्य्य का वर्णन। (१८) तेतीस देवताओं का वर्णन। (१९) ऋतु-चक्र, संवत्सर चक्र। (२०) आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य। (२१) द्वादश मास। (२२) शारीर-विज्ञान। (२३) आत्म-विज्ञान। (२४) मनोविज्ञान। (२५) परा विद्या का मूल। (२६) परमात्मा ही वेद ज्ञान का प्रेरक। (२७) वाचो विज्ञान। (२८) विद्वान् की शक्ति। (२९) सभा-विज्ञान—कई प्रकार की सभाएँ। (३०) राजा का कर्त्तव्य, प्रजा का कर्त्तव्य, परस्पर सम्बन्ध। (३१) भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष), स्वः (सूर्यलोक)। (३२) मूल प्रकृति, सृष्टि-उत्पत्ति- के पूर्व की दशा। (३३) मनुष्य की अभिकांक्षाएँ और उनकी पूर्त्ति का साधन-यज्ञ। (३४) आधिदैविक देवासुर-संग्राम। (३५) आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम। (३६) आधिभौतिक देवासुर-संग्राम—इत्यादि-इत्यादि सैकड़ों विषयों पर प्रकाश है। वेद नाम

ही ज्ञान-विज्ञान का है, वह जिस पुस्तक में हो, वह पुस्तक 'वेद' नाम से प्रचलित है। पहले सब वेद कण्ठपरम्परा से ही सीखे-सिखाये जाते थे। कई युग तक यही प्रथा रही। फिर जैसे-जैसे धारणा-शक्ति का ह्रास होता गया वेद कण्ठस्थ भी रहे और पुस्तक रूप में भी प्रचलित हुए। अब तो कुल-परम्परा के वैदिकों के यहाँ ही अपने-अपने वेद कण्ठस्थ करने व रखने की प्रथा है। किन्हीं कुलों में तत्तद् वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र भी सस्वर कण्ठस्थ रखने की चाल अब तक है। धन्य है इनको जो परम्परा से वैदिक वाङ्मय की रक्षा करते चले आये हैं।

आज ही वेदों पर कोई आक्षेप कर रहे हैं—यह बात नहीं। निरुक्त-समय में भी वेदों पर भरपेट आक्षेप करनेवालों का एक प्रबल पक्ष था; वेदों में इतिहास माननेवालों का भी एक पक्ष था; वेदों को सर्वथा यज्ञपरक माननेवालों का भी एक पक्ष था; देवताओं को चेतन माननेवालों का भी एक पक्ष था; देवताओं को अचेतन, कर्मात्मक और उनके स्वामी अधिष्ठाता को चेतन माननेवालों का भी एक पक्ष था—इस प्रकार अर्वाचीन काल में वेदों के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ रही हैं। सबसे प्राचीन सर्वसम्मत, आदरणीय मत यही रहा है कि वेद 'अपौरुषेय' हैं। यदि ईश्वर को पुरुष माना जाय तो 'पौरुषेय' भी कह सकते हैं; किन्तु यदि 'पुरुष' शब्द से ऋषि-मुनि लिये जायँ तो उस अर्थ में 'पौरुषेय' नहीं हैं।

आक्षेपों का थोड़ा-सा दिग्दर्शन कीजिए:—(१) वेद-मन्त्र निरर्थक हैं। (२) ब्राह्मण-ग्रन्थों की सहायता के विना इनका अर्थ ही नहीं बन सकता। (३) इनमें परस्पर विरोध है। (४) इनमें अत्युक्ति है। (५) इनमें पुनरुक्ति है। (६) मन्त्रों के शब्द अस्पष्ट हैं। (७) वेद पौरुषेय हैं। (८) वेदों में इतिहास है—इत्यादि-इत्यादि।

निरुक्तकार ने प्रायः इन आक्षेपों का निरसन कर दिया है और केवल अन्य पक्षों के दिग्दर्शनार्थ उन-उन पक्षों का उल्लेख किया है। निरुक्तकार स्वयं कहते और मानते हैं कि—

'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, तद्दृषीणा-मृषित्वमिति विज्ञायते'

तपस्यमान ऋषियों के हृदयों में स्वयम्भू ब्रह्म (वेद) प्रकट हुए। यही ऋषियों का ऋषित्व है।

वेदों की यही विशेषता है कि उसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति दोष नहीं है। वह किसी देश विशेष, काल विशेष, जाति विशेष, राष्ट्र विशेष अथवा भाषा विशेष से बद्ध नहीं।

लोग पूछ सकते हैं कि एक ही वेद-मन्त्र के इतने भिन्न-भिन्न अर्थ क्यों होते हैं? वही चारों वेद, फिर भाष्यकारों के भाष्यों में इतना अन्तर क्यों? प्रत्येक वेद-मन्त्र के तीन ही प्रकार के अर्थ हो सकते हैं—आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक। यह तो भाष्यकार अथवा मन्त्रद्रष्टा ऋषि की विद्या-तपस्या पर निर्भर है कि वह किस प्रकार की दृष्टि देगा, वेद-मन्त्रों में किस भाव से प्रवेश करेगा।

निरुक्ति के शब्दों में हम कहेंगे कि—

'यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति'

जैसे सामान्य जनता में विद्याविशेष से पुरुष की ख्याति होती है वैसे ही पारावारवेदी वेदज्ञों में जो भी जितना भी अधिक विद्वान्-तपस्वी होगा उसीकी बात प्रमाण मानी जायगी।

'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्'

इस मन्त्र को निरुक्ति के अवसर पर निरुक्तकार ने लिखा है कि—

'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋंषिर्भविष्यतीति तेभ्य ऐतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ।'

जब ऋषि संसार से विरक्त होकर जाने लगे तब मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब तक तो ऋषि हमें अर्थ बतलाते थे, वेदों का तत्त्व समझाते रहते थे, अब हमारे ऋषि कौन होंगे ? तब ऋषियों ने कहा कि हम तुम्हें 'तर्क-ऋषि' दे जाते हैं, इनसे काम लेना, इन्हीं का आश्रय लेकर ऊहना करना, मन्त्रार्थ चिन्ता (चिन्तन) करना—इसीलिए तब से अनूचान = विद्यातपोयुक्त वेदज्ञ जो कुछ ऊहना करता चला आया है वही 'आर्ष' माना जाता रहा है ।

वेदार्थ-प्रकार क्या है ? क्या केवल तर्क से काम चल जायगा ? इसका उत्तर भी निरुक्तकार स्वयं स्पष्ट रूप में देते हैं—

'अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात् ।'

यह मन्त्रार्थ चिन्ता (चिन्तन) के लिए ऊहना का प्रकार है । वेदार्थ की ऊहना 'श्रुति' अर्थात् स्वयं वेदों से और 'तर्क' से भी होनी चाहिए । केवल श्रुति से नहीं और न केवल तर्क से । दोनों के आश्रय से अर्थ होना चाहिए और प्रकरण भी देख लेना चाहिए । स्मरण रहे कि 'अनृषि और अतपस्वी को मन्त्रार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते ।' इस दृष्टि से साधारण विद्वान् अथवा अनृषि और अतपस्वी को वेदभाष्य करने का कोई अधिकार नहीं । यदि कोई अनधिकार चेष्टा करेगा तो सर्वथा असफल रहेगा, उपहास का पात्र बनेगा । इसलिए वेदों का सत्य अविकल स्वरूप जानने के लिए तपोदीक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है ।

आज-कल वेदभाष्यकार इतने सस्ते हो गये हैं कि इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते। न उतनी विद्या, न तप, और धृष्टता इतनी कि अपने को वेदभाष्यकार लिखने में तनिक भी नहीं सकुचाते! ऐसे वेदभाष्यकार और उनके भाष्यों का उतना भी मूल्य नहीं जितना कि उन काग़ज़ों का, जिनपर कि वे भाष्य छापे गये हैं। फिर क्या करना चाहिए? वेदों में आस्था हो और लगाने के लिए जीवन हो तो एक सुरम्य आश्रम स्थापन करके (कहीं हिमालय में) वहाँ दस-बीस-तीस विद्वान् रहें, तप तपें और सम्मिलित बुद्धि से काम लेवें, तब वेदों का प्रकाश होगा, तभी आर्यसमाज वेद-विषय में कुछ कर सकेगा। अथवा गुरुकुलों से निकलनेवाले ब्रह्मचारी संसार की चिन्ता को छोड़कर वेदों के लिए ही गलें, खपें, जीवन अर्पण करें। जिस प्रकार सस्ते भाव से आज-कल काम चल रहा है इससे न तो वेद प्रसन्न होंगे और न वेदोद्धार ही होगा।

आर्यसमाज के सामने बहुत काम पड़ा है। वेदों के उद्धार के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थ और कर्म-काण्ड के ग्रन्थों का भी उद्धार परमावश्यक है। 'यज्ञ-पुरुष' की खोज भी परमावश्यक है। दस-दस, बीस-बीस विद्वान् निष्ठापूर्वक कहीं बैठें और 'मन्त्रार्थचिन्ता' करें, तब तो कुछ हो। और लोग पूछ सकते हैं कि आप भी इस कार्य में क्यों नहीं जुटते? सविनय उत्तर यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से पचास वर्ष की आयुवाला पुरुष संसार के लिए निकम्मा हो जाता है और अँगरेज़ी दृष्टि से पचपन साल वाला पेन्शन में निकाला जाता है। इस दृष्टि से हमारी आयु का पचपनवाँ वर्ष चल रहा है और हम आर्यसमाज से अथवा समस्त सार्वजनिक कार्यों से पेन्शन पाने के पूर्ण अधिकारी हो गये हैं। अब तो यह काम नई तेजस्वी पीढ़ी का है और उन्हीं से आशा भी करनी चाहिए।

स्वामी दयानन्द का उद्देश्य वेदों द्वारा संसार भर के कल्याण करने का था, इसीलिए आर्यसमाज की स्थापना हुई थी और आर्यसमाज ने वेदों के विषय में अब तक जो कुछ किया वह 'शाब्दिक' कार्य ही है । 'वेद-प्रचार' का नाम भी खूब चला। 'वेदों' का नाम भी खूब लिया गया और लिया जा रहा है। वेदोद्धारार्थ प्राचीन शिक्षणालयों की सृष्टि भी हुई किन्तु आज भी हम निःसङ्कोच यह कह सकते हैं कि अनृषि, अतपस्वी, अश्रद्धालु, ब्रह्मचारिवृन्द इस विषय में कुछ नहीं कर सके हैं, प्रत्युत बहुत से वेदविरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में भी नहीं हिचकिचा रहे हैं । वेदों का प्रचार-प्रसार विद्या और तप से ही होगा। वेदों का प्रकाश तेजस्वी गुरु-शिष्यों द्वारा किये गये तेजस्वी अध्ययनाध्यापन द्वारा होगा। हमको बहुत खेद होता है जब हम देखते हैं कि आर्यों की सन्तान पाश्चात्य रङ्ग-ढङ्ग पर पल रही है अथवा जा रही है। आर्यों का धनबल, जनबल, तपोबल अँगरेज़ी-शिक्षणालयों पर खर्च हो रहा है। प्राचीन शिक्षा के उद्धारार्थ जो संस्थाएँ खुली हुई हैं वह एक तो संख्या में दस-पाँच हैं फिर उनमें भी खिचड़ी पक रही है, विशुद्ध वैदिक पद्धति की शिक्षा-दीक्षा नहीं, विद्वानों का यथार्थ आदर नहीं, वह तप नहीं, श्रद्धा नहीं, भक्ति नहीं, मूर्ख-मण्डली के अधीन पलते रहनेवाले विद्वान् क्या तो विद्यादान करेंगे और क्या तपोदीक्षा लेंगे ? गुरु-शिष्य-भाव नष्ट हो रहा है। ऐसी दशा में लेखक को सन्देह है कि आर्यसमाज अब तक जो कुछ कर सका है उससे कुछ अधिक कर सकेगा। हमको तनिक भी सन्देह नहीं है कि संसार फिर वेदों के प्रकाश द्वारा आह्लादित होगा, फिर आर्य-संस्कृति और आर्य-सभ्यता का उद्धार होगा, फिर आर्यों का मुख उज्ज्वल होगा, फिर आर्यावर्त्त के ऋषि-मुनि संसार को चरित्र-शिक्षा देने में समर्थ होंगे, फिर

आर्यावर्त्त के गुरु संसार के गुरु होंगे, फिर वेद-शास्त्रों की विजय होगी, फिर उच्छृङ्खल शस्त्र वेद-शास्त्र के अधीन रहकर संसार भर के अनाचार-अत्याचार के नष्ट करने में समर्थ होंगे। पर यह सब कुछ वर्त्तमान आर्यसमाज कर सकेगा—इस विषय में हमको सन्देह है, बड़ा भारी सन्देह है।

फिर इस काम को करेगा कौन? इसका उत्तर हमसे कोई पूछे तो हम यही कहेंगे कि भारत के जिस कोने में भी सच्चे गुरु और शिष्य सद्भाव से बैठकर 'मम चित्त मनु चित्तं तेऽस्तु' कहकर बैठेंगे, 'सहनाववतु' की पद्धति का अवलम्बन करेंगे, विद्या और तप की उग्रता से अपनायेंगे, गुरु-शिष्यों के बीच में तीसरा कोई न होगा और जहाँ निरुक्त के कथनानुसार तपो-निधि गुरु विद्यानिधि शिष्य को वेद पढ़ायेंगे वहीं वेद सफल होंगे, तेजस्वी होंगे। हमको तो इन कमेटी-कुलों से तनिक भी आशा नहीं, जहाँ कठिनता से अब तक वेदाङ्गों का, कुछ शास्त्रों का उद्धार हो सका है; जहाँ वेद-शास्त्र बिकते हैं, जहाँ गुरु-शिष्यों में सौमनस्य नहीं रहता, जहाँ गुरु स्वतन्त्र नहीं रहते, जहाँ गुरुओं को स्व-जीविका के कारण शरीर-मन-वचन-कर्म को बेचना पड़ता है; वहाँ कुछ नहीं होगा, वहाँ वेदोद्धार नहीं होगा—वहाँ अब तक जो कुछ हुआ, हो गया।

'एक विरजानन्द ने एक दयानन्द को' भर-मथुरा के बाज़ार पीठ थोपी और संसार ने एक सच्चे गुरु के एक सच्चे शिष्य का चमत्कार देख लिया। विद्या ब्राह्मण के पास आई और बोली—

विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्तेन द्रह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

विद्या—हे विद्वान् गुरो ! मेरी रक्षा करो।

गुरु—क्यों क्या हुआ ?

विद्या—तुम तो अधिकारी-अनधिकारी सबको पढ़ाते हो ?

गुरु—इससे क्या हुआ, विद्या के तो सब अधिकारी हैं ?

विद्या—यह तो ठीक है, पर ज़रा यह तो देख लिया करो कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का ठीक पालन तो करता है, मेधावी तो है, तपस्वी तो है द्रोही तो नहीं है, निन्दक तो नहीं है, शुद्ध तो है, अप्रमत्त तो है, सरल तो है, शठ तो नहीं है ? इन बातों की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करो और फिर पढ़ाओ तो विद्या सफल होगी, वेद सफल होंगे; नहीं तो राख के ढेर में 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' समझो। और विद्या शिष्य से बोली।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥
आध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

हे शिष्यो ! जो गुरु सत्य ज्ञान द्वारा, कर्णों को तनिक भी पीड़ा न पहुँचाता हुआ, असत्य, अज्ञान, अनृत के फन्दों को काटता है, उस गुरु को तुम माता-पिता जानो और स्मरण रखो, किसी दशा में भी उससे द्रोह न करो और जो शिष्य मन-वचन-कर्म से अपने गुरुओं का आदर नहीं करते—जैसे गुरु उनकी पालना नहीं करता वैसे उससे अधीत वेद-शास्त्र भी तो उसका साथ नहीं देता—उनका सब परिश्रम विफल हो जाता है।

इसलिए हम सच्चे गुरु और सच्चे शिष्यों से प्रार्थना करते हुए इस लेख को समाप्त करते हैं कि 'विद्या' की बात का ध्यान रखते हुए वेदों का स्वाध्याय, प्रचार, प्रसार, प्रकाश करने में तत्पर रहो—तभी आपको यह तर्पण करने का अधिकार होगा कि 'वेदास्तृप्यन्ताम्।'

२—व्यास पर्वत के उच्च शिखर से—

भारत-भूषण महामना श्री पण्डित मदनमोहन मालवीयजी स्वास्थ्य-सम्पादनार्थ काशी से मसूरी शैलशिखर पर पधारे हैं। कल ता० १४-१०-३५ को हम उनके दर्शनार्थ हाइलैण्ड (High land) नामक निवास-स्थल पर पहुँचे थे। दोनों ओर से 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्' के अनुसार कुशल-प्रश्न होने पर अनेक धार्मिक, राजनैतिक, इतिहास, पुराण, भागवत, वेद, यज्ञ, उपनिषद् आदि विषयों पर बहुत देर तक चर्चा रही। यद्यपि मालवीयजी अत्यन्त कृश थे तथापि जब वे चर्चा चलाते थे तो उस चर्चा को सुनकर कोई यह नहीं कह सकता था कि वे रुग्ण हैं। उनके मुख से सरस्वती की धारा अव्याहत तथा अस्खलित रूप में प्रवाहित होती दिखलाई पड़ती थी। आपने पुराण और वेदों का समन्वय दिखलाने के लिए भागवत अष्टम स्कन्ध के अदिति के तप की कथा, गजेन्द्रमोक्ष की स्तवन-कथा, महाभारत आदि की कतिपय कथाओं का अध्यात्मपरक अनुपम अर्थ किया और प्रसङ्गवश गायत्री मन्त्र पर भी अत्यन्त भावपूर्ण प्रकाश डाला:—

ॐ (परमात्मा का नाम) भूः, भुवः, स्वः ये तीनों पद केवल उपलक्षण मात्र हैं। ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यं—इन चारों लोकों को मिलाकर सप्त लोकों के वे बोधक हैं।

भूः=तलातल से लेकर हिमालय के उच्चतम शिखर तक जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज चेतन प्राणी हैं; भुवः=अन्तरिक्षस्थ जितने भी प्राणी हैं; स्वः=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा असंख्य तारागण दृश्य तथा अदृश्य; तत्=वह सब; सवितुर्वरेण्यं भर्गः=उस जगन्नियन्ता के, वरेण्यं=स्वीकार करने योग्य, देखने योग्य, अनुभव करने योग्य तेज है अर्थात् उसीके दिव्य तेज के कारण यह सब कुछ है; वह सविता कैसा है देवस्य=दिव्य तेजों-

युक्त जो कि आन्तरिक चक्षु द्वारा अभिगम्य है। धीमहि=आओ, उसी दिव्य तेज का ध्यान करें; और धियो यो नः प्रचोदयात्= वही उस हमारी बुद्धि को प्रेरणा करनेवाला है, वही उस बुद्धि को सविता देव के तेज का अनुभव करने के लिए प्रेरित करे। उसकी कृपा के विना उसके दिव्य तेज के दर्शन नहीं हो सकते।

आपने बतलाया कि इस गायत्री मन्त्र में 'सविता' का अर्थ सूर्य नहीं है जैसा कि प्रायः लोग समझे बैठे हैं। यहाँ सकल ब्रह्माण्ड के उत्पादक परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए, इसी-लिए इस गायत्री मन्त्र को सावित्री मन्त्र भी कहते हैं। इसी गूढ़ अभिप्राय के अन्तर्गत होने के कारण स्वयं वेद ने गायत्री मन्त्र को वेद माता कहा है।

'स्तुता मया वरदा वेद माता·····पावयन्ती द्विजानाम्।'

आपने यह भी कहा कि इस गायत्री मन्त्र में कोई "तत्" पद का अर्थ तस्य षष्ठ्यन्त करते हैं सो ठीक नहीं; उसको प्रथमान्त ही रखना चाहिए।

इस प्रकार व्याख्या करके आपने 'वासना द्वासुदेवस्य'— की लम्बी व्याख्या को जो कि सर्वथा आध्यात्मिक व्याख्या थी।

आपने कहा कि पुराण और वेद के समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। उनका पुरातन पुण्य-वंश चतुर्वेदियों का है, इसलिए वे चारों वेदों का थोड़ा-थोड़ा स्वाध्याय करते रहते हैं; इस अर्वाचीन समय में उनका वंश शुक्ल यजुर्वेदियों का है और उनकी शाखा है माध्यन्दिनी। आपने हमसे पूछा कि स्वामी दयानन्दजी तो यज्ञों में पशु-बलि नहीं मानते थे। हमने कहा— नहीं; और वे जिन अर्थों को लगाते हैं जैसे 'अश्वं वैराष्ट्रम्' उन अर्थों को शतपथादि भी पुष्टि करते हैं। महामना मालवीयजी ने कहा कि मैं स्वामीजी के विशुद्ध अभिप्राय को समझता हूँ; किन्तु वर्त्तमान यज्ञ-यागादि में जो पशु-बलि आदि का उल्लेख

है उनसे छुटकारा पाना ही पड़ेगा। वैसे तो कलिवर्ज्य होने से आज-कल हिंसा निषिद्ध है ही।

वेद-विषयक चर्चा चलने पर प्रातःकाल को सूर्य-किरण से किस प्रकार क्षयरोग नष्ट होता है—इसका प्रसङ्ग आया। हमने ऋग्वेद का, दशम मण्डल का इसी विषय का एक सूक्त बतलाया। आपने कहा कि अथर्व में भी सूक्त आता है। इसी प्रकार अथर्व के अनेक सूक्तों की चर्चा रही।

आपने कहा कि मसूरी शैल व्यास पर्वत का एक अङ्ग है और अत्यन्त पावन शिखर है। यहाँ आकर जब उच्च शिखर से अनन्त आकाश की ओर दृष्टि डालकर उस बूढ़े बाबा महर्षि व्यास का ध्यान करता हूँ तो मेरा मन उच्च आध्यात्मिक मण्डल में स्वच्छन्द विचरने लगता है। आपने भागवत के गजेन्द्रमोक्ष प्रकरण की स्तुति का विस्तृत वर्णन करके बतलाया कि इससे बढ़कर भावपूर्ण स्तुति क्या हो सकती है। आपने हमसे पूछा कि पुराणों का भी अध्ययन-मनन किया करते हो अथवा नहीं। पास के बैठे हुए एक विद्वान् ने कहा कि ये सामाजिक विचार के हैं इसलिए उस दृष्टि से पुराणों को नहीं देखते जिस दृष्टि से आप देखते हैं। हमने कहा उनमें परस्पर बहुत विरोध है। श्रीमालवीयजी ने कहा कि ज़रा हमारी दृष्टि से भी अध्ययन कीजिए और कई प्रकरणों की सुन्दर आध्यात्मिक सङ्गति लगाकर पूछा कि कहो, इसमें क्या कहते हो। हमने कहा कि इस प्रकार के आध्यात्मिक अर्थों में तो विवाद का स्थान ही नहीं रहता।

अपनी दिनचर्या के विषय में आपने बतलाया कि वे प्रति-दिन किस प्रकार सन्ध्या-जपादि करते हैं। इस प्रकार महामना मालवीयजी के साथ लगभग ढाई घण्टे तक अनेक विषयों पर चर्चा रही। यह चर्चा और भी चलती किन्तु आपके स्वास्थ्य का ध्यान रखकर हमने ही इस चर्चा को बन्द करने की प्रार्थना की।

आपने कहा कि हम शनैः शनैः वेदों का स्वाध्याय बढ़ा रहे हैं और चाहते हैं कि वेद और पुराणों का समन्वय यथार्थ रूप में जनता के सम्मुख रखें। भगवद्गीता के विषय में आपने कहा कि इस विषय में उनके पास बहुत मसाला है किन्तु समयाभाव से उसके प्रकाशन का अवसर ही नहीं मिलता।

हम—आपने कई वर्ष पूर्व कहा था कि हम अपने जीवन-काल में दो पुस्तकें प्रकाशित करना चाहते हैं; अभी तक आपने उनका प्रकाशन नहीं किया।

मालवीयजी—समय ही कहाँ मिला? क्या करूँ? मेरे पितामह ८२ वर्ष तक जीवित रहे थे। मैं भी ईश्वर की इच्छा हुई, तो उतने वर्ष की अवस्था तक जीऊँगा ही और यत्न करूँगा कि जो कुछ मेरे पास अध्यात्म-विषयक पूँजी है उसे प्रकाशित करूँ। यदि इस जन्म में पूर्ण न कर सका तो फिर आगामी जन्म में सही।

हम—यदि आप छः मास भी ऐसे एकान्त-स्थान में निवास करें तो बहुत कार्य हो सकता है।

मालवीयजी—ठीक है पर समय मिले तब न। चाहता हूँ इधर पुण्य-पर्वतों में फिरूँ और कोई महात्मा मुझे आशीर्वाद दे तो मेरा कार्य पूर्ण हो।

फिर ज़िक्र चला रामचन्द्र शर्मा के विषय में। आपने कहा कि मैं जब काशी से कलकत्ते की ओर गया तब मेरे मन ने कह दिया था कि रामचन्द्र शर्मा को अनशन से परावृत्त करने में मैं सफल हूँगा। वहाँ जाना आवश्यक ही था।

जब हम उनसे (मालवीयजी से) अनुज्ञा लेकर चलने लगे तब उन्होंने फिर कहा कि भागवतादि ग्रन्थों को हमारी दृष्टि से देखो। हमने कहा कि भागवत को हमने देखा है और छात्रावस्था में जब हम काशी में थे तब हमने भागवत के वेद-स्तुति-प्रकरण का विशेष रूप से अध्ययन किया था।

३—वेद

ऋग्	यजुः	साम	अथर्व
ऋषिः—(अग्निः)	(वायुः)	(आदित्यः)	(अङ्गिराः)
विषय—देवस्तुतिः	देवपूजा	देवगुणगान	प्रकीर्णक
(यो वै देवः सा देवता)	(यजुर्यजतेः)	(संमितमृचा)	
शाखा—२१	१०१	१०००	९

अथर्व में प्रकीर्णक है अर्थात् ऋग्-यजुः-साम का ही विषय भिन्न-भिन्न रूप में आया है। इसीलिए उसमें देवस्तुतिः, देवपूजा-सङ्गतिकरण-दान, देवगुणगान होने से वेद चार होने पर भी सबको मिलाकर विषय पर ध्यान रखकर वेदत्रयी कहलाती है। ज्ञान-कर्म-उपासना भेद से भी वेद तीन हैं।

याज्ञिकों के मत में

ऋग्	यजुः	साम	अथर्व
(होतृवेद)	(अध्वर्युवेद)	(उद्गातृवेद)	(ब्रह्मवेद)

कहलाते हैं।

इस प्रकार सोलह ऋत्विजों द्वारा यज्ञ प्रवृत्त होता है।

१६—ऋत्विज्

होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा

प्रत्येक के ४-४ सहायक।

आठ अष्टकों के कारण ऋग्देव का नाम 'अष्टयी' है और दश मण्डलों के कारण 'दशतयी' भी कहते हैं।

४—वैदिक पहेली

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
(ऋ० ४-५-५८-३)

एक वृषभ है जिसके चार सींग हैं और तीन पैर, दो सिर हैं, और सात हाथ, तीन जगह बँधा हुआ है? इस पहेली को बूझिए तो सही।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० १-२२-१६४-४५)

वाक् परिमित पद चार ही हैं, मनीषी ब्राह्मण ही उनको जानते हैं। तीन तो गुफ़ा में छिपे हैं, चौथे को मनुष्य बोलते हैं—कहो ये चार पद क्या हैं? इस मन्त्र में कौनसा गूढ़ार्थ छिपा हुआ है? मनुष्य जिस चौथी वाणी का प्रयोग करते हैं उसका नाम क्या है? छिपी हुई तीन वाचाओं के भी क्या-क्या नाम हैं?

यह क्या है? हम इसका अर्थ नहीं करेंगे—

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः॥
(ऋ० १-१८-१२६-४)

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिविष्टाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति॥
(ऋ० ७-२-१८-२३)

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रिरश्वस्य स्वधितिः समेति॥
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त॥
(ऋ० १-२२-१६२-१८)

उपर्युक्त मन्त्रों में क्रम से ४०, ४, ३४ क्या हैं?

:❀:

५—विद्वान् लोग बूझें

अथर्व की कुण्डलियाँ

सरूपा नाम ते माता सरूपा नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ काण्ड १ ॥
वेनस्तत्पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येक रूपम् ॥काण्ड२॥
दशवृक्ष मुञ्चे मं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो य एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ काण्ड ३ ॥
सहस्रशृंगो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ॥ काण्ड४ ॥
रात्री माता नभः पिता अर्यमा ते पितामहः।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥काण्ड५॥
अलसालासि पूर्वा सिलाञ्चालास्युत्तरा। नीलागलसाला ॥काण्ड६॥
शिवस्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरेऽस्मिन् तासामेका विपपातानु घोषम्॥
(सप्तम काण्ड)

के नेमां भूमिमौर्णोत केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मन्हा पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥काण्ड१०॥
अहमस्मि सहमानः उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाड् आशामाशां विषासहिः॥का०१२॥
'स वा ऋग्भ्यो जायत तस्माद्दचोजायन्त ॥काण्ड१३॥
यद्दष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत्संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ काण्ड १४ ॥
असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं ह भव्यं आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम् ॥ काण्ड १७ ॥
इदं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषस्तपनं हृदः ॥ काण्ड १९ ॥

६—ऋग्वेदियों के लिए विचारणीय सूक्त

हृद्रोग को दूर करनेवाला सूर्य

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ (ऋ० १-९-५०-११)

दारिद्र्यनाशक सूक्त

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि(ऋ०१०-१२-१५५-१)

राजयक्ष्मघ्न सूक्त

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥
(ऋ० १०-१२-१६१-१)

गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्

ब्रह्मणाग्निः सविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामाः योनिमाशये॥(ऋ०१०-१२-१६२-१)

यक्ष्मघ्न सूक्त

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥
(ऋ० १०-१२-१६३-१)

सपत्नघ्न सूक्त

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥
(ऋ० १०-१२-१६६-१)

कपातोपहतौ प्रायश्चित्तम्

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥
(ऋ० १०-१२-१६५-१)

प्रश्न—यहाँ कपोत से क्या अभिप्राय है?

७—वेदों का मुख्य तत्त्व

आदान–प्रदान

पाश्चात्य विद्वान् वेदों के विषय में अपना यह मत प्रकट करते हैं और वह भी तिरस्कार और उपहास-बुद्धि से कि वेदों में आदान-प्रदान=ले दे=अर्थात् वैश्य-वृत्ति की बात के अतिरिक्त और है ही क्या ? अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं को उद्देश करके यज्ञ करते रहो, द्रव्य त्याग करते रहो और उनसे माँगते रहो और वे प्रतिफल में कुछ न कुछ देते ही रहेंगे। यज्ञ-यागादि भी देवताओं के साथ एक प्रकार का सौदा ही है। उनको कुछ नहीं दोगे तो वे भी कुछ नहीं देंगे इत्यादि।

चाहे पाश्चात्य विद्वान् वेदों के तत्त्व को भली भाँति न समझकर उपहास-बुद्धि से भले ही कुछ कह डालें किन्तु वैदिक आदान-प्रदान कोई उपहास की वस्तु नहीं है। वह तो एक प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभव है। यह समस्त संसार ही आदान-प्रदान पर स्थित है। वैदिक देवता अग्नि, वायु, आदित्य अथवा इनके उपविभागों को लेकर जो संख्या में तेतीस होते हैं आदान-प्रदान के लिए ही बनाये गये हैं। ऋतु-चक्र, संवत्सर-चक्र भी आदान-प्रदान की रीति को ही बतलाते हैं। अन्न से प्राणिमात्र की उत्पत्ति है, पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति, यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति, कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति, कर्म की वेदों से, वेदों की ब्रह्म से—इस प्रकार चक्र चलता रहता है। गीता में यही अर्थ स्पष्ट किया गया है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३-१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥३-१५॥

संवत्सर-चक्र की बात भी ऐसी है,—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥
(ऋग्वेद-१-२२-१६४-२)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने (ऋग्वेद-१-२२-१६४-१३)
द्वादशारं नहि तज्जराय (ऋग्वेद-१-२२-१६४-११)
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं (ऋग्वेद-१-२२-१६४-४८)

इन मन्त्रों में संवत्सर-चक्र का सुन्दर वर्णन है ।

दिन-रात्रि के चक्र का वर्णन निम्न-लिखित वेद-मन्त्र में आया है—

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
(ऋग्वेद १-२२-१६४-४८)

इसका अभिप्राय यह है कि इस संवत्सर-चक्र में ३६० कीलें ठुकी हुई हैं । अर्थात् ३६० दिन हैं । रात्रि-दिन पृथक्-पृथक् माने जायँ तो ७२० कीलें हैं । इस संवत्सर रूपी चक्र की नाभि में छः आरे लगे हुए हैं अर्थात् छः ऋतुएँ हैं । इसमें पाँच आरे हैं अर्थात् हेमन्त और शिशर ऋतु को मिलाकर=एक मान लेने से पाँच ऋतु रहती हैं । इस संवत्सर-चक्र का प्रवर्त्तक सूर्य है जिसके सात अश्व इस चक्र के रथ को खींचते रहते हैं । यह केवल आदान-प्रदान के आधार पर ही कहा गया है ।

देवों में भी आदान-प्रदान होता रहता है । अग्नि अन्य देवताओं के पास पहुँचाता रहता है, अन्य देवता अग्नि के पास पहुँचाते रहते हैं ।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ऋग्वेद१-२२-१६४-५१॥
'वैश्वानरो यतते सूर्येण।'

इत्यादि उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि देवता परस्पर भी आदान-प्रदान करते रहते हैं। सूर्य यदि नीचे से जल खींचता है तो सहस्र गुण दे भी देता है। गीता अध्याय ३ में दो श्लोकों में सब कुछ स्पष्ट किया गया है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

तुम देवों को प्रसन्न करो, वे तुम्हें प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से ही कल्याण होगा। इसी प्रकार से देव तुम्हें इष्ट भोग प्रदान करेंगे। इनको दी हुई वस्तु को इन्हें न सौंपोगे तो चोर कहलाओगे।

प्रकृति तथा उसके सञ्चालक देवों का अनुकरण करके मनुष्यों को भी परस्पर आदान-प्रदान करते रहना चाहिए जिससे परस्पर का कल्याण हो, नहीं तो हम स्तेन=चोर कहलायेंगे।

ज्ञान का प्रतिनिधि ब्राह्मण .
बल तथा रक्षा का प्रतिनिधि क्षत्रिय
धन, श्री, लक्ष्मी का प्रतिनिधि वैश्य
सेवा का प्रतिनिधि शूद्र—

इस प्रकार मनुष्य समाज चार विभागों में विभक्त है। यदि परस्पर आदान-प्रदान होता रहे, नियम-पूर्वक होता रहे, कर्त्तव्य समझकर होता रहे तो संसार में कभी भी अशान्ति नहीं रह सकती। संसार में परस्पर के गुणों से परस्पर की कमी की पूर्त्ति हो सकती है। आज संसार में अत्यन्त अशान्ति हो रही है,

इसीलिए कि ज्ञान, बल, रक्षा, श्री, लक्ष्मी, सेवा इत्यादि का ठीक ठीक आदान-प्रदान नहीं हो रहा है।

वेद में (यजुः) आदान-प्रदान का सुन्दर रूप बतलाया है। उस प्रकार का आदान-प्रदान चल पड़े तो फिर संसार सुख-धाम बने, फिर कोई किसीके अधिकार न छीने, फिर कोई किसी पर अत्याचार न कर सके, फिर किसीको किसीकी शिकायत न रहे। वह मन्त्र यह है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा ॥ यजुः ३-५०॥

हे भ्रातः यदि जो वस्तु मेरे पास नहीं है और तेरे पास है मुझे दे देगा, तो मैं भी उस वस्तु को तुझे दूँगा जो मेरे पास है और तेरे पास नहीं है। भ्रातः क्या तुम मेरे भाग में से कुछ लेना चाहते हो ? तो स्मरण रखो कि जब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी तो मैं उस वस्तु को तुमसे ले लूँगा जो तुम्हारे पास है किन्तु मेरे पास नहीं है।

आज संसार इस वैदिक पवित्र सिद्धान्त से कोसों दूर है। जिसके पास जो वस्तु है अथवा पहुँच गई है अथवा पूर्व जन्म-फल के अनुसार विशेष रूप से मिली है उसको वही दबा बैठा है। यह भी हुआ सही, अपना अपने पास रहता ही है; दूसरे की वस्तु पर भी बल अन्याय, अत्याचार-पूर्वक अधिकार कर बैठते हैं। बहुत लेते हैं और प्रतिफल में कम देना चाहते हैं। इस विषम आदान-प्रदान में संसार किस प्रकार सुखी रह सकता है ? जिस-को जितनी आवश्यकता है उतने से अधिक जितना भी बचा रहे वह सब दूसरों के लिए है—ऐसा समझ संसार की प्रवृत्ति हो तो फिर दुःख, क्लेश, परस्पर कलह, अत्याचार, अनाचार, बलपूर्वक अधिकार आदि देखने को भी नहीं मिलेंगे।

प्रकृति का आदान-प्रदान एक सर्वशक्तिमान् न्यायकारी नियन्ता के हाथ में है, इसीलिए उस कार्य में विषमता नहीं। देवताओं का आदान-प्रदान भी उसी नियन्ता के संकेतानुसार होता रहता है, इसीलिए वहाँ भी विषमता का नाम नहीं। केवल मनुष्य-समाज में ही मनुष्यों का स्वार्थ विषमता कराता रहता है। जब उसके स्वार्थ की सीमा नहीं रहती तभी अशान्ति हो जाती है। यह नियम व्यष्टि और समष्टि रूप में सर्वत्र दिखाई पड़ रहा है।

संसार के मान-चित्र पर दृष्टि डालकर देखिये कि क्या-क्या अनर्थ हो रहे हैं और क्यों हो रहे हैं? उन-उन राष्ट्रों का स्वराज्य, साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य होने पर उनका देश, उनका राष्ट्र क्यों असन्तुष्ट है? दूसरे छोटे-छोटे राष्ट्रों को वे क्यों निगल रहे रहे हैं? स्वस्वार्थ के लिए अन्य देश, राष्ट्र, जनपदों को सदैव के लिए दास्य-शृङ्खला में जकड़ रखने के लिए क्यों चिन्तित हैं? सबकी जड़ में स्वार्थ है, सबकी जड़ में आदान-प्रदान की बिषमता है। इन राष्ट्रों के परस्पर विरोधी स्वार्थ के कारण एक प्रकार की विषमता को मिटाने के लिए दूसरे प्रकार की विषमता उत्पन्न हो रही है, उनको मिटाने के लिए तीसरे प्रकार की विषमता चल पड़ती हैं। स्वार्थ-मूलक आदान-प्रदान, विषमता-पूर्वक किया आदान-प्रदान संसार को विषम स्थिति में पहुँचा रहा है।

संसार वैदिक आदर्श के पीछे चलने लगे तो शान्ति-ऋद्धि-समृद्धि मिल सकती है, अन्यथा नहीं। वेद की जिस बात को पाश्चात्य विद्वान् उपहासपूर्ण कहते हैं वही बात संसार को सुख-समृद्धि देनेवाली है। इस बात को वे जितना शीघ्र समझ लेंगे उतना ही अच्छा है। कहाँ का इटली और कहाँ का एबिसीनिया, तो भी इटली उसकी गर्दन पर सवार होना चाहता है। कहाँ का इङ्गलैण्ड और कहाँ का भारतवर्ष, तो भी वह भारत को

अपने स्वार्थपूर्त्ति का साधन बना रहा है; उसके हित-सम्बन्धों की ओर ध्यान नहीं दे रहा है। भारत के बल पर समस्त संसार को मनमाना नाच नचा रहा है। अमरीकावासी रेड इण्डियनों को चैन से नहीं बैठने देता, उनको हर प्रकार से नष्ट कर रहा है। रूस केवल मज़दूर-किसानों का ही भला सोचता रहता है, अन्यों को नष्ट कर रहा है। पूँजीपति, सरदार, राजे आदि का अत्याचार गया तो किसान और मज़दूरों का अत्याचार चल पड़ा। जापान कोरिया को निगल गया, मञ्चूरिया को दबा बैठा और चीन को दबोच रहा है। इसी प्रकार अन्यों की कथा है। यह सब केवल इसीलिए हो रहा है कि आदान-प्रदान की कथा ही जाती रही। कहीं आदान अधिक और प्रदान न्यून, कहीं आदान ही आदान और प्रदान का नाम नहीं—समस्त दुःखों का मूल यही है। भारतवर्ष में प्रदान अत्यधिक और आदान अत्यन्त न्यून; इसीलिए दीन, हीन, पराधीन परिस्थिति में पड़ा हुआ है। आदान-प्रदान की इस गूढ़ मीमांसा को जो व्यक्ति, राष्ट्र, महाराष्ट्र, देश, जानपद समझेगा वही चिरकाल सुखी रहेगा। वेद ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए

'देहि मे ददामि ते'

का मार्ग बतलाया है। आजकल संसार उन-उन देशों के राज्य-नियम अथवा राष्ट्र-नियमों से पालित हो रहा है किन्तु वेदपालित नहीं हो रहा है; इसीलिए संसार के समस्त ऐश्वर्यों से युक्त होने पर भी कोई राष्ट्र सुखी नहीं है। उनकी आसुरी प्रवृत्ति उनको धीरे-धीरे मिटाती जा रही है। परमात्मा के परम अनुग्रह से संसार के लोग आदान-प्रदान की विधि जानें—यही हार्दिक अभ्यर्थना है। तथास्तु, एवमस्तु, परेशो मंगलं विभावयतु।

:o:

बिंदा गुच्छक

१—प्रेम-तन्त्र

जैसे जल का कोई आकार नहीं किन्तु जिस आकार के अथवा जिस प्रकार के बरतन में डाला जाता है उसी आकार का बन जाता है, यही प्रेम-जल की कथा है। जैसे जल बहकर अथवा नालिका द्वारा जिस प्रकार के चतुष्कोण, त्रिकोण, टेढ़े, तिरछे, लम्बे, गोल क्षेत्र अथवा क्यारी में भर जाता है, इसी प्रकार प्रेम जिधर भी लग जाय तदाकार ही प्रतीत होने लगता है। इसीलिए प्रेम के साथ जिस प्रकार का विशेषण लगता जायगा प्रेम का स्वरूप भिन्न प्रकार का दिखलाई पड़ेगा। प्रेम की कोई इयत्ता नहीं है कि इतने ही प्रकार का है। संसार में अनन्त वस्तुएँ हैं और न जाने किसका प्रेम किस जड़ अथवा चेतन वस्तु पर जा पड़े।

ईश्वर ही प्रेम का आदि मूल स्रोत है और वहीं से प्रेम की उत्पत्ति है। वह एक रस है, सबके लिए है, उसमें किसी प्रकार का भेद अथवा पक्षपात नहीं। पूर्वजन्म के कर्मानुसार जीवात्मा जिस योनि में भी पहुँचेगा वहाँ 'प्रेम' भी उसी रूप को धारण करेगा। कहीं तामस, कहीं राजस, कहीं सात्त्विक। वह भी वस्तु-भेद, स्थान-भेद, काल-भेद आदि के कारण अनन्त प्रकार का होगा।

जो प्रेम परिणाम में सुखदाई हो वही सच्चा प्रेम है। इसलिए ज्ञानी की दृष्टि सदैव परिणाम पर रहती है। वह तात्कालिक आपातरम्य प्रेम की कभी पर्वाह नहीं करेगा। प्रेम, करुणा, मैत्री, भक्ति, श्रद्धा, सख्य, वात्सल्य आदि सभी प्रेम के विशेष भेद हैं। बड़ों में जो प्रेम किया जाता है वह श्रद्धा-भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। बराबरवालों में मैत्री, सख्य रूप में रहता है। अपने से छोटे जनों अथवा बच्चों में वत्सलता का रूप पा जाता है। हीनों में

करुणा बनकर पहुँचता है। जैसे श्रद्धा के तीन रूप हैं सात्त्विकी, राजसी, तामसी; इसी प्रकार प्रत्येक प्रेम के तीन स्वरूप हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

यह उच्च कोटि का व्यापक प्रेम-भाव करोड़ों में किसी-किसी को नसीब होता है। यथार्थ प्रेम तो विवेकी पुरुष कर सकता है। संसारी जनों की दृष्टि सङ्कुचित होती है इसलिए वे वैषयिक सुख, संस्पर्शज भोगों से प्राप्त होनेवाले सुखों को ही परम सुख समझकर प्रवृत्त होते हैं, पर परिणाम में पछताते हैं। प्रेम के भी दर्जे हैं—कौटुम्बिक प्रेम, जाति-प्रेम, देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, विश्व-प्रेम, ईश्वर-प्रेम; क्रम से उत्तर-उत्तर प्रेम पूर्व-पूर्व प्रेम की अपेक्षा उच्च कोटि का है। साधारण बुद्धि के लोग मोह को भी प्रेम समझ बैठते हैं। हाँ, अविवेक-युक्त प्रेम मोह का कारण अवश्य बन जाता हैं, फिर वही मोह राग-द्वेष का कारण बन जाता है, फिर वही राग-द्वेष बन्ध का कारण बन जाता है, फिर वही बन्ध जन्म-मरण-चक्र का प्रवर्त्तक हो जाता है।

पूर्व जन्म की प्रेम-वासना इस जन्म पर भी बड़ा प्रभाव रखती है। इसके विचित्र खेल संसार में स्थान-स्थान पर देखने को मिलते हैं। इसीलिए प्रत्येक संसारी जन का कर्त्तव्य है कि वह सब आनन्दों के स्रोत भगवान् से प्राप्त प्रेम-प्रवाह का सदुपयोग करना सीखे। संसार में सच्ची श्रद्धा, भक्ति, प्रेम से क्या कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। संसारी तुच्छ पदार्थों को जाने दीजिए; साक्षात् भगवान् भी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम के वश में रहते हैं।

प्रेम है निर्मल नद का नीर। प्रेम है शीतल-मन्द समीर॥
प्रेम है गायक का मृदु गान। प्रेम में बसते हैं भगवान॥

२—असली लक्ष्मी-पूजन कब होगा ?

भारतवर्ष की लक्ष्मी सात समुद्र पार चली गई तो भी भारतवर्ष में लक्ष्मी-पूजन के नाम पर लकीर पीटी जा रही है।

'दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है।'—'शङ्कर'

महाभारत में कथा आती है कि जब लक्ष्मी असुरों को छोड़कर चली, तब उससे पूछा गया कि तू कहाँ जा रही है, क्यों जा रही है ? तब लक्ष्मी ने उत्तर दिया कि मैं असुरों के पास अधिक काल तक रहना नहीं चाहती क्योंकि ये अत्यन्त निर्घृण हो गये हैं; इनको सारासार का ज्ञान नहीं रहा; मेरा नाम लेकर अन्यों पर अत्याचारों की तो बात ही क्या है, अपने आश्रितों पर भी अत्याचार करने लगे हैं—आश्रितों को छोड़कर स्वयं ही समस्त वस्तुओं का उपभोग करते रहते हैं; यहाँ तक विवेक-हीन हो गये हैं कि बच्चों के पहले ही भोजन कर लेते हैं; उनके सम्मुख उनको विना दिये ही मधुर पदार्थ खाते रहते हैं। मैं अति शूर, अति मानी, आलसी आदि मनुष्यों के पास रहना नहीं चाहती।

वैसे तो लक्ष्मी का नाम 'चला' है, वह कहीं स्थिर नहीं रहती। इसको भी साधु और असाधु पुरुष का विवेक नहीं रहता। समुद्र-मन्थन के पश्चात् जब लक्ष्मी बाहर निकली, तब उसके विवाह की बात सोची गई और उससे पूछा गया कि तुम किसको बरोगी। तब उसने कहा कि असुर क्रूर हैं इसलिए इनके साथ विवाह न करूँगी; देव बेपर्वाह हैं, इसलिए इनको पसन्द नहीं करूँगी; नारायण अर्थात् विष्णु में यह दोष है कि इनको कुछ लिहाज़ नहीं, तारेंगे तो ऐसों को तारेंगे कि जिनको कुछ करना न पड़े और मारेंगे तो अपने भक्तों को भी मारेंगे। देखो अष्टावक्र को कहाँ तपस्या के लिए हिमालय में दूर भेज दिया, भक्त नारद की भी यही दशा कर डाली। तारने की बात

तो यह है कि ज़रा मन में आनो चाहिए फिर क्या, ज़रा से करुण क्रन्दन पर व्याकुल हो उठते हैं, आसन डोल जाता है, तो भी इनमें औरों की अपेक्षा न्यून दोष हैं; इन्हींको बरती हूँ। फिर ऋषियों के सम्मुख उसका विवाह विष्णु भगवान् के साथ हो गया।

लक्ष्मी का इतिहास एक क्रूरता का इतिहास है, इसको आते-जाते देर नहीं लगती। जब इस चला के चञ्चल स्वभाव के कटु परिणाम से संसार का कोई व्यक्ति, कोई समाज, कोई राष्ट्र नहीं बचा, तब भारतवर्ष ही इस नियम के लिए अपवाद-स्वरूप क्यों रहता ? और एक बात—जब से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ है तब से ही वह सरस्वती के भक्तों को तिरस्कार की दृष्टि से देखती रहती है। यह चाहती रहती है कि सरस्वती और उसके भक्त उसके अधीन होकर रहें पर सरस्वती को यह बात पसन्द नहीं, इसीलिए वह स्वयं क्लेश उठाती रहती है और उसके भक्त भी संसारिक दृष्टि से सदैव टोटे में रह जाते हैं; पर वे रहते हैं सदैव सरस्वती की उपासना में। जो लक्ष्मी के प्रभाव में बह जाते हैं वे सरस्वती-भक्त निस्तेज हो जाते हैं, उनकी सरस्वती कभी सफल नहीं होती। सरस्वती के भक्तों की बुद्धि का विकास जितना झोंपड़ियों में होता है उतना प्रासादों में नहीं।

ऋषि, मुनि, महात्मा बावले नहीं थे जो सरस्वती की उपासना के लिए निर्जन अरण्यों में रहते थे, कुटिया में वास करते थे। वहीं आराधना द्वारा सरस्वती को प्रसन्न करते थे। तब लक्ष्मी-पुत्र, राजे-महाराजे, चक्रवर्त्ती राजे उनके चरणों में आ बैठते थे। मूर्खों के पास, लक्ष्मी का अधिक निवास रहता है इसलिए सरस्वती-भक्तों को मूर्ख बनने की आवश्यकता नहीं। वेश्या के पास अनेक आभूषण रहते हैं और सती स्त्रियों के पास कुछ नहीं रहता तो क्या कुलाङ्गनाएँ कुलटा बनने की इच्छा करती हैं ? कदापि नहीं। लक्ष्मी सरस्वती-भक्तों के पास इसीलिए नहीं

आती कि ये उसका तिरस्कार करते हुए उसे ठुकराते रहते हैं।

लक्ष्मी-सरस्वती का झगड़ा अति पुरातन है। सरस्वती तब अपने भक्तों पर प्रसन्न होती है जब वे इसकी कड़ी परीक्षा में उतीर्ण हो जाते हैं। एक बार प्रसन्न होने की देर, कि संसार के समस्त ऐश्वर्य स्वयं ही उसके पास आ जाते हैं; पर सारी बात यह है कि सरस्वती-भक्त को उन ऐश्वर्य-भोगों में फँसकर सरस्वती को नहीं भूलना चाहिए, नहीं तो लक्ष्मी दबा लेती है और उसको ऐसा बिगाड़ डालती है कि फिर वह सरस्वती के काम का नहीं रहता—सरस्वती उसको स्वयं छोड़ देती है।

देव सरस्वती के उपासक होते हैं और असुर लक्ष्मी के उपासक, पर इतिहास बतलाते हैं कि लक्ष्मी न देवों के पास सदा रही न असुरों पास हो। आज इन्द्र के पास तो कल बलि के पास; फिर इन्द्र के पास तो फिर उसको छोड़कर किसी और के पास यही इसका खेल रहा है। लक्ष्मी जब सरस्वती के अधीन रहकर विवेक-पूर्वक कार्य करती रहती है तब संसार सुख का धाम बन जाता है और जब वह स्वतन्त्र होकर उच्छृङ्खल गति से स्वच्छन्द विचरती रहती है तब इसके किये गये अनर्थों और अत्याचारों का कुछ ठिकाना नहीं रहता। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी रहा है। सरस्वती के कट्टर भक्त ऋषि-मुनि-महात्मा इस तत्त्व को जान गये थे, इसीलिए लिख गये कि ब्राह्मणों को राजा का अन्न नहीं लेना चाहिए क्योंकि 'राजान्नं तेज आदत्ते'—राजा का अन्न तेज को नष्ट कर डालता है। पुराने ब्राह्मण जिनके हाथों में संसार की शिक्षा का पुण्य पवित्र कार्य था, सदैव इस लक्ष्मी के प्रभाव से बचने की चेष्टा करते थे, इसीलिए उस समय ब्रह्म-तेज से क्षात्र-तेज का पता रहता था और धर्म-पथ में लगकर संसार के कल्याण का हेतु बनता रहता था।

आज-कल संसार के लक्ष्मी-पुत्रों ने सरस्वती को अपने अधीन जकड़कर रखने का प्रयत्न किया है। उसका फल संसार के सम्मुख है और सरकारी अथवा उन-उन राज्यों को शिक्षा-प्रणाली व शिक्षणालय उन-उन राज्यों के अधीन होने से बड़े अनर्थ हो रहे हैं।

दशहरे के अवसर पर पहले सरस्वती-आवाहन, पूजन पश्चात् विसर्जन होता है, तब दीपावली पर लक्ष्मी-पूजन होता है। उस दिन घर में तनिक भी अँधेरा नहीं रहने देते क्योंकि ऐसा विश्वास है कि घर में ज़रा भी कहीं अँधेरा रहा कि लक्ष्मी को वहाँ से लौट जाने का उतना ही बहाना बस है।

भारतवर्ष की सरस्वती जगे, उसके कट्टर भक्त उठें तो आज भी भारतवर्ष फिर संसार भर की सरस्वती का अखाड़ा बने और लक्ष्मीदेवी उसके अधीन काम करने को राजी हो सकती है। सरस्वतीदेवी तब जग सकती है जब ब्राह्मण तप द्वारा उसको सजग करने की चेष्टा करेंगे और कहेंगे कि—

सपिद विलयमेतु राज्यलक्ष्मीः उपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
परिहरतुतरां शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागयेतु धर्मात्॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टं।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

तब देखना भारतीय सरस्वती-भक्त संसार में क्या-क्या चमत्कार दिखलाते हैं। तब देखना कि संसार इन सरस्वती-भक्तों को कृपा से कैसा सुख-शान्ति, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का आगार बन जाता है! तब देखना कि सच्चा लक्ष्मी-पूजन कैसा होता है; नहीं तो पीटा करो ख़ाली लकीरों को, दासता, दीनता, दरिद्रता, दम्भ, दर्प, अहङ्कार के इस युग में।

३—अस्पर्शयोग

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥ गौडपादीय का०३६

श्री आनन्दगिरिजी ने इस कारिका का अर्थ इस प्रकार किया है—'वर्णाश्रमधर्म से, पापादि मल से जिसको स्पर्श नहीं होता, जो इनसे सर्वथा अछूत रहता है वह 'अद्वैतानुभव' अस्पर्श है। यह योग अर्थात् जीव की ब्रह्मभाव से योजना ही 'अस्पर्शयोग' है।'

भगवान् शङ्कराचार्य इसका भाष्य यों करते हैं—

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः॥ ३९॥

इसका अर्थ यह है—

'यह अस्पर्शयोग सब स्पर्शों से, सब सम्बन्धों से अलिप्त रहने का नाम है और उपनिषदों में प्रसिद्ध है एवं कई स्थानों में इसका उल्लेख आया है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञान का बोध नहीं उनके लिए 'दुर्दर्शः' है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकार के भयों से शून्य है तो भी योगिजन इस योग से भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस अस्पर्शयोग के अभ्यास से आत्मनाश न हो जाय। इस प्रकार अस्पर्शयोग द्वारा अद्वैततत्त्व में मिल जाने से आत्मतत्त्व का नाश समझनेवाले योगियों का अविवेक ही है अर्थात् अविवेकियों को ही ऐसा भय रहता है, अन्यों को नहीं।'

उपनिषदों में 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोगवाले योगजन पाप-पुण्य से अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उसका शाङ्करभाष्य, उसपर की गई आनन्दगिरिजी की टीका—इन सबका अभिप्राय अस्पर्शवाद से विशुद्ध अद्वैत का है।

अभय के विषय में यह निम्नलिखित कारिका क्या कहती है, देखिए—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥ (गौडपादीय का० ४०)

'अभय—आत्मदर्शनतत्त्व तो मन के निग्रह के अधीन है जिससे समस्त दुःखों का क्षय होता है और प्रबोधचन्द्र का उदय भी। अक्षय शान्ति भी मिलती है।'

गीता का 'कर्मयोग' भी एक प्रकार से 'अस्पर्शवाद' ही है। उसमें भी फल की आकांक्ष से अछूत रहकर कर्म करना पड़ता है। फल की आकांक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करते रहने से पुरुष पाप-पुण्य से अलिप्त रहकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोग का जो फल है वही फल इस प्रकार के अस्पर्शवाद का है—

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'
(१) (२) (३)

योग का ध्यानयोग, गौडपाद का अस्पर्शयोग, गीता का कर्मयोग

तीनों का फल एक अर्थात् मोक्ष

जितना भी दुःख है वह है स्पर्श का, कर्मफल में लिप्त रहने का,—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (गीता)
न तेषु रमते बुधः। (गीता)

संसार के जितने संस्पर्शज भोग हैं वे दुःख के ही कारण हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, अलग रहते हैं, अस्पर्श से काम लेते हैं तब वे पुण्यापुण्य से ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब 'अभय' में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त कठिन है। साधारण योगियों को तो क्या बड़े-बड़े योगियों को भी अप्राप्य है। पर अभ्यास और वैराग्य से वशीकारसंज्ञा प्राप्त करने पर सहजगम्य है।

पुराकाल में हमारे इस पवित्र भरतखण्ड में इस प्रकार के उच्च कोटि के योगियों की कमी नहीं थी। अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है पर पुराकाल की वह बात भी नहीं रही है। आज-कल निम्नलिखित पारमार्थिक सत्य को समझानेवाले हमारे देशमें कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? मिलेंगे तो वे किस प्रकार पहचाने जायँगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और तत्त्व को समझायेंगे?

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (गौडपादीय का० ४८)

"वस्तुतः 'कर्त्ता', 'भोक्ता' जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होता। स्वभाव से जो 'अज' है, 'एक ही आत्मा' है वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसारमें जितने 'सत्य' हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्म में अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता।"

अब रही द्वैताद्वैत की बात, उसको गौडपादीय कारिका ३१ में स्पष्ट वर्णन किया है—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

'द्वैत की सब बात मन के अधीन है—मन के कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैत की बात बोलनेवाला कहाँ?'

४—पहले स्वराज्य या समाज-सुधार ?

:o:

इस समय देश-सुधार के पवित्र कार्य में संलग्न हुए-हुए नेताओं में दो प्रकार के नेता हैं। पहले देश या पहले समाज-सुधार ? यह प्रश्न जब उठता है तब एक प्रकार के नेता यही कहते हुए सुनाई देते हैं कि पहले समाज-सुधार होना चाहिए तब यथार्थ रूप में देश-सुधार हो सकेगा। दूसरे प्रकार के नेता यह कहते हैं कि पहले सत्ता अपने हाथ में आ जाय तो फिर समाज-संशोधन का कार्य अत्यन्त सुलभता के साथ हो सकेगा। उनका यह भी कथन है कि जहाँ समाज-सुधार हुआ हो यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ सत्ता अवश्य ही वहाँ के लोगों के हाथों में आई हो। ब्रह्मदेश में जाति-पाँति नहीं है, समाज-सुधार की दृष्टि से पहले ही बहुत से सुधार हुए रखे हैं, फिर ब्रह्मदेश भारत को भाँति दासता की शृङ्खलाओं में जकड़ा हुआ है, किसी किसी विषय में भारत से भी अधिक हीन दशा हो रही है। उनका यह भी कहना है कि जहाँ पूर्ण स्वराज्य विराजमान है अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता विराजमान है वहाँ के समाज की कुप्रथाएँ सब नष्ट हो गईं—यह बात भी नहीं है, वहाँ समाज में कुरीति तथा अन्ध-विश्वासों का साम्राज्य नहीं रहता, सो यह बात भी नहीं—देखो पाश्चात्य साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्यों को। उनका यह भी कथन रहता है कि देखो, टर्की के कमालपाशा ने अपनी सत्ता से कितना समाज-संशोधन कर डाला। देखो, ईरान किस प्रकार करवट बदल रहा है। इसलिए पहले सत्ता हो तो फिर सब कुछ हो जाता है। लोकमान्य तिलक इसी पक्ष के थे और इसीलिए समाज-सुधार के कार्य की ओर पूरा-पूरा ध्यान नहीं देते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे सुधार चाहते

हो नहीं थे। उनसे जब पूँछा जाता कि आप समाज-सुधार के कार्यों में भाग क्यों नहीं लेते, तब वे स्पष्ट कह देते थे कि एक समय में दो कार्य नहीं हो सकते; फिर मैं तो पहले देश, फिर समाज-सुधार को माननेवालों में हूँ।

जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे, श्री गोपालकृष्ण गोखले 'पहले समाज-सुधार, फिर देश' के पक्ष में थे; किन्तु गोखले महोदय फिर पॉलिटिक्स में एकदम कूद पड़े और उन्होंने देशोद्धारार्थ भारत-सेवा-सङ्घ नामक संस्था स्थापित की थी। फिर वे देश-कार्य में ऐसे जुटे कि समाज-सुधार की बात करने के लिए उनको अवकाश ही नहीं मिलता था; तथापि श्री गोपालकृष्ण गोखले के गुरु, न्याय-मूर्त्ति महादेव गोविन्द रानडे ने कांग्रेस के महाधिवेशन के साथ समाज-सुधार-कान्फ्रेंस (Social Reform Conference) का पुछल्ला लगा ही दिया, जो अब तक कांग्रेस महाधिवेशन के साथ परिशिष्ट रूप में चला आता है। यही एक पुछल्ला पर्याप्त था किन्तु कांग्रेस के दिनों में तो बीस-तीस पुछल्ले लग जाते हैं।

वर्त्तमान आर्यसामाजिक लोग भी इसी पक्ष के हैं कि पहले सब बाल-विवाह बन्द हो जायँ, मूर्त्ति-पूजा उठ जाय, सब कुरीतियों का निवारण हो जाय, सब मुसलमान और ईसाई वैदिक-धर्मी हो जायँ और सब मत-मतान्तर मिट जायँ और सब वेद के झण्डे के नीचे आ जायँ, तब देश की, स्वराज्य की बात करनी चाहिए। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक श्री स्वामी दयानन्द का मत था कि सुधार सब दृष्टि से होना चाहिए; देश का, समाज-सुधार का, धर्म-प्रचार-प्रसार का सब कार्य साथ होना चाहिए; किन्तु वर्त्तमान सामाजिक लोग उनकी उस बात को भूल गये और अब केवल धर्म-प्रचार, समाज-सुधार के कार्य से ही सन्तुष्ट हैं।

इनके बड़े-बड़े अग्रगन्ता स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं कि आर्य-समाज का पॉलिटिक्स से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये लोग यह भी भूल गये कि धर्म शब्द का कितना व्यापक अर्थ है और उसमें राजनीति को कितना बड़ा स्थान दिया गया है। आर्य-समाज से बढ़कर कट्टर समाज-सुधारवादी दल कोई नहीं। यद्यपि इन्होंने बहुत कार्य किया तथापि अब पचास वर्ष के अनुभव से यह कहा जा सकता है कि केवल राज्य-सत्ता के अभाव के कारण उनका मार्ग ही रुक गया है। पचास साल तक इतना जोर का प्रचार हुआ कि कुछ कह नहीं सकते तथापि पूँछा जा सकता है, इन्हीं से क्यों ? सोशलरिफ़ॉर्मरों से भी पूँछा जा सकता है कि महाशय कहिए क्या-क्या कर लिया ? बाल-विवाह रुक गया, कि शराब बिलकुल बन्द हो गई, कि सर्वत्र शिक्षा का प्रबल प्रचार होकर भारतवर्ष में आबाल-वृद्ध शिक्षित हो गये ? कहिए, व्यभिचार, जुआ, चोरी बढ़ गई कि घट गई ? संसार में सब कोई सुखी हो गये कि अभी दुःख की मात्रा बढ़ रही है ? अत्याचारियों के अत्याचार घट रहे हैं कि बढ़ रहे हैं ? कहो महाशय, आपने सिर की चोटी से लेकर एड़ी तक बल लगा लिया और शारदा एक्ट भी पास करा लिया, कहो शारदा एक्ट की कैसी गत बन गई ? अब आर्य-बिवाह-बिल पास कराने के लिए सरकार की शरण क्यों ले रहे हो ? केवल उपदेशों से ही क्यों नहीं सुधार कर लिया ? सच बात तो यह है कि सत्ता के बिना केवल बुद्धिमता अथवा कोरी बुद्धिमत्ता अथवा केवल प्रचार अथवा प्रसार की बात—उससे समस्त समाज-सुधार की बात—करना केवल आत्मवञ्चना है।

आज भारतवर्ष के हाथ में सत्ता हो तो एक-एक बुराई एक-एक क़ानून को बनाकर एक-एक मिनट में दूर की जा सकती है, इसलिए हम इस मत के हैं कि समाज-सुधार वाले समाज-सुधार

की बातें करें, धर्म-प्रचार वाले धर्म-प्रचार की चर्चा चलावें और प्रयत्न करें किन्तु केवल देश-हित-साधन की इच्छा से प्रेरित होकर प्रयत्न करनेवालों की बात भी चलनी चाहिए। जगत् सत्ता की महत्ता आज ही नहीं जान पाया है। मनु महाराज भी सत्ता द्वारा प्रस्थापित दण्ड की महत्ता को यहाँ तक कह गये हैं कि—

'दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः'—

वस्तुतः दण्ड ही धर्म है।

आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इनमें दण्ड ही प्रधान है। जिसके हाथ में दण्ड रहेगा उसकी बात सर्वत्र चलेगी।

आज निस्तेज भारतवासियों की 'दण्ड' के अभाव में कोरी सत्ता (अस्तित्व) भी महँगी पड़ रही है—महँगी भारतवासियों के लिए। इसकी सत्ता से विदेशियों को अपरिमित लाभ हो रहे हैं। उनके हाथ में दण्ड है, जैसा चाहें क़ानून पास करा लेते हैं। जैसा चाहें, जितना चाहें टैक्स बढ़ा लेते हैं, मनमाना दमन-चक्र चलाकर देश में स्मशान शान्ति कर डालते हैं, फिर घोषणा कर डालते हैं कि भारत में सर्वत्र शान्ति है, यह आन्दोलन तो सर्वथा मुट्ठीभर शिक्षितों का आन्दोलन है इत्यादि।

कांग्रेस को स्थापित हुए पचास वर्ष हो गये। इतने बड़े देश के जीवन में इस प्रकार की संस्था को पचास वर्ष हुए तथापि इसको अभी बाल्यकाल ही कह सकते हैं। देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में पचास वर्ष होते ही कितने हैं और वह भी जब कि देश का देश निःशस्त्र कर डाला गया हो, नपुंसक बनाया गया हो, उसका सब कुछ छीना गया हो, फिर उसका आत्म-विश्वास भी जाता रहा हो। इन पचास वर्षों में उसकी नीति में भी बहुत कुछ परिवर्त्तन हुआ। पहले-पहल कांग्रेस का सूत्रपात 'भिक्षां देहि' से हुआ। उस समय 'स्वराज्य ब्रिटिश छत्रछाया में' यह उसका क्रीड था। 'भिक्षां देहि' के पश्चात् कांग्रेस का

सूत्र लोकमान्य तिलक-जैसे तेजस्वी लोगों के हाथों में आया। उस समय 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण करना भी एक साहस का काम समझा जाता था। लोकमान्य द्वारा 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं इसको लेकर ही हटूंगा।' यह महावाक्य प्रस्तुत हुआ। उस समय इस तेजस्वी आन्दोलन के कारण विलायती सरकार का आसन भी डोल गया था। जैसे-तैसे सुधार की पहली किश्त आई। दिवङ्गत लोकमान्य का कार्य-भार महात्मा गान्धी के कन्धे पर आ पड़ा और इनके समय में कांग्रेस का ध्येय और ध्येय-प्राप्ति के उपाय भी बदले गये। महात्मा गान्धी का अहिंसात्मक आन्दोलन कई बार वेग से चला, कई बार दबा और इस समय ऊपर-ऊपर शान्त किन्तु भीतर ही भीतर प्रचण्ड रूप धारण कर रहा है। जैसे नदी का प्रवाह कभी किसी धारा में विशेष रूप से जाता है, कभी किसी धारा में, फिर मुख्य धारा में आ जाता है, यही कांग्रेस के आन्दोलन का हाल है। मैं तो समझता हूँ कि दश वर्ष के पश्चात् एक ज़ोर का झटका लगता चला आ रहा है और प्रत्येक झटके में भारतवर्ष कुछ न कुछ आगे बढ़ता ही चला जा रहा है, कुछ न कुछ शक्ति बढ़ती ही चली जा रही है और जिस गति से यह आन्दोलन चल रहा है उससे अधिक गति की आशा करना मूर्खता ही है। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा ने भारत के भावी आशांकुर नव-युवकों को आत्म-विश्वास-विहीन, प्रत्येक विषय में परमुखापेक्षी बना डाला है, तो भी निराश होने का अवसर नहीं है। अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए क्या-क्या उद्योग किये, कैसे-कैसे कष्ट सहे—ये इतिहास जब हमारे सामने आते हैं तब हम समझते हैं कि भारतवासियों का अब तक का प्रयत्न ऐसा ही है, जैसे—'दरिया में ख़स-ख़स'।

५—हमारी राष्ट्रीय महासभा

हमारी राष्ट्रीय महासभा के जन्म-दिन को ठीक पचास वर्ष होते हैं, इसीलिए आज सर्वत्र अर्थात् केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु भारतीय नाम का प्राणी संसार में जहाँ कहीं भी है, वहीं कांग्रेस स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही है। किसी जाति अथवा राष्ट्र के स्वतन्त्रता के युद्ध में पचास वर्ष कुछ भी नहीं होते। विशेषतः भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के युद्ध में ये पचास वर्ष ऐसे ही हैं जैसे अ—आ—इ—ई का पाठ। जो राष्ट्र बराबर एक सहस्र वर्ष से परचक्र का शिकार रहा हो, जिस राष्ट्र का गत डेढ़ सौ वर्षों में बिलकुल कचूमर निकाल डाला गया हो, उस राष्ट्र की स्वाधीनता के संग्राम में ये पचास वर्ष कुछ भी नहीं। इन पचास वर्षों में ⅔ काल तो 'भिक्षां देहि' की वृत्ति में गया। आख़िर 'भिक्षां देहि' भी कब तक चलती? सूरत में कांग्रेस की सूरत ही बदल गई। इस सूरत को बदलने का श्रेय स्वर्गीय लोकमान्य राष्ट्र-सूत्रधार बाल गङ्गाधर तिलक को देना चाहिए, योगिराज अरविन्द घोष को देना चाहिए, पञ्जाबकेसरी लाला लाजपतराय को देना चाहिए और देना चाहिए लोकमान्य के दक्षिण भुज-स्वरूप स्वर्गीय विपिनचन्द्रपाल को।

उस समय कांग्रेस में दो दल हो गये थे और कांग्रेस श्री फ़ीरोज़शाह मेहता, श्री गोपालकृष्ण गोखले के हाथों में रही और लोकमान्य तिलक का दल सरकारी अत्याचार और वनवास सहने के लिए पृथक् हो गया। लगभग ६-१० वर्ष के पश्चात् जब लोकमान्य माण्डले से वापिस आये तब लखनऊ कांग्रेस में यह दल फ़िर कांग्रेस में आ मिला। लखनऊ की कांग्रेस एक अपूर्व कांग्रेस थी। उसके पश्चात यदि कोई ज़ोरदार कांग्रेस हुई तो वह अमृतसर की कांग्रेस थी। इसी वर्ष अनेक रोमाञ्च-

कारी काण्ड हो गये थे और माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-स्कीम का श्रीगणेश भी इसी वर्ष हुआ था। इसीलिए अमृतसर कांग्रेस को इतना महत्त्व प्राप्त हो गया था। लोकमान्य तिलक की प्रति-सहयोग (रेस्पॉन्सिव को-ऑपरेशन) की बात ने कांग्रेस-सर्किल में बड़ी खलबली मचा दी थी। माण्टेगू को धन्यवाद देने और स्वराज्य की प्रथम किश्त को स्वीकार करने न करने के विषय पर उग्र मत-भेद रहा। एक ओर एनीबेसेण्ट कह रही थीं कि यह स्वराज्य की किश्त क्या है, स्वर्ग-द्वार खुल रहा है। महात्मा गान्धी और महामना मालवीयजी कह रहे थे कि माण्टेगू को धन्यवाद अवश्य देना चाहिए और किश्त को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। लोकमान्य तिलक, श्री चित्तरञ्जनदास, श्री विपिनचन्द्रपाल, श्रीमुहम्मदअली, श्री शौकतअली बड़े आवेश में कहते जाते थे कि यह स्वराज्य की किश्त अत्यन्त निराशाजनक है, स्वीकार करने योग्य नहीं है, किसको धन्यवाद, किस बात के लिए धन्य-वाद और किसीने विशेष बात ऐसी कौनसी की है कि उसको धन्यवाद दिया जाय ? अन्त में लोकमान्य पक्ष की जीत रही, महात्मा गान्धी ने अपनी टोपी लोकमान्य तिलक के पैरों में फेंक दी और स्वराज्य की किश्त के लिए तो नहीं अपितु परिश्रम के लिए माण्टेगू को धन्यवाद दिया गया।

कौन जानता था कि उस समय के उस वृत्ति के महात्मा गान्धी लोकमान्य तिलक के निधन के दूसरे दिन ही कांग्रेस के सूत्र हाथों में पकड़कर अहिंसात्मक असहयोग का शङ्ख फूँकेंगे और लोकमान्य से भी आगे निकल जायँगे ! महात्मा गान्धी के नेतृत्व में तीन वार अहिंसात्मक आन्दोलन बड़ी तेज़ी से उठा और उसने संसार को चकित कर दिया। समस्त संसार के राष्ट्र एक वार ज़ोर से चीख उठे—"किमिदम्, अत्यद्भुतमिदम्, ईदृशं

युद्धं न भूतं न भावीति"—यह क्या, अति अद्भुत् युद्ध है, आज तक ऐसा युद्ध कभी नहीं हुआ और न होगा।

तीन वार ही असहयोग आन्दोलन ज़ोर से उठा, तीन वार ही गोल मेज़ का नाटक भी रचा गया और नौकरशाही ने स्वेच्छानुसार प्रतिनिधि भरकर 'कुछ अब लो, कुछ फिर देंगे' की नीति पकड़ी और अब भारतवर्ष के सामने 'कोरा काग़ज़' आनेवाला है। भारतवर्ष इस कोरे काग़ज़ को लेकर क्या करता? उसने एक स्वर से कहा कि "जनाब, इस कोरे काग़ज़ को शहद लगाकर आप ही चाटिए।" पर,

'कौन सुनता है कहानी मेरी। फिर भी वह ज़ुबानी मेरी॥'—वाला क़िस्सा हो गया है। वे कहते हैं—लेना पड़ेगा। पचास वर्षों में मामला यहाँ तक आ गया है। नौकरशाही ने महाभारत के निम्नलिखित वचन का अनुसरण करके अत्यन्त कूट और कटु नीति का प्रवेश कराया है—

आशां कालवतीं कुर्य्यात् तां विघ्नेन नियोजयेत्।
विघ्नं चापि निमित्तेन निमित्तं चापि हेतुमत्॥
सुपुष्पितः स्यादफलः सफलः स्यादुदारुहः।
अपक्वः पक्वसंकाशः न तु शीर्येत कर्हिचित्॥

इनका अभिप्राय यह है कि पहले तो किसीको किसी प्रकार की आशा ही नहीं दिलानी चाहिए। यदि आशा दिला दी गई हो तो उसमें विघ्न डालकर आशा को लम्बी कर देनी चाहिए। वह विघ्न टल गया तो दूसरा विघ्न डालना चाहिए, उन विघ्नों में भी और निमित्त खड़े करने चाहिएँ—मतलब यह कि जहाँ तक सम्भव हो आशा को पूरा नहीं करना चाहिए। वृक्ष में यदि ख़ूब फूल आये हों तो उसको फलरहित ही रहना चाहिए। यदि फल लग ही जायँ तो इतनी ऊँचाई पर लगें कि तोड़नेवाले के हाथ ही न लगें, यदि लगें तो थोड़े लगें। पहले

तो यही अच्छा कि फल न लगें, लगें तो शीघ्र न पकें, थोड़े-से पके-से भले ही मालूम दें।

वाचकवृन्द स्वयं समझ लेंगे कि किस प्रकार ये वचन वर्त्तमान स्थिति पर अक्षरशः सङ्घटित हो रहे हैं। जब पाण्डव वनवास और अज्ञातवास को समाप्त करके वापिस आ गये और स्वराज्य का भाग माँगने लगे तो सञ्जय नामक सूत पाण्डवों की ओर से दूत बनकर गये थे, तब धृतराष्ट्र के कूटनीतिज्ञ मन्त्री कणिक ने भी धृतराष्ट्र को यही सलाह दी थी। फिर स्वयं कृष्ण भगवान् उस समय की 'राउण्ड टेबिल कॉनफ्रेन्स' में गये थे, पर सुनता कौन? अन्त में युद्ध की ठनी। पाण्डवों को विजय हुई, कौरवों का सर्वनाश हुआ।

लोग कहते हैं, इतिहासज्ञ विद्वान् कहते हैं कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। होनी भी चाहिए। सब समयों में मनुष्यों की एक सी ही दशा रहती है। सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों के पुतले मनुष्य अथवा मनुष्य-समुदाय में स्वार्थ न आये तो ही आश्चर्य! जहाँ स्वार्थ आया वहाँ अन्याय-अत्याचार आते हैं। स्वार्थ सीमित रहे तो कम अनर्थ होते हैं। लक्ष्मी-मद को शायद ही कोई पचा पाता है, लक्ष्मी के उपद्रवों को शायद ही कोई थाम सकता है।

'कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितः?'

आज भारतवर्ष में जिस रूप का राष्ट्रीय भाव जागृत हो रहा है वह यदि सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व रहता तो आज ये दैन्य और दासता के दिन क्यों देखने पड़ते। गौराङ्ग महाप्रभु व्यापारी रूप में आये और धीरे-धीरे यहाँ की स्थिति को समझकर, एक को हाथ में ले दूसरे को मार, एक की पीठ ठोक और दूसरे को पुचकार, इस नीति से भारतवर्ष के स्वामी बन बैठे। इनका कर्त्तव्य था कि जब हमको होश आ गया है और हम अपनी वस्तु सँभालने

योग्य हो रहे हैं, भले मानसों को तरह हमारी वस्तु हमें दे देते। किन्तु हम भूलते हैं। राजनीति में 'धर्म', 'कर्त्तव्य', 'दया', 'न्याय', 'स्वत्त्व' 'जन्मसिद्ध अधिकार' आदि शब्द हास्यास्पद हो गये हैं। ऐसी दशा में यह खेत अपने ही बल-बूते पर काटना पड़ेगा। परमुखापेक्षी बनकर काम न चलेगा। कोई अन्य राष्ट्र आकर आपकी सहायता न करेगा।

कांग्रेस के कारण भारतवर्ष में अपूर्व जागृति हुई है। जनता में निर्भयता और आत्मविश्वास का सञ्चार हो गया है। इसको अत्याचारों से टक्कर लेना आ रहा है। अब तो भारतवर्ष के पास अहिंसात्मक असहयोग, कभी-कभी प्रतिसहयोग आदि के विना और कोई शस्त्र ही शेष नहीं है। पूर्ण स्वराज्य कब मिलेगा और

'हमारी ही जमीं होगी हमारा आसमाँ होगा।'

यह कब होगा, यह कहना कठिन है। तथापि अब यह स्पष्ट है कि अब भारतवासी शासकवर्ग को, नौकरशाही को भी सुख की नींद नहीं सोने देंगे, अपने अधिकारों के लिए बराबर लड़ते रहेंगे, अत्याचारों का प्रतीकार करते रहेंगे, कभी-कभी बुरी तरह कुचले जायँगे, फिर लाशों के ढेरों में से ज़िन्दा खड़े होंगे, फिर लड़ेंगे, फिर मरेंगे, फिर उभरेंगे और एक दिन अपना जन्मसिद्ध अधिकार ले ही लेंगे।

इस कांग्रेस-सुवर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। कांग्रेस ने, प्रचलित अहिंसात्मक असहयोग ने सहस्रों, लक्षों आत्माओं में दिव्य ज्योति का सञ्चार किया है। प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की एकमात्र स्वामिनी इस राष्ट्रीय महासभा की तन-मन-धन से रक्षा करे। यह सुवर्ण-जयन्ती कांग्रेस तथा भारतवर्ष दोनों के लिए अभ्युदयकारिणी सिद्ध हो। एवमस्तु, तथास्तु!